CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिवानन्दलहरी

हिन्दी व्याख्या एवं संस्कृत टीकासहित

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भगवत्पादाचार्यविरचित

शिवानन्दलहरी

हिन्दी अनुवाद तथा संस्कृत टीका समेत

सम्पादक एवं अनुवादक

स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी — २२१०१०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुस्तक - प्राप्ति - स्थान

१. श्री दक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी — २२१०१० ।
२. श्री संन्यास आश्रम, श्रीराम रोड, दिल्ली — ११० ०५४ ।
३. श्री शङ्कर मठ, आबू पर्वत — ३०७ ५०१ ।

प्रथम संस्करण
भगवत्पादाब्द १२०३
वैक्रमाब्द २०४८
ख्रैष्टाब्द १९९१

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य — 40 रु.

मुद्रक : निर्मल चिन्तन, आगरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय - सूची

	पृष्ठ
आचार्यचरण की भूमिका	क — ट
शिवानन्दलहरी हिन्दी व्याख्या	१ — १२५
अवतरणिका	१ — २
विषयविभाजन	३
श्लोकव्याख्यारंभ	४
चित्त स्वभाव से भगवत्स्रवण	६
अनन्यता	८
पशु-पाश	१०
भक्तियोग	१२
पूजाविषयक भ्रम	१४
पूजाविषक भ्रम	१५
भक्ति की सार्वत्रिकता	१६ — २०
रक्षक चुनना	२२
रक्षक पर विश्वास	२५
कार्पण्य	२५
निसर्गजा आदि भक्ति के आठ कारण	२६
आत्मनिक्षेप	२८
अनुकूलता का संकल्प व प्रतिकूलता का त्याग	२९
'मैं उनका ही हूँ'	३१
'वे मेरे ही हैं'	३३
'वह ही मैं हूँ'	३४
भक्तिफल की सान्तता	३६
सालोक्यादि मोक्ष	३७ — ३९
भजनीय दर्णन	४०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमेश्वर का ऐहिक संसर्ग	४१
'नक्षत्रमाला' का समर्पण	४२
शिव का गुरुरूप	४३
ऐश्वर्यशाली महादेव	४४
करुणार्णव पशुपति	४५
विस्मयकारी शंभु	४७
सेवा	४८
वीर संहारक	५०
स्मरणासक्ति	५१
अनन्यभक्ति	५२
श्रवण	५४
रत्यङ्कुर	५६
भक्तिभूमिकायें	५७
कीर्तन	५९
अर्चन	६०
दास्य	६१
सख्य	६२
स्मरण	६४
सेवन और वन्दन	६५
आत्मनिवेदन	६७
भक्ति-सार्थकता	६८
अनुस्मरण	७१
जीवकी अयोग्यता	७३
शिव की रहस्यदर्शकता	७५
भगवन्नृत्य का वातावरण	७६
शिवभक्ति में सर्वाधिकार	७९
हमारा दुर्भाग्य	८१
प्रेमवैविध्य	८२ — ८७
सात्त्विकभाव	८८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति का अतर्क्य रूप	८९
भक्ति का फल	९०
संसार शिवक्रीडा है	९१
भक्ति भी भगवान् के सहारे ही संभव है	९३
स्मरण	९५
जप	९६
कर्तव्य	९८
भक्तिप्राप्य सम्पत्ति	९९
कर्मेन्द्रियों की भगवत्परता	१००
संतोष	१०१
बुद्धिवधू	१०२
सर्वसुलभ शम्भु	१०४
भगवद्धर्मनिष्ठा	१०५
शिवभक्ति की पूज्यता	१०६
महादेव ही सेव्यतम	१०८
शिव-शिवा की सेवा	११०
बुद्धिसमर्पण की श्रेष्ठता	१११
भक्ति का फल भक्ति	११२
भक्त के लिये अपेक्षित योग्यता	११३
मनोभावप्राधान्य	११४
पराभक्ति	११५
अभेद की आवश्यकता	११६
शिवप्रवणचित्त से सदा भजन	११८
भक्त में भगवान्	१२०
स्तोत्र का शिवार्पण	१२२
भक्ति का प्रयोजन शिवज्ञान	१२३
स्तोत्र समापन	१२४
संस्कृतटीका	१ –५२
श्लोकसूची	५३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

भूमिका

हिन्दू धर्म वैदिक काल से ही कर्म, भक्ति व ज्ञान का समन्वय ही स्वीकारता रहा है। मन ही बन्धन व मोक्ष की प्रतीति का स्थल है। पाप रूपी मल, विक्षेप रूपी रागादि व स्वरूप का आवरण ही वे त्रिदोष हैं जो कुपित होकर जीव को बन्धन के सन्निपात में अण्डबण्ड बकवाते रहते हैं व व्यवहार में प्रवृत्त कराते रहते हैं। सत्कर्म से पापमल निवृत्त हो जाता है। भक्ति रागनिवृत्ति कर मुमुक्षा को तीव्र करती है। ज्ञान आवरण को भङ्ग कर स्वरूपाविर्भाव कर देता है जो मोक्ष का ही दूसरा नाम है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कर्म विविदिषा को उत्पन्न करते हैं। भक्तिरूप शान्त्यादि ज्ञानयोग्यता का आपादन कराते हैं। श्रवण व मनन रूपी ज्ञानाभ्यास अपरोक्षानुभव को प्रकट करते हैं। इस प्रकार क्रम से तीनों का अभ्यास जीव को कृतार्थ कर देता है।

मुख्य धारा समन्वयवादी होने पर भी आचार्यों ने अपनी अपनी साधना-पद्धति को प्रधानता देने के लक्ष्य से इनमें से अन्यतम को ही प्रधान माना है। इनमें भी कुछ लोगों ने तो अन्यों को गौण स्वीकारा है और कुछ ने उनकी गौणता भी अस्वीकार कर दी है, मोक्ष के अनधिकारियों के लिये इनका प्रतिपादन मान लिया है। इसीलिये जिस प्रकार वेदव्यास ने पुराणों का प्रकाशन प्रधानरूप से भक्ति के लिये किया, वैसे ही ब्रह्मसूत्रों का ज्ञान के लिये निर्माण किया एवं महाभारत का कर्म के लिये प्रणयन किया। आचार्य शङ्करभगवत्पादों ने भी भाष्यों द्वारा ज्ञान का विस्तार किया तो स्तोत्रसाहित्य द्वारा भक्ति का विकास किया। उनका जीवन तो ज्वलन्त निष्काम कर्मयोग का दर्पण ही है। उनके बाद संभवतः कोई भी संस्कृतज्ञ भक्त ऐसा नहीं हुआ जो उनके प्रभाव से अभिभूत न हुआ हो। जो वैष्णवादि दार्शनिक उनके दर्शनपक्ष को नहीं स्वीकारते वे भी उनके विष्णुसहस्रनामादि-विवरण एवं उनके स्तोत्रों को तो उपजीव्य बनाते ही हैं। उनके स्तोत्र साहित्य का इसीलिये उन्होंने खण्डन भी नहीं किया।

उत्तर भारत विष्णु की अवतार लीला स्थली रही है। अतः हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों को — काश्मीर, कांगड़ा, कूर्माचल, केदार, काष्ठमण्डप, कामरूप आदि को — छोड़ कर यदि तलस्थलों में देखें तो राम व कृष्ण की भक्ति का ही प्रचार प्रधान रहा है। अतः हिन्दीभाषी प्रदेशों की भाषाओं में शिवभक्ति का साहित्य न्यूनतम है। फलस्वरूप भक्ति का तात्पर्य ही वैष्णवभक्ति हो गया। इसी के कारण वैष्णव दार्शनिक पक्ष का भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दी भाषामात्र जानने वालों में प्रभाव बढ़ता गया एवं अद्वैत पक्ष विस्मृति के गर्भ में चला गया। निर्गुण व सगुण दोनों भक्तिमार्ग विशिष्टाद्वैत या भेदाभेद या द्वैत दर्शनों से ही अनुप्राणित रहे। संस्कृतज्ञ तो यहां भी अद्वैत दर्शन के ही अनुयायी बने रहे। पर काशी ही अद्वैत का प्रधान केन्द्र रह पाया। अतः सामान्य जनता ने भक्तिमार्ग व ज्ञानमार्ग दो स्वतन्त्र मार्ग मान लिये एवं प्रथम को वैष्णवमार्ग व द्वितीय को शैवमार्ग भी माना जाने लगा। इसीलिये लोगों में भ्रम फैल गया कि अद्वैतमार्ग शुष्क व भक्तिहीन है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये आचार्य के स्तोत्रों का प्रामाणिक व विस्तृत विवेचन करते हुये अनुवाद आवश्यक हो गया था। स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि अद्वैत के दार्शनिक प्रस्थान के गंभीर अन्वेषक व पाठक रहे हैं। अतः वे इस कार्य के लिये सर्वथा सक्षम हैं एवं हमें बड़ी प्रसन्नता है कि उन्होंने यह कार्य अपने ऊपर लिया एवं स्वल्पकाल में ही सम्यग्रूप से सम्पन्न कर लिया।

शिवानन्दलहरी का भक्तिसाहित्य में विशेष स्थान है। संभवतः यह और स्तुतिकुसुमाञ्जलि शैवभक्तों का सर्वोत्तम पाथेय है। शिवानन्दलहरी में शिवतत्त्व का सभी प्रकार से विस्तृत विवरण आ गया है। सारा भक्तिसाहित्य का दर्शनपक्ष इसमें स्फुट है। स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरिजी की व्याख्या भी संक्षिप्त होते हुये भी इस पर पूर्ण प्रकाश डालती है। अतः इस व्याख्या को हिन्दी स्मार्त्त-भक्ति-प्रकाश या अद्वैतभक्तिसार भी कहा जा सकता है। प्रारंभ में ही विद्वान् व्याख्याता ने भक्ति की साध्यरूपता व साधनरूपता पर प्रकाश डालते हुये इसकी साधनरूपता की ही वैदिकता सिद्ध कर अद्वैत भक्ति को केवल भावमात्र नहीं वरन् भावयुक्त-कर्मपरक सिद्ध किया है। दार्शनिक व धार्मिक मतभेदों के होते हुये भी विश्व के सभी धर्म भक्ति को स्वीकारते हैं। अतः अद्वैतसम्प्रदाय में इसका स्थान निश्चित करना आवश्यक है क्योंकि निर्गुण परमशिवतत्त्व व उसकी प्रत्यगात्मा से अत्यन्ताभिन्नता ही अद्वैत में प्रेम का आधार है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में '*स एवाहम्*' ही सर्वोत्तम भक्ति है जिसको श्रीकृष्ण ज्ञानी भक्त के रूप में बताकर '*ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्*' स्पष्ट करते हैं। अन्य सभी धर्म, चाहे वे भारतीय हों चाहे अभारतीय, भेद को प्रेम के लिये आवश्यक मानते हैं एवं जीव का ईश्वर से भेद या भेदाभेद ही स्वीकारते हैं। अद्वैत का उद्घोष है कि निरपेक्ष निरतिशय प्रेम भेद में कभी संभव नहीं। अत्यन्ताभिन्न ही परमप्रेमास्पद होने के योग्य है। व्याख्याकार ने इसका स्पष्ट विवेचन किया है।

महर्षि रमण शिवानन्दलहरी के बड़े भक्त थे एवं उन्होंने इसके श्लोकों का चयन करके विषयवार सजाया था। स्मृति में रह सके इसके लिये उन्होंने एक पद्य भी रचा था जो निम्नलिखित है :—

अं-भक्-जन-घटो-वक्षः-नर-गुहा-गभी-बटुः।

आद्या दश-शिवानन्दलहरी-श्लोक-सूचिका॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'*अम्*' अर्थात् '*अंकोलम्*' से प्रारंभ होने वाला ६१ वाँ श्लोक। इसमें सदृष्टान्त भक्ति का लक्षण किया है। विद्वान् व्याख्याता ने स्पष्ट किया है कि यह उदात्त स्वरूप है एवं '*हंसः*' (५९) तथा '*रोधः*' (६०) से भी भक्ति का ही वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में प्रेमावरण का वर्णन भी बड़ा हृद्य है। चित्तवृत्ति से इन्द्रियवृत्तियों का संग्रह '*कंचित्कालम्*' में (८१) स्वयं भगवत्पाद शंकर भी करते हैं जिसका निर्देश यहाँ करके, एवं उसकी क्रियात्मकता का निरूपण करके साधकों का उपकार किया है।

'*भक्*' अर्थात् '*भक्तिर्महेशपद*' से प्रारंभ होने वाला ७६ वाँ श्लोक। भक्ति से चित्त आप्लावित होने पर जीवन की सफलता बताकर भक्ति का लक्ष्य बताया है। सन्तोष ही यह सफलता है इसे व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। असन्तुष्ट कभी शिवभक्त नहीं हो सकता क्योंकि असन्तोष का बीज ईश्वर की सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता में सन्देह है। आचार्यपाद '*सर्वज्ञस्य दयाकरस्य*' (३५) कहकर स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं। इसकी व्याख्या में इसे रागानुगा भक्ति बताया गया है जो साक्षिरूप में स्थिति ही है। यहीं (३५ में) व्याख्याता ने स्वरूपप्रतिपादन का समापन माना है जो महर्षि रमण ने स्वीकारा है।

'*जन*' अर्थात् '*जननमृतियुतानाम्*' से प्रारंभ होने वाला ८३ वाँ श्लोक। अनन्त शिव ही भक्ति के विषय हैं अन्य देवता नहीं क्योंकि सान्त अनन्त को नहीं प्राप्त करा सकता। इस प्रकार अनन्तता ही शिवता है। इस बात को व्याख्याता ने बड़े विस्तार से समझाया है। शिवतत्त्व देवता विशेष का नाम नहीं है। भास्करराय के नव कारणों में इसी तत्त्व का कथन है न कि मूर्तिविशेष का। अन्य द्वैतवादी मूर्तिविशेषों को ही प्रधान मानकर तत्त्व को भुलाते हैं। अद्वैती मूर्ति को गौण व जिसकी मूर्त्ति है उस शिव को ही प्रधान मानता है।

'*घटो*' अर्थात् '*घटो वा*' से प्रारंभ होने वाला ६ठा श्लोक। क्या छोड़ने लायक है इसका इसमें प्रतिपादन है। जगत्कारणरूप से शिव का प्रतिपादन शास्त्रों में है। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण ने अपने प्रिय पुत्र को '*यतो वा इमानि भूतानि . . . जातानि*' इत्यादि रूप से ब्रह्म को जन्म स्थिति भंग का हेतु बताया व इसीका विचार रूपी तप करके भृगु ने उसे पा भी लिया। भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में '*जन्माद्यस्य यतः*' के द्वारा ही ब्रह्म का लक्षण करके उसकी जगत्कारणता का ही निरूपण किया। अतः न्याय, पाशुपत, वैष्णवागम, सांख्य, आदि ने इसी पथ का अनुसरण किया। पर उन्होंने आरम्भकारणवाद व परिणामिकारणवाद के द्वारा इसे समझने का यत्न किया। इसीलिये वे सद्धर्म से हट गये। घड़े को मिट्टी का पिण्ड विशेष का, परिणाम या अणुओं से आरंभ मानने पर अभिन्ननिमित्तोपादान रूप विवर्ताधिष्ठान शिव की अनन्यभक्ति असंभव है। इसे सिद्ध करने में वेदोक्ति को भुलाकर अनुमानमात्र का सहारा लेकर '*अचलो वह्निमान् धूमात्*', '*क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्*' रूपी विचार ही करते रहे। इससे तो मोक्ष असंभव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। शंभु ही अधिष्ठान कारण हैं यह श्रुति से जानकर इसके विषय में शङ्कानिवृत्ति के लिये तर्क का उपयोग तो ठीक है। और ऐसा तर्क बृहदारण्यकोपनिषद् के '*मन्तव्यः*' का ही आदेश है। तार्किकशिरोमणि भगवत्पाद शङ्कर इसी प्रकार के तर्कों से सांख्य, सौगत, औलूक्य दर्शनों की असंगति का निरूपण करते हैं। '*दुस्तर्कात्सुविरम्यताम् श्रुतिमतस्तर्कोनुसन्धीयताम्*' से उपदेशपंचक में इसे स्पष्ट करते हैं। इसीलिये व्याख्याता ने स्पष्ट किया है कि अनुभूति के अनुसार ही शब्द को समझना है, शब्दमात्र से सन्तुष्ट नहीं होना है। प्रेम विचार से नहीं होता : अपने से सम्बन्ध समझने पर ही प्रेम स्वभावतः होता है। गौणात्मा व मिथ्यात्मा से भी प्रेम होता है तो मुख्यात्मा से न हो यह असंभव है। अतः विवर्त्तवाद के द्वारा शिव को मुख्यात्मरूप से अपना व जगत् का अधिष्ठानकारण समझने का ही प्रयत्न करना चाहिये जिससे अनन्यभक्ति हो कर भूमा सुख की प्राप्ति हो सके। तर्क प्रेम का कार्य नहीं कर सकता। तर्ककुशलता से सुख नहीं वरन् बौद्धिकश्रम ही हाथ लगता है। जल्प व वितण्डा तो भक्त साधक के लिये सर्वथा हेय है। वाद भी विचार को स्पष्ट करने तक ही सीमित रखना चाहिये। रमण महर्षि स्वयं इसके दृष्टान्त हैं।

'*वक्षः*' अर्थात् '*वक्षस्ताडनमन्तकस्य*' के द्वारा प्रारंभ होने वाला ६४ वाँ श्लोक। मन में तर्क आदि न बस कर शिव बसें तो सभी क्लेश निवृत्त हो जावें। शिव स्वयं कृपा कर बसें तभी यह संभव है। जीव अपने प्रयास से इसे नहीं साध सकता। अतः भक्त प्रेम से उन्हें मनावे कि वे ऐसी कृपा करें क्योंकि घोर कर्मों को करते समय उन्हें भी घोर मन रूपी उपाधि की आवश्यकता है। कठोर स्थानों पर पैर पड़ने के लिये चमड़ा निकृष्ट वस्तु होने पर भी, जूते के काम आता है। इसी प्रकार मेरा मन आपके जूते के काम आ जायेगा व आपके सदा बसने से मैं भी धन्य हो जाऊंगा। यह भावुकतापूर्ण अनुनय किस सहृदय को स्पर्श करके विह्वल नहीं कर देगी? प्रश्न हो सकता है कि कहीं यह जूता उनके पैर को घायल न कर दे। पूर्वश्लोक में उत्तर दे दिया है कि प्रेमपूर्ण जूता जब आपको प्रिय लगता है तो फिर यह प्रश्न कैसे उठेगा? शंकर भगवत्पाद का काव्य शान्तरस में अनुपम है यह निर्विवाद है। ऐसा जूता बन जाने पर वह मन यम की छाती को भी चोटिल कर देगा, अपस्मार को भी दबा देगा, दुर्ग ज्ञान मार्ग में स्वच्छन्द विहार कर लेगा व देवताओं या इन्द्रियों का भी पूज्य बन जायेगा। निम्न होने पर भी उत्कृष्ट बन जायेगा। क्या विरोधाभासालङ्कार है!

'*नर*' अर्थात् '*नरत्वं देवत्वम्*' से प्रारंभ होने वाला १० वाँ श्लोक। प्रेम ही प्रधान है। अन्य परिस्थितियाँ या वर्णाश्रम प्रधान नहीं हैं। '*जिस विधि राखे शंकर उसी विधि रहिये*' का अनुसरण करते हुये सभी अवस्थाओं में शिवचरणानुराग में प्रवृत्ति ही कर्त्तव्य है। मनीषी गिरिजी ने यहाँ देवत्व आदि की व्याख्या छान्दोग्य की प्रजापतिविद्या के भाष्य का अनुसरण करते हुये सर्वथा अद्वैतपरक करके अद्भुत विवेक का परिचय दिया है जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रशंसनीय है। साथ में साधकों को स्मार्त दृष्टि से आगाह भी किया है कि प्रेम कर्त्तव्य का साधक होता है, न कि बाधक। परवर्त्ती वैष्णव भक्तों ने इसे न समझ कर अपना व समाज का — दोनों का अकल्याण ही किया है। शाङ्करसम्प्रदाय की भक्तिधारा इन दोषों से इसीलिये बची रही कि मधुसूदन, अप्पय, नीलकंण्ठ आदि आचार्य साधकों को आगाह करते रहे। गिरिजी ने इधर ध्यान दिलाकर इसी परंपरा को पुष्ट किया है।

'*गुहा*' अर्थात् '*गुहायां गेहे वा*' से प्रारंभ होने वाला १२ वाँ श्लोक। जैसे शरीर से फर्क नहीं पड़ता वैसे ही देश से भी फर्क नहीं पड़ता। सभी देशों में शिवभक्ति की जा सकती है। इतना ही नहीं सभी देशों में करनी ही चाहिये। शिवनिष्ठा ही योग है। तीर्थ भी तीर्थ इसीलिये है कि वहाँ शिवभक्ति के स्पन्दों का निरन्तर प्रवाह होता है। जैसे मनुस्मृति की टीका में कहा गया है कि वैदिक वर्णाश्रम को त्याग देने पर आर्यावर्त्त भी म्लेच्छ देश हो जाता है एवं उसकी स्थापना होने पर म्लेच्छ देश भी पुनः आर्यावर्त्त हो जाता है वैसे ही शिवभक्तिस्पन्दों से रहित तीर्थ भी तीर्थ नहीं रह जाता। आज व्यावहारिक जगत् में भी सिन्धु, वितस्ता, कुभा नदी म्लेच्छ देश बन चुकी हैं एवं हिंगलाज, मूलज्वालामुखी, मूलस्थान आदि तीर्थ नहीं रह गये हैं यह स्पष्ट है। इन्हें पूत किया जाना चाहिये एवं एतदर्थ प्रयत्न भी कर्त्तव्य है। शिव को केन्द्र बनाकर जीना ही सुख है यह शिवभक्तों के जीवन से स्पष्ट है।

'*गभी*' अर्थात् '*गभीरे कासारे*' से प्रारंभ होने वाला ९ वाँ श्लोक। भक्ति में हृदयकमल का दान ही प्रधान है। भक्ति में मानसक्रिया ही प्रधान है, बाह्यक्रिया नहीं। प्रेमपूर्वक आदेशपालन व प्रेमरहित आदेशपालन में जैसे भेद होता है वैसे ही कर्म व भक्ति में समझना चाहिये। हृदयसमर्पण करने में अपने मन की गहराइयों में भी उतरना पड़ता है। मन को विषयों से हटाकर शिवैकतानता रूपी घोर जंगल की एकान्तता भी प्राप्त करनी पड़ती है एवं वहां के काम, क्रोध आदि जंगली जानवरों का भी सामना करना पड़ता है, भक्तिभूमिकाओं के शिखरों पर आरूढ होना पड़ता है। इस प्रकार सभी कठिनाइयों का सामना इस एक कमल के समर्पण में ही सिद्ध हो जाता है अतः घर में ही शहद मिले तो पर्वत पर क्यों जाना की लोकोक्ति यहाँ घट जाती है। पर ऐसी योग्यताप्राप्ति के पूर्व कमलों का चयन तो प्रेमपूर्वक करना ही है। विष्णु की कमल-लीला में भी इसी हृदयकमल को चढ़ाने का माहात्म्य प्रकट किया है। वेदान्तशास्त्र दक्षिणनेत्र में जीव अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की स्थिति मानता है। अतः विष्णु का नेत्र चढ़ाना इसी जीवभाव या हृदयकमल को चढ़ाना है। इसके चढ़ाने से उन्हें सुदर्शन अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति हुई जिससे सारे संसार की रक्षा करने में वे समर्थ हुये। ब्रह्मज्ञानी न दूसरे को उद्वेग देता है, न किसी से उद्वेग प्राप्त करता है। इस प्रकार सारे संसार को उद्वेगशून्य वह अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरफ से बना कर उसकी रक्षा करता है। विष्णु समष्टि जीवभाव को प्रतीत कराते हैं यह तो व्याख्या नें स्पष्ट किया ही गया है (पृ-४)।

'बटु' अर्थात् '*बटुर्वागेहीवा*' से प्रारंभ होने वाला ११ वाँ श्लोक। जिस प्रकार जन्मगत भेदों से भक्ति का अधिकार नहीं रुक सकता उसी प्रकार अपने द्वारा वरण किये जाने वाले आश्रम-भेदों से भी नहीं रुकता। व्याख्या में भक्ति के अधिकार व भक्तकष्टों की निवृत्ति या अनिवृत्ति पर सुन्दर विचार किया गया है। वस्तुतः इन कई श्लोकों का नारदप्रणीत भक्तिसूत्र के '*नास्ति तेपु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादिभेदः*' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भक्ति सभी के अधिकार में है। कर्म में अधिकार का सर्वाधिक विचार है क्योंकि उसमें शरीर प्रधान है। अतः शरीर सम्बन्धी वर्ण, आश्रम, जाति, कुल, रूप आदि सभी प्रधान हो जाते हैं। ज्ञान व भक्ति का सम्बन्ध अन्तःकरण से है। शरीर यहाँ गौण है। अतः शरीर में रहने वाले वर्णादि धर्म भी यहाँ गौण हो जाते हैं। ज्ञान में अत्यन्तवैराग्य जरूरी होता है। अतः परमहंस का ही इसमें प्रधान अधिकार है। यह लिंगधारण से हो या लिंग के अधारण से हो यह विचार दूसरा है। कर्म का पूर्ण संन्यास तो दोनों में है। पर भक्ति में पूर्ण वैराग्य व पूर्ण कर्मत्याग न होने पर भी अधिकार हो जाता है। अतः अन्तःकरण भी थोड़ा वैराग्यवाला हो तो भी काम चल जाता है। अतः यह मानवमात्र के लिये कर्त्तव्य है। ज्ञान में विचारयोग्यता व गुरु की प्राप्ति भी आवश्यक है। अतः ज्ञान के विषय में वेदाधिकार का विचार भी अनेक जगह किया गया है। ज्ञान होने पर मोक्ष अवश्यंभावी है। पर ज्ञानोत्पत्ति के साधनों में विकल्प संभव है। ज्ञानप्राप्ति में सभी की योग्यता तो निर्विवाद है। पर ज्ञानप्राप्ति के साधनों के विषय में मतभेद पूर्वाचार्यों में रहा है। परन्तु भक्ति में ये सभी विचार अनावश्यक हैं। अतः भक्ति द्वारा शिवप्राप्ति कर शिवोपदेश से निर्विशेष अवस्था की प्राप्ति सरल घण्टापथ मानना ही पड़ता है। आवश्यकता इसमें परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा व विषयों के प्रति अत्यन्तासक्ति का अभाव मात्र है। आवश्यकता की पूर्ति शिव करेंगे इस विश्वास के साथ उनकी सर्वथा शरणागति लेना ही यहाँ अधिकारसम्पादन कर देता है।

'*आद्या*' अर्थात् '*आद्या विद्या*' से प्रारंभ होने वाला ९१ वाँ श्लोक। यहाँ भक्ति का फल ज्ञान व मोक्ष बताया है। शिव-भक्ति अज्ञानान्धकार को ज्ञान प्रकाश से नष्ट करके स्वरूप स्थिति रूपी मोक्ष प्रदान कर देती है। यह जीवन्मुक्ति की स्थिति का प्रतिपादन है। इस प्रकार एक दृष्टि से इन दस श्लोकों में सार बताया है।

व्याख्या में हृदय को पिघलाने की आवश्यकता व उसके साधन रूप में सत्पुरुषों की सेवा आदि का प्रतिपादन किया है (पृ.५)। वस्तुस्थिति यह है कि भक्ति हृदय से होती है और ज्ञान प्रज्ञा से। अतः जैसे विचारशक्ति के बिना ज्ञान असंभव है वैसे ही प्रेम करने की शक्ति के बिना भक्ति असंभव है। बहुत से लोग प्रेम करने में असमर्थ होते हैं। अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी व्यक्ति से पहले अपनत्व बना कर प्रेमसामर्थ्य को प्राप्त करना होता है। जैसे न्याय, मीमांसा आदि से विचारसामर्थ्य को प्राप्त करके ही ज्ञान मार्ग में प्रवेश करना होता है, वैसे ही महत्पुरुषों की सेवा से उनके प्रेम को प्राप्त कर अपने में प्रेमानुभूति होने पर ही भक्तिमार्ग में प्रवेश संभव होता है। यद्यपि स्त्री, पुत्र आदि में भी यह प्रेम संभव है, परन्तु वहां आलम्बन के दोष से मोह ही हो पाता है। कहीं कहीं अपवाद हो यह बात दूसरी है। मोह व प्रेम का भेद तो स्पष्ट है। मोह में स्व को क्या मिलेगा यह भाव समाप्त नहीं होता जो प्रेम में सर्वथा नहीं रहता। अतः प्रेम में वनिया-बुद्धि नहीं रह सकती। महत्संग से ही यह संभव है। अतः यहीं से भक्तिसोपानों का प्रारंभ है। ज्ञानमार्ग में विवेक-स्थानीय प्रेममार्ग में महत्संग है। महापुरुषों के न मिल पाने पर यह पनप ही नहीं सकता। नारद ने भी इसे '*अमोघ*' कहा है। इसी से चित्त पिघलता है। पिघले काल में भक्त का चातुर्विध्य (श्लो. ३) संभव है। पर पिघलने पर भी शिव की अन्य विभूतियों के प्रति आदर बना रखना (श्लो.४) यह अद्वैतरस का वैशिष्ट्य है। महापुरुषसंगति के न मिलने पर भी वात्स्यार्चा में तो रत रहे ही क्योंकि यही महत्प्राप्ति का द्वार वन जायेगा (श्लोक ७ व व्याख्या)। यही उनकी दया के प्रति हमें खींचेगा। शिव की अप्रतिहत स्वातंत्र्यशक्ति अवश्य ही कृपा कर गुरु के रूप में दर्शन देगी। इस बारे में व्याख्या विस्तृत व मननीय है (श्लोक. १५)। इन श्लोकों से शरणागति के सभी सोपानों का प्रतिपादन स्वयम्प्रकाशजी की विशेषता है। तदनन्तर श्लोक २४ से सालोक्यादिमुक्तियों का वर्णन शंकरभगवत्पाद करते हैं।

भक्तिसाधना में अनन्यभक्ति ही आदर्श सभी को स्वीकार्य है। अनन्यता के ज्ञान से मोक्ष व अनन्यता को मानने से या अनन्यता की भावना करने से भक्ति होती है। इस भावना का उत्स शिव पर विश्वास एवं प्रेम का सम्बन्ध है। इसमें शिव को एक ऐसा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् दयालु स्वीकारा जाता है जो हमारी प्रार्थना को न केवल सुनता है वरन् उससे प्रभावित भी होता है। वेदान्त की भाषा में इसे मायाधीश कहा जाता है। साधारण विवेकहीन व अज्ञानी भी अपनी नीचता व कमजोरी को समझ कर ईश्वर को अपना अधिपति व सर्वस्व तो मान ही सकता है। कर्मयोग में अपनी इच्छा को सर्वेश्वर के उद्देश्यों से एक करना पड़ता है जो कठिन है। हठयोग में आसन प्राणायाम आदि व अव्यक्त में ध्यान लगाना कठिन है। ज्ञानयोग में काम व कर्म दोनों का स्वरूपतः त्याग और विचार का कठिन साधन है। भक्ति में तो केवल उनपर भरोसा कर अपनी सभी अभिलाषाओं का विषय उन्हें बना देना मात्र है। भक्ति का उद्गम ऋग्वेद के स्तुति व प्रार्थनात्मक मन्त्रों के रहस्यों में छिपा है। मोहन्जोदाडो व हरप्पा में शिवमूर्तियों व शिवलिंगों का पाया जाना तब तक भक्ति के विकास का परिचायक है। उपनिषदों के उपासना भाग में तो '*तज्जलानिति शान्त उपासीत*' आदि वाक्य अद्वैत अनन्योपासना का स्पष्ट उपदेश करते हैं। आगम, पुराण, महाभारत आदि समृद्ध भक्तिग्रन्थ हैं। परमशिव ऐसे अतीत तत्त्व नहीं हैं जो उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक के वासी हों जहां जीवों की प्रार्थना की पहुँच नहीं है, न वे ऐसे असंग हैं कि उससे उनमें करुणा न उपजे। वे तो ऐसे करुणासागर हैं जिनका सहारा भक्त को प्रतिक्षण मिलता रहता है। भक्त ऐसा हो जो शिव से परानुराग निर्हेतुक करे। गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्द्धमान, अविच्छिन्न सूक्ष्मतर अनुभवरूप उसे नारद ने कहा है। शिव की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता व करुणाविग्रहता का प्रेम से निरन्तर स्मरण इसे पुष्ट करता है। साधक को दूसरों से उनके गुणों का वर्णन, ज्ञान एवं सर्वकर्मसमर्पण करते रहना है। पूज्यभावना ही भक्ति का प्राण है। अपने शुद्धतम भाव में ही व्यक्ति का पूज्यतम भाव व प्रियतमभाव बन सकता है। अतः अनन्यता इसका सार है। सन्त पॉल कहते हैं कि 'I and yet not I but Christ liveth in me': 'मैं, पर मैं नहीं वरन् ईसा ही मैं-में जी रहे हैं'। जगद्धर भट्ट कहते हैं कि मैं आपकी स्तुति करता हूँ यही अविद्या है। वस्तुतः आप ही अपनी स्तुति कर रहे हैं। पर ज्ञान व भक्ति में अभेद नहीं है क्योंकि यहाँ मन कर्मेन्द्रिय की तरह स्वतन्त्र है, जब कि ज्ञान में मन ज्ञानेन्द्रिय की तरह शिवतन्त्र होता है। अतः भक्त का कर्तृत्त्व बाधित नहीं होता। इसीलिये उसका आनन्द भी स्फुट है व असफलता का दुःख भी। श्लो. ९१-९२ में आनन्द है तो श्लो. २०, २२ में दुःख भी है। अपनी धन्यता का वर्णन भी श्लो. ९९ में है कि जो शिव ब्रह्मा व विष्णु को भी प्रयत्न करने पर साक्षात्कृत नहीं हुये वे ही मुझे प्रयासरहित होने पर साक्षिरूप से वृत्ति के विषय होकर साक्षात्कृत हो गये। शिव विनयप्रिय हैं व अहङ्कारी को प्रकट नहीं होते।

भक्ति की स्त्रीलिंगता व ज्ञान की नपुंसकलिंगता व धर्म की पुँल्लिंगता सार्थक है। अपनी पुरुषार्थता व इच्छा रूपी स्त्रीरूपता दोनों का परित्याग करने पर ज्ञान होता है। अपनी इच्छा को छोड़ कर अपने प्रयत्न पर जोर देने से धर्म की ईश्वरार्पणता रूपी योग सिद्ध होता है। इच्छा रूपी स्त्रीरूपता विकसित होकर भक्ति का रूप धारण करती है। प्रेम, शरणागति, दया, कोमलता सहज स्त्रीस्वभाव है। विनय, आज्ञापालन, सेवाभाव, आदि उनमें प्रायः होते हैं। इसीलिये रुग्णालय सेविकाएं (nurses) प्रायः स्त्रियाँ होती हैं। आशा, कष्टसहन, आदि के बिना मातृधर्मपालन असंभव होता है। इसीलिये उनमें सर्वस्वसमर्पण का भाव सहज है। प्रेम पाने व प्रेम करने में उनका सारा जीवन धन्य हो उठता है। अतः भक्ति के द्वारा मनुष्य में रहने वाली स्त्रीता पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। धर्म के द्वारा पुरुषता पूर्ण हो जाती है। तभी नपुंसक ज्ञानभाव की पूर्णता संभव होती है। प्रथम दोनों की पूर्णता के बिना एक भाव प्रधान बना रहेगा जो ज्ञानभाव-प्राप्ति में प्रतिरोध करता रहेगा। योग भी पुँल्लिंग है। यह भी धर्मविशेष ही है क्योंकि कर्तृता से ही पुष्ट होता है। इसमें सर्वाधिकार होने से संन्यासी भी इसका अनुष्ठान कर सकता है यह बात दूसरी है। प्रत्येक जीव द्विलिङ्गी है यह तो आधुनिक विज्ञान व युगनद्ध आदि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है ही। दोनों से परे ही शिवतत्त्व है। यद्यपि विश्लेषण के लिये ऐसा भेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना पड़ता है तथापि वास्तविकता में कोई भी साधक सामान्यतः एक प्रकृति का नहीं मिलता अतः कर्म व भक्ति का या योग व भक्ति का अनुष्ठान करते हुये वेदान्तविचार में प्रवृत्ति करते रहना चाहिये जिसमें सभी पथ पुष्ट होते चलें। वेदान्तविचार में जैसे-जैसे प्रौढता आती जायेगी वैसे-वैसे कर्म घटते हुये कर्मसंन्यास की स्थिति बनती जायेगी। अन्ततः केवल तीव्र प्रेम रूपी भक्ति रह जायेगी जो वैराग्य व मुमुक्षा का ही रूप होगा।

भक्ति श्रद्धा पर आधारित है। अतः देवताभक्ति भी स्मार्त्तसम्प्रदाय स्वीकारता है। श्रद्धा को भंग न करके श्रद्धास्पद की वास्तविकता को शिवरूप सिद्ध करने से देवताभक्ति ही शिवभक्ति हो जायेगी। अन्य मत जहाँ एक मूर्ति को तोड़कर अन्य मूर्ति को स्थापित करते हैं, स्मार्त्त उसी मूर्ति को शिवरूप बना देता है। अतः हिन्दू मूर्तिभंजक (iconoclast) नहीं है। जबतक मूर्तिभंजक रहेंगे तब तक धार्मिक असहिष्णुता व धर्मसंघर्ष अवश्यंभावी है चाहे जितना धर्मनिरपेक्षवाद का नारा लगाया जाये। आवश्यकता है कि सभी धर्मों को सहिष्णुता स्वीकारने को बाध्य किया जाये। हिन्दू तो पति व आचार्य को भी देवता मान उसकी पूजा से भी अन्ततः शिवप्राप्ति मानता है यदि उसकी वास्तविक शिवता का पता लग जाये। सीमित प्रेम भी प्रेमाभाव की अपेक्षा वांछनीय है क्योंकि प्रेम के बिना स्वार्थ का सीमित त्याग भी असंभव है। सभी पूज्य उसी पूज्य के अंग होकर ही पूज्य होते हैं। सभी देव महादेव के अंग ही हैं। क्षितिज हमेशा हमारी आंखों की सीध में ही रहता है, हम चाहे जितना ऊपर चले जावें। इसी प्रकार शिवविषयक हमारी प्रज्ञा, हमारी श्रद्धा से ऊर्ध्व नहीं जा सकती। अतः प्रत्येक साधक उसे अपनी कामना से ही समझता है।

'रुजासु नाथः परमं हि भेषजम्, तमः प्रदीपो, विषमेषु संक्रमः।
भयेषु रक्षा, व्यसनेषु बान्धवो, भवत्यगाधे विषयाम्भसि प्लवः' ॥

निम्नतम स्तर में धन, आरोग्य आदि की कामना से हमें वे मृत्युंजय या यक्षरूप से प्रतीत होते हैं। ज्ञानकामना से दक्षिणामूर्त्ति रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार सभी साधक शिवोपासना में प्रवृत्ति कर सकते हैं। पुण्याहवाचन प्रत्येक शुभ कर्म के प्रारंभ में किया जाता है। श्लो. ३६ में इसी को शिवभक्ति का रूपक देकर स्पष्ट किया है कि सभी कर्म इसी प्रकार समझे जा सकते हैं। पुण्याहवाचन को छोड़ना नहीं वरन् उक्त भावना के साथ करना है।

श्रवणभक्ति का निरूपण श्लो. ३७ की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। श्लो. ४७ तक नवधा भक्ति व फल का विस्तृत प्रतिपादन है। आचार्य शंकर के जीवन में मल्लिकार्जुन का विशेष माहात्म्य रहा है। अन्यत्र भी

'सिद्धिं तथाविषमनोविलयां समाधौ श्रीशैलशृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये।
गात्रं यदा मम लताः परिवेष्टयन्ति कर्णे यदा विरचयन्ति खगाश्च नीडान्' (शृंगेरी शांकरग्रंथावली खण्ड ११ पृ. ४२८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कह कर साधकभाव में स्थित होकर यहीं निर्विकल्प समाधि को साधा इसका यहाँ सङ्केत है। आज भी मल्लिकार्जुन का वातावरण महाशान्त है एवं स्पन्दों से पूर्ण है। नागार्जुन व पाशुपतलकुलीश आदि ने भी यहाँ सिद्धि प्राप्त की थी एवं वीरशैवों का यह सदा ही मुख्य केन्द्र रहा है। इस प्रकार यह साधना का तीर्थ है। इस ग्रंथ में भी *'श्रीशैलवासी प्रभुः'* का स्मरण कर अपने प्रिय तीर्थ का निर्देश करते हैं। सर्वत्र शिवानुभूति होने पर भी जिस केन्द्र से प्रथमानुभूति होती है उसका आकर्षण बना ही रहता है। महर्षि रमण अरुणाचल के प्रति सदा आकृष्ट थे तो परमहंस रामकृष्ण दक्षिणेश्वरकाली के प्रति। यही कारण है कि ज्ञान होने पर भी अपने गुरु एवं वेदान्तशास्त्र के प्रति अत्यन्त आकर्षण बना रहता है। इनके प्रति उपेक्षा कभी संभव नहीं हो सकती। इसी प्रसंग में मेघ, मयूर, खेत आदि उपमाओं से शिव को निर्दिष्ट किया है। मोर के गुह्यांग की विशेषता का निरूपण व्याख्याता की अद्भुत कल्पनाशक्ति का परिचायक है। इसी प्रसंग में जो भक्ति को योग से असम्बद्ध बताते हैं उनका भी निवारण कर दिया गया है। वस्तुतस्तु योग के ईश्वरप्रणिधान का विस्तार ही भक्ति है। श्लो. ५७ की व्याख्या में संक्षेप में भक्तिधर्मों का पूरा निरूपण भक्त साधकों को आह्लाद प्रदान करेगा यह निःसन्दिग्ध है।

शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति ही वेदान्त में माया या अविद्या कही जाती है। स्वतंत्रता का अर्थ ही होता है कारणरहितता या अन्य से अजन्यता। माया अनादि है, परन्तु शिवाधीन सत्ता वाली होने से स्वतः स्वतन्त्र नहीं। शिवज्ञान से यह शक्ति नष्ट हो जाती है। शिव ही अपने को प्रकट करके फिर अपने में परिपूर्ण अनन्तरूप से स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार भौतिक-शक्तिशास्त्र (Physics) में अव्यक्तशक्ति (Potential) व्यक्तशक्ति (Kinetic) होकर निर्वाण को प्राप्त कर जाती है, पुनः कार्योत्पन्न करने में असमर्थ हो जाती है, एवं चूँकि कार्य से ही शक्ति का अनुमान होता है अतः कार्याभाव में उसे निःसत्त्व ही मानना पड़ता है; उसी प्रकार शिव की शक्ति भी निःसत्त्व हो जाती है। भौतिकशास्त्री शक्तिमान् को स्वीकार नहीं करता अतः वह निःसत्त्वता का निरूपण नहीं कर पाता यह विचार अलग है। किंच यहाँ शक्ति का रूप शिव की अज्ञातता ही है। अतः शिव की ज्ञातता ही इसका व्यक्तीकरण है। शिवसाक्षात्कार से ही यह शक्ति समाप्त होती है अन्यथा नहीं। जिस प्रकार रस्सी में यह शक्ति है कि मन्द प्रकाश में सर्प, जलधारादि अनेक रूपों में प्रकट हो, यह शक्ति तभी समाप्त होती है जब तीव्र प्रकाश में रस्सी का ज्ञान हो जाये, इसी प्रकार शिव की माया अनन्त देश, अनन्त काल व अनन्त वस्तुओं के रूप में प्रकट होती रहेगी जब तक शिवज्ञान न हो जाये। अपने आप कार्य करके समाप्त नहीं होती अतः अनन्त कही जाती है। निष्प्रयोजन ही यह क्रीडा है क्योंकि शिव विमर्श काल में भी परिपूर्ण अनन्तप्रकाश रूप ही बना रहता है। इस क्रीडा में सहयोग ही भक्त करता है। विना जानकर बन्ध काल में व समझकर भक्तिकाल में करता है बस यही भेद है। ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर तो साक्षिभाव में स्थित होकर सहयोग भी केवल प्रकाशमात्र रूप से रह जाता है, क्योंकि मायिक अनात्मा शरीर मन आदि जो क्रीडा करते हैं उनमें तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव से कर्त्तृत्व भोक्तृत्व भी नहीं पैदा हो पाता। अतः श्री कृष्ण की तरह '*तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्*' वह अपने को सहयोगी नहीं समझता।

ईसाईयों की साधना की कालरात्रि (Dark night of the Soul) का वर्णन अति उत्कृष्ट रूप से आचार्य ने विरहिणी वधू कहकर कर दिया है। प्रथम दर्शन के बाद जब शिव अन्तर्धान हो जाते हैं तो जो तड़पन पैदा होती है वह असह्य होती है। बार-बार मन में शंका उठती है कि मेरी ही किसी भूल से ऐसा हुआ होगा। आत्मविश्लेषण की तरफ ध्यान केन्द्रित होता है और सूरदास तक कह उठते हैं '*मो सम कौन कुटिल खल कामी*'। पर इस ताप में तपकर बुद्धि सर्वथा शुद्ध हो जाती है एवं महादेव का अवतरण होने के योग्य बन जाती है। जब तक शिव पहले कृपा कर दर्शन नहीं देते तब तक यह तड़पन पैदा नहीं होती, अतः यह कृपासाध्य है। यह होने पर '*बुद्धिकन्यां प्रदास्ये*' जो आपकी व पार्वती की सेवा करेगी। पार्वती मायारूप होने से धर्म का चिन्तन व प्रतिपादन, एवं शिव ब्रह्मरूप होने से ज्ञान का प्रचार करना ही बुद्धि की सेवा है। इस लोकसंग्रह के सिवाय और कोई लोकसंग्रह साधारण साधकों के लिये असंभव है। वह तो ब्रह्मा, विष्णु, वसिष्ठ आदि आधिकारिक पुरुषों के लिये ही संभव हो सकता है। श्लो. ८६ से ८८ तक इसे बताया है। अतः शिवचरित्रवर्णन रूपी पराभक्ति ही हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रकार यह अनुपम ग्रन्थ भक्ति का पूर्ण वर्णन करता है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि स्वामीजी की यह व्याख्या शैवों को अतिप्रिय होगी व अद्वैत भक्ति के विस्तार में महत्वपूर्ण भाग अदा करेगी। आशा है स्वामीजी अन्य ग्रंथों के द्वारा भी हिन्दी पाठकों का उपकार करेंगे।

शिवानन्दलहरी पर बहुत अन्वेषण करने पर भी केवल एक संस्कृत टीका मिल पाई है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। टीका खास प्रौढ विचारों से पूर्ण नहीं है, फिर भी अप्रकाशित न रह जाये एवं संस्कृतज्ञों का कुछ उपकार मूलार्थ को अवगत कराने में करेगी ही, अतः परिशिष्ट रूप से उसे भी प्रकाशित किया जा रहा है।

शंकरमठ, आबू पर्वत — भगवत्पादीय

अधिक वैशाख शुक्ल दशमी २०४८ वि. — *महेशानन्द गिरि*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्रीमद्भगवत्पादशङ्कराचार्यकृता

शिवानन्दलहरी

अनुत्तराशाभिमुखं कृपार्णवं प्रणम्य शंभुं भगवत्पदं परम् ।

महेशपूर्वं सुखशैलमात्मनो गुरुं सुधाविप्रुडथोच्यते मुदा ॥

गुरूक्तिमनुसृत्यापि गच्छतः स्खलनं मम । भवेत्तदपि सोढव्यं शिवार्भकवचो यथा ॥

अन्योक्तालोचनं भक्त्या कुर्वतो मे न दोषिता । पण्डितोऽपण्डितो वाऽपि सर्वो ब्रूते यथामति ॥

महादेवकृता व्याख्या सरलाप्याश्रिता मया । तुष्यत्वनेन भगवान् देशिकेन्द्रो हृदि श्रितः ॥

'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि' (कै. १.२), 'यस्य देवे परा भक्तिः' (श्वे. ६.२३) आदि श्रौत उद्घोषों के आधार पर मुखरदक्षिणामूर्ति भगवान् भाष्यकार आचार्य श्रीशंकर ने परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये परमेश्वर-भक्ति के अनुष्ठान का विधान किया है । आनन्दगिरि स्वामी गीताटीका में इस रहस्य को सोदाहरण वताते हैं : *'यथा व्यापकमपि सावित्रं तेजः स्वच्छे दर्पणादौ प्रतिफलति, तथा परमेश्वरोऽवर्जनीयतया भक्तिनिरस्तसमस्तकलुषेषु पुरुषेषु संनिधत्ते' (९.२९)* । स्वयं आचार्य ने वाक्यभाष्य में उपासना की विधेयता कही है : *'सगुणोपासनार्थो वा, ... तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यम्' (केन. खण्ड २)* । यद्यपि

'द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।

सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते' ॥ (भक्तिरसायन पृ. ३०) इत्यादि सारस्वतवचन से द्रवीभूत मन की भगवद्विषयक अविच्छिन्न वृत्ति भक्ति है तथा *'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (नारद २), 'परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य. २)* आदि अभियुक्तों के अनुसार निरवच्छिन्न प्रेम भगवद्विषयक हो तो भक्ति कहाता है व आनन्दगिरि स्वामी भी गीताटीका में *'भक्त्या परेण प्रेम्णा' (९.१४), 'भक्तिः शरणबुद्ध्या प्रीतिः ' (४.३), 'भजनं परमप्रेमा ' (१४.२६)* आदि से इसे स्पष्ट करते हैं, तथापि भगवत्पादीय मत में भक्ति मनोवृत्तिमात्र नहीं, उसका अभिव्यंजन भी है, जैसा कि बार-बार *' भजनं भक्तिः' (८.१०, १३.१०, १४.२६ आदि), 'भजते सेवते' (६.४७), ' भक्तिं मयि परां कृत्वा — भगवतः परमगुरोः शुश्रूषा मया क्रियते — इत्येवं कृत्वा' (१८.६८)* आदि गीताभाष्य-वचनों से स्पष्ट है । इस अभिव्यक्ति में स्वाभाविक प्रेम का होना उनकी दृष्टि से अनिवार्य है : *' ये भजन्ति तु मामीश्वरं भक्त्या मयि ते स्वभावत एव, न मम रागनिमित्तं मयि वर्तन्ते' (गी. भा. ९.२९)* । एवं च पूर्वोक्त लक्षण से उपेत अभिव्यक्ति भक्ति समझनी चाहिये । इस विभेद का कारण भी है । अन्य परम्पराएँ भक्ति को साध्यरूप — परमपुमर्थरूप— मानकर प्रवृत्त होती हैं, जबकि औपनिषद दर्शन में वह साध्य के लाभ का प्रशस्त उपाय है । अतः सत्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान आदि की तरह भक्ति या प्रेम परमात्मा का स्वरूप ही है, वृत्ति में उसकी अभिव्यक्तिमात्र होने से वृत्ति में ज्ञान की तरह भक्ति का उपचार होता है, यह यदि आनन्द का ही नामान्तर भक्ति या प्रेम है तब तो ठीक है पर यदि इससे विलक्षण स्वरूप है तो प्रमाणसापेक्ष जान पड़ता है। *'अस्ति भाति प्रियं रूपं _आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपम् '* आदि दृग्दृश्यविवेक में प्रियशब्द से आनन्द कहा ही गया है । एवं 'प्रेमावरण' भी अनानन्दापादक का दूसरा नाम ही प्रतीत होता है । इसी दृष्टि से प्रेम की परमा काष्ठा अखण्ड प्रेम जिससे ब्रह्मरूप परम रस व्यक्त होता है, वह परम रस - परम प्रेम - भक्ति है इत्यादि भक्तिव्याख्यान की संगति लग जाती है । आचार्य बादरायण भी भक्ति की द्वैतनिवृत्तिरूप परायणता स्वीकारते हैं यह आचार्य शाण्डिल्य ने सूचित किया है *'आत्मैकपरां बादरायणः' (शां. भ. ३०)*। इस अद्वैतनिष्ठा में पर्यवसित होने वाली सक्रिय प्रेमरूप भक्ति मुमुक्षुओं द्वारा सेव्य है । इसीलिये स्मार्तपरम्पराओं में विकसित भक्ति वैष्णवादि मान्यताओं से कुछ हट कर है । *'न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः' (नारद २२)* इस श्रीनारद-वचन की सार्थकता जैसे स्मार्तभक्ति में है वैसे वैष्णवादि भक्ति में नहीं यह सुविदित है । महत्ता प्रेम में आड़े आती है यह लौकिक रीति होने पर भी परमेश्वर से प्रेम में इसे स्थान नहीं (द्र. शिवानन्दलहरी ३५) । स्वयं परमेश्वर का बालक हो वात्सल्यपरिपाक स्मार्तों को इष्ट है, परमेश्वर को 'छाछियाभर छाछ पर नाच नचाना' नहीं । साथ ही शास्त्रीय आचारों का अनुसरण कर्तव्य कोटि में माना गया है: *' तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां तेनेशस्य विधीयतामपचितिः' (सा. पं. १), 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्' (अपरो. ३), 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (गी. १८. ४६)* आदि वचन इसमें प्रमाण हैं । एवं च व्यावहारिकता को दृष्टिगोचर रख भक्तिस्वरुप विज्ञेय है । व्यावहारिक होने से भक्ति का क्षेत्र अपारमार्थिक है इसमें सन्देह नहीं । कुछ विचारक मिथ्यात्व और रति का विरोध बताते हैं पर हम सभी को विषयरति अनवरत अनुभूयमान है जो इस बात को झुठला देती है । जैसे मिथ्यात्व ज्ञान अन्य व्यवहारों को नहीं रोकता वैसे ही भक्ति को भी । अत एव नाम, धाम, देहादि को नित्य मानकर *'नेह नाना'* आदि श्रुतियों को अदिव्यभेदनिवर्तक मानना और दिव्य भेद की कल्पना करना कहाँ तक संगत है यह विचारणीय है । *'उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुद्ध्यते...... उपाधिविशेषसम्बन्धात् प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः' (ब्र. सू. भा. १.१.२४), 'अत्यल्पमिदमुच्यते; जाग्रद्विषया अपि ... सत्या एव भवन्ति' (छा. भा. ८.५.४)* आदि भाष्यसन्दर्भों से तथाकथित दिव्य धाम आदि व्यावहारिक ही सिद्ध होते हैं । ज्ञान, आनन्द आदि तो ब्रह्म से अपृथक् हैं, पृथक् की तरह तो केवल प्रतीत होते हैं, यदि ऐसे ही धाम आदि हैं तो दिव्य आदि विशेषण व्यर्थ है । एवमेव संक्षेपशारीरक की रीति से सत्य आदि की तरह धाम आदि को विशिष्ट में रूढ मान कर लौकिकांश त्याग से अभिव्यंग्य दिव्यतत्त्व की धामरूपता आदि की स्वीकृति का कोई दार्शनिक लाभ नहीं है । हाँ, यदि धामशब्द में रुचिविशेष हो और उससे सच्चिदानन्द परमात्मा को कहा जा रहा हो तब इष्ट ही है ।

इन सब विषयों को स्पष्ट करते हुए साम्ब सदाशिव की भक्ति में प्रेरित करते हुए भगवान् भगवत्पाद ने स्तोत्रग्रन्थों का निर्माण किया । स्तोत्रों में प्रधान विषय भक्ति है । यद्यपि रहस्यात्मक निरूपण से आध्यात्मिक पारमार्थिक सन्देश दिया जाना आवश्यक है और आचार्य के स्तोत्रों में औपनिषदपदार्थप्रतिपादन सुलक्ष्य है तथापि स्तोत्रप्रवृत्ति भक्तिमूलक है इसमें सन्देह नहीं । अतः भक्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के मान्य अंग आदि का वर्णन मुख्य और तात्त्विक निरूपण ध्वनि से किया मानना चाहिये । ध्वनि की भी मुख्यता ध्वनिकार आदि ने मानी ही है अतः सहृदयों को वही अर्थ प्रमुख लगे तो भी हानि नहीं । इन स्तोत्रों की आचार्यकर्तृकता में कुछ विचारक सन्दिग्ध हैं किन्तु तावता इनकी उपयोगिता में कमी नहीं आती । अतः इसमें कोई आग्रह नहीं कि इन्हें भाष्यकारकृत ही मानें, पर इनका अर्थ भाष्य-अविरुद्ध ही समझना उचित है । निश्चित से अनिश्चित का निर्धारण करना मीमांसा व युक्ति को मान्य है । श्री भगवत्पादीय दर्शन भाष्यों में यथावत् प्रकट है इसमें कोई सन्देह नहीं । उन निश्चित सिद्धान्तों का विरोध यदि इन स्तोत्र आदि में मिले तो स्तोत्र आदि की व्याख्या उन सिद्धान्तों के अनुसार समझनी चाहिये । व्यवहारभूमि में श्रौत-स्मार्त परम्पराओं को निभाना शंकराचार्य को स्वीकृत है । उन्हीं आधारों पर स्तोत्र आदि में साधनोपदेश है । अर्थवाद आदि का प्रयोग प्रेरणा के लिये यथायोग्य किया है । उनमें अतीव आग्रह न करने की हिदायत तन्त्रवार्तिककारने दी है जिसे हमेशा याद रखना चाहिये । इन स्तोत्रों में अन्यतम है 'शिवानन्दलहरी' । द्वितीय श्लोक में इसका नामनिर्देश है । सौ श्लोकों की इस लहरी में मनोरम रीति से भगवत्तत्त्व का परिचय और परिचर्या की प्रेरणा दी है । '*नतिः*' से उपक्रम कर '*कथं वेद्यः*' में उपसंहार कर आचार्य ने अपनी दृष्टि स्पष्ट कर दी है । यद्यपि विषय सङ्कीर्ण है तथापि छब्बीसवें श्लोकतक मुख्यतः साधक की स्थिति वर्णित है, तदनन्दर पैंतीसवें तक भगवान् का प्रधानतः वर्णन है व उसके बाद इनके सम्बन्ध का, भक्ति का। सैंतालीसवें श्लोक से बगीचा, लता, जननी, धेनु, रस्सी, अभ्रपंक्ति आदि रूपकों द्वारा भक्ति को समझाया है । उनसठ से इकसठ तक के श्लोकों में नाना दृष्टान्तों से भक्ति का स्वरूप लक्षित किया है । भगवान् को सूर्य, किला-प्रिय, घोंसला, भ्रमर आदि के रूप में वर्णित किया है । मन के लिये चालीस से अधिक उपमायें हैं, कुछ जड जगत् से जैसे सरोवर, कुछ पक्षीजगत् से जैसे हंस, कुछ पशुजगत् से जैसे घोड़ा व कुछ मनुष्य जगत् से जैसे चोर (क्रमशः श्लो. २, ४८, ७५, २२) । इस स्थूल विभाजन के रहते भी प्रायः समस्त स्तोत्र में भक्ति के किसी आयाम को, किसी कोण या वैशिष्ट्य को बताया ही गया है । '*भक्तेषु*' से अधिकारी, '*आनन्दस्फुरदनुभवाभ्याम्*' से प्रयोजन, '*शिवाभ्याम्*' से विषय और '*नतिः*' से सम्बन्ध बताते हुए यह प्रथम श्लोक है—

कलाभ्यां चूडालङ्कृतशशिकलाभ्यां निजतपः -
फलाभ्यां भक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां भवतु मे ।
शिवाभ्यामस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्यां हृदि पुन -
र्भवाभ्यामानन्दस्फुरदनुभवाभ्यां नतिरियम् ॥१॥

कलाभ्याम् = समस्त कलाओं के साररूप, **चूडालङ्कृतशशिकलाभ्याम्** = चन्द्रकला से अलंकृत मस्तकवाले, **निजतपःफलाभ्याम्** = एक दूसरे के तप के फलरूप, **भक्तेषु** = भक्तों पर (कृपा कर), **प्रकटितफलाभ्याम्** = फल देने वाले, **अस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्याम्** = समस्त त्रिभुवन का कल्याण करने वाले, **आनन्दस्फुरदनुभवाभ्याम्** = आनन्द के प्रकट अनुभवरूप, **पुनः** = तथा, **हृदि** = हृदय में, **भवाभ्याम्** = होने वाले, **शिवाभ्याम्** = शिव-शिवा के लिये, **मे** = मेरी, **इयम्** = यह, **नतिः** = प्रणति (प्रणाम), **भवतु** = हो ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

*'ईशान'*आदि श्रुतियों के आधार पर भगवान् शंकर की ईश्वरता स्मार्तों को इष्ट है । यद्यपि विष्णु आदि की अनीश्वरता की कल्पना भी नहीं,— *' नास्माकं तत्र वादः प्रभवति किमपि स्पष्टमद्वैतभाजाम्'*— तथापि *' विष्णुर्व्यापकजीवस्वरूपम् '* आदि व्याख्या से चन्द्रिकाचार्यादि ने ईश्वर शब्द के कोशप्रसिद्ध अर्थ में ही रुचि व्यक्त की प्रतीत होती है ।अतः *' भगवतोऽन्यत्र पृथङ्न कदाचिदपि या भवति सा त्वनन्या भक्तिः' (गी. भा. ११.५४)*आदि स्ववचनानुसार परमेश्वर को इस श्लोक द्वारा नमस्कार किया है । कूर्म पुराण में (८.८९) वचन है

'त्रिविधां भावनां ब्रह्मन् प्रोच्यमानां निबोध मे । एका मद्विषाय तत्र द्वितीयाऽव्यक्तसंश्रया ।

अन्या तु सगुणा ब्राह्मी विज्ञेया त्रिगुणातिगा ॥'

इनमें अन्तिम श्रेष्ठ होने पर भी कठिन होने से यथाक्रम पूर्व भावनाएँ अनुष्ठेय हैं । अव्यक्त से चिच्छक्ति समझनी चाहिये । *' शिवाभ्याम्'* शब्द में शिव-शिवा दोनों का समावेश है । किन्तु शिवा का शिव के अन्तर्भूत होना *'पुमान् स्त्रिया' (१.२.६७)* इस पाणिनिवचनानुसार स्फुट है । एवमपि उपासक शिवा का अनुभव कर रहा है यह *' भ्याम् '* इस द्विवचन से स्पष्ट है । इस प्रकार उपास्य ब्रह्म का स्वरूप सूचित किया । साथ ही भक्ति का परमविरहरूप भी दिखाया है । संयोगकालीन विरह परमविरह बताया गया है । संयोग सत्य व वियोग कल्पित होता है । यहां प्रकृतिभाग से संयोग और प्रत्ययभागसे वियोग वताया है । शिव-शिवा से तीव्रतर पारस्परिक प्रेम और किसका हो सकता है ? वही प्रेम भक्ति का घटक है । इसी भक्ति से प्रेरित हो गौरी शिव-परिचर्या करेंगी (श्लो. ८४) । उमा से आश्लिष्ट होते हुए (२५), शिवा से आलिंगित होते हुए (५०) भी शिव भ्रमराम्बिका के अधिपति ही हैं (५१) । ईक्षणादि शिव का तप है । वेदान्त में ईश्वर सांख्यपुरुष की तरह लंगड़ा आदि नहीं है अत एव *' ईक्षतेर्नाशब्दम् ' (१.१.५)* आदि अधिकरण संगत है । उस तप से ही शिवा का शिवसम्बन्ध प्रकट होता है । शिवा तो नित्यशरणागत होने से सदा तपस्विनी है ही । अतः ये एक दूसरे के तप के फलरूप हैं । सतीदाह के बाद भगवान् ने व युवावस्था में भगवती पार्वती ने तप किया यह तो प्रसिद्ध ही है । *' फलमत उपपत्तेः ' (ब्र. सू. ३.२.३८)* आदि के आधार पर ईश्वरेच्छा से अतिरिक्त अपूर्वादि को फलप्रद मानने का आचार्य ने निषेध किया है । उसी फलप्रदाता को नमस्कार का विषय बताकर शास्त्रप्रसिद्धि का स्मरण दिलाया है । हृदयस्थता से परोक्षता की निवृत्ति है । 'यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरे हृदय में जो है वह आप ही हैं, तथापि इस तथ्य का स्फुरण मुझे नहीं अतः उसके लिये मैं नमस्कार कर रहा हूं' यह भाव है । वाक्यालंकार प्रयोजन वाले शब्दों का अनुवाद भी वैसा किया है कि अनुवाद में भी वही प्रयोजन सिद्ध हो अतः उन शब्दों को कोशोक्त पदों से ही अनूदित नहीं किया गया है ॥१ ॥

'नमन से सन्तोष नहीं होता क्योंकि आप मेरे अन्तरंग हैं (श्लो. ३५) और आपका आनन्दस्वरूप मुझ में उफन रहा है । बाढ़ की तरह वह आनन्द रोके नहीं रुकता । इसलिये निरन्तर मुझमें रहने वाला भगवत्प्रेम ही इस स्तोत्ररूप में प्रकट हो रहा है' — इस तात्पर्य से कथाश्रवणश्रद्धादि भक्तियोग, उससे पापनिवृत्ति और फलतः तापशान्ति बताते हुए स्तोत्र का नामकरण करते हैं —

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

गलन्ती शंभो त्वच्चरितसरितः किल्बिषरजो
दलन्ती धीकुल्यासरणिषु पतन्ती विजयताम् ।
दिशन्ती संसारभ्रमणपरितापोपशमनं
वसन्ती मच्चेतोह्रदभुवि शिवानन्दलहरी ॥२॥

शम्भो = हे शम्भो !, त्वच्चरितसरितः = आपकी लीलाकथा रूप नदी से, गलन्ती = बहती हुई, किल्बिषरजः = पाप-धूलि को, दलन्ती = नष्ट करती हुई, धीकुल्यासरणिषु = बुद्धिरूप नाली के मार्गों में, पतन्ती = पड़ती हुई, संसारभ्रमणपरितापोपशमनम् = संसार में भ्रमणरूप परिताप के उपशम के उपाय को, दिशन्ती = बताती हुई, मच्चेतोह्रदभुवि = मेरे मनरूप सरोवर की भूमि में, वसन्ती = रहती हुई, शिवानन्दलहरी = शिवरूप आनन्द की लहरी (बाढ़), विजयताम् = सर्वोत्कर्ष पाये ।

उद्धव को भक्तियोग (देखिये श्लो. ७) बताते हुए (उद्ध. गी. १४.२०) '*श्रद्धाऽमृतकथायां मे*' से प्रारंभ किया है । भगवच्चिन्तनार्थ लीलाश्रवण परम आवश्यक है । भागवत में अन्यत्र (३.२९.११) भी कहा है :

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्' ॥

चित्त को लाख (लाक्षा) जैसा बताया गया है, जिसे पिघला कर तो चाहे जिस रंग में रंग सकते हैं, विना पिघलाये कुछ नहीं कर सकते । काम, क्रोध, स्नेह आदि वे अग्नियाँ हैं जो इसे पिघलाती हैं । इन्हें उद्दीप्त करने के लिए कथाश्रवण, लीलादर्शन आदि उपाय हैं । चरितनदी की एक आनन्दात्मक लहर भक्त के चित्त को भर देती है । पत्थर जैसे मन वालों पर कुसुमांजलि में उदयनाचार्य शोक प्रकट करते हैं । कारण यही है कि '*कठिनी शिथिला वा धीर्न गृह्णाति न वास्यते'(भक्तिर. पृ. ६१)*—कठोर, बिना पिघली, बुद्धि तो भगवदाकार ग्रहण ही नहीं करती और शिथिल, हलकी पिघली, बुद्धि तत्काल ग्रहण करने पर भी धारण नहीं करती । अतः '*काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे'(भक्तिर. पृ. ६४)* ।'*संगात्संजायते कामः*' नियम से भगवत्संग से भगवत्काम होना आवश्यक है । '*अभ्यासाद्रमते यत्र' (गी. १८.३६)* से भी बताया है कि अभ्यास से— पुनः पुनः करने से — अभ्यस्त विषय में रमण होता है । अतः महात्माओं की सेवा कर उनकी दया पाकर उनके धर्मों में श्रद्धा पूर्वक हरगुणश्रवण करना चाहिये, यह तात्पर्य है ।

'प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः ।श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥'

आदि द्वारा प्रथम स्कन्ध (भा. १.५. २३ आदि) में नारदजी ने इन भक्तिभूमिकाओं का उपदेश दिया है (द्र. श्लो. ३९) ।'*वसन्ती*' से यह बताया कि चित्त की स्वाभाविक रति परमेश्वर में सदा विद्यमान है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किल्बिष (पाप) के कारण वह विषयासक्त होता है, पाप निवृत्त हो जाने से परमेश्वर के प्रति प्रेम प्रकट हो जाता है । जैसे जीव की शिवरूपता स्वाभाविक है, अज्ञानसे उत्पन्न भेददृष्टि की निवृत्ति ही साध्य है, स्वरूप नित्य शिव है, यह शांकर सिद्धान्त है, वैसे ही यह भी समझना चाहिये । आचार्य मधुसूदन ने इसे व्यक्त किया है —

'*भगवदाकारता तु चित्तस्य स्वाभाविकी.... शास्त्रस्य....उपयोगः.... अन्याकारताविरोधिभगवदाकारतासम्पादने । या हि स्वाभाविकी भगवदाकारता चित्तस्य सा विषयाकारतासहचरितत्त्वात् तत्साधकत्त्वाच्च न तद्विरोधिनी*' (*भक्तिर. पृ. ६६-६७*) ।

जैसे स्वरूपज्ञान अज्ञानविरोधी नहीं, वृत्तिज्ञान ही वैसा है, ऐसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये । तात्पर्य है कि भगवान् में प्रेम 'करने' की जरूरत नहीं, वह तो है ही, जरूरत उनसे अतिरिक्त जहाँ कहीं भी प्रेम है वहाँ से उसे हटाने की है । 'मानो परमात्मा द्वारा ऊपर को खींची जा रही हो' — यह लहरी शब्द का अर्थ है : '*लेन इन्द्रेण इव ह्रियत ऊर्ध्वगमनाय*' । अतः इस स्तोत्र द्वारा आनन्द निरवच्छिन्न होना चाह रहा है और वह भी शिवेच्छा से ॥२॥

इतनी उत्तेजित स्थिति है तो चाहे जिस तरह आनन्द (प्रेम) प्रकट कर दिया जाये— इस सम्भावना का निराकरण करते हुए वैदिकमार्ग की प्रधानता बताते हैं —

त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम् ।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे ॥३॥

त्रयीवेद्यम् = वेद द्वारा विज्ञेय, **हृद्यम्** = हृदय को प्रसन्न करने वाले, **त्रिपुरहरम्** = त्रिपुर का नाश करने वाले, **आद्यम्** = सर्वप्रथम, **त्रिनयनम्** = तीन नेत्रों वाले, **जटाभारोदारम्** = जटा की बहुलता से भव्य दर्शन वाले, **चलदुरगहारम्** = चंचल सर्परूप आभरण वाले, **मृगधरम्** = मृग को धारण किये हुए, **महादेवम्** = सब देवताओं में महान्, **देवम्** = अप्राकृत द्युति वाले, **मयि** = मुझ पर, **सदयभावम्** = दया का भाव रखने वाले, **पशुपतिम्** = पाशबद्ध जीवों के अधीश्वर, **चिदालम्बम्** = समस्त चैतन्य के आश्रय, **अतिविडम्बम्** = (उपाधिधर्मों का) अनुकरण करने में तथा (अविवेकियों को) भ्रमित करने में कुशल, **साम्बम्** = उमा सहित, **शिवम्** = भगवान् शंकर को, **हृदि** = हृदय में, **भजे** = भजता हूँ ।

सूतसंहिता का (३.४.११, १९) वचन है —

'*श्रुतिर्बलीयसी प्रोक्ता प्रमाणानां सुलोचने*' ॥ '*लभ्यो वैदिकनिष्ठानामहमव्यवधानतः*' ॥

स्मार्त परम्परा की वैदिकनिष्ठा अन्य भक्तिमार्गों से उसे विलक्षण बनाती है । भगवान् शंकर की स्तुतियाँ वेदों में बहुलता से मिल जाती हैं, इस तथ्य को भी कारण माना जा सकता है । सर्वथापि,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'वैदिकधर्ममार्गपरता' (वि. चू. २) पर आचार्य की निष्ठा है । यद्यपि अन्य ग्रंथ भी परमेश्वर का ज्ञान देते हैं तथापि आचार्य उन्हें त्रयीवेद्य होने से सर्वप्रथम पहचानते हैं । अतः भक्त को वेद द्वारा भगवत्तत्त्व समझने का प्रयास करना चाहिए यह उपदेश है । चरितसरिता में त्रयी का जल बहे । भगवान् प्रसन्न करने वाले हैं । रुलाना, तड़पाना— ये काम उन्हें प्रिय नहीं । यद्यपि वियोग की गहरी अनुभूति आवश्यक है तथापि भगवान् का त्रयीवेद्य रूप ही हृद्य हो जाता है वे हमारे वेद्य बनें उसके पहले ही । कारण कि हम उनका नैकट्य समझ लेते हैं ।*'आत्मबुद्धिप्रकाशं. . . प्रपद्ये' (आत्मा. १६)* से अप्पय दीक्षित ने भी इस तथ्य को सूचित किया है । इस ज्ञान से ही पूर्वोक्त 'परमविरह' प्रस्फुटित हो सकता है । स्वर्ग में तारकाक्ष की स्वर्णपुरी, अन्तरिक्षमें कमलाक्ष की रजतपुरी और मर्त्यलोक में विद्युन्माली की लोहपुरी —इन तीन को भगवान् ने नष्ट किया यह पुराणादि में प्रसिद्ध है । हृद्य होते हुए उन्होंने यह किया, यह विशेषता है । अभक्तों को दण्डित करने से भक्तों की रक्षा भगवान् करते रहते हैं जिससे उनकी हृद्यता बनी रहे, यह हमें पक्का निश्चय रखना चाहिये । भक्त प्रारम्भ में इतना विरक्त नहीं होता कि वह अपनी सुरक्षा की परवाह न करे । वह वैराग्य तो आगे (१३, ३३) बताया जायेगा । अभी वह रक्षक चाहता है । इस चाह का विश्वास में बदलना भी बतायेंगे (१६) । यहाँ तो उसीका बीज आरोपित किया है । अतः अन्य हृद्यता न भी समझ आये तो रक्षक होने से ही हृद्य हैं ऐसी बुद्धि से भजन करना चाहिये यह भाव है । इससे आर्तभक्त का संग्रह है । जिसके देखने पर ही चन्द्र, सूर्य व वह्नि भी दर्शक हों, वह भगवान् है । उस परममहेश्वर के न देखने पर इनका दर्शक होना असम्भव है । त्रिपुरहर से क्रियासामर्थ्य बताकर त्रिनयन व जटाभारोदार से ज्ञानसामर्थ्य बता दी । जटा से ज्ञान समझना चाहिये । एवं च ज्ञान चाहने वाले भक्त को भी भगवान् ही हृद्य हैं यह बताया । अलंकृत होने से अर्थार्थी के भी वे ही सेव्य हैं। दारुकावन आदि से आये भयभीत सर्पों को अलंकाररूपता प्रदान की । जिसकी कोई कीमत नहीं उसे बहुमूल्य बनाना उनके लिये अनायाससिद्ध है । चिदालम्ब कह कर ज्ञानी भक्त का संग्रह है । एवं च हर तरह के भक्तों द्वारा साम्बशिव का भजन किया जाये, यह तात्पर्य है । भगवान् स्वयं संयमीन्द्र हैं । अन्य भक्तिधाराएँ चंचल उपास्य की महत्ता भले ही बतायें, शंकराचार्य तो मृगधर का भजन करते हैं । मृग कुचाले भरने वाला मन ही है । *'काममय एवायं पुरुषः । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति । यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते । यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' (बृ. ४.४.५)* इस औपनिषद तत्क्रतुन्याय को समझकर ही उपास्य स्वरूप यहाँ बताया गया है । *' अशान्तवेशैः. . . अमरैरलं नः' (दक्षिणामूर्ति स्तोत्र पृ. १०० स्तुतिकदम्ब)* से भी इस तथ्य को इंगित किया है । अतएव यहाँ केवल 'देव' न कह कर साथ ही महादेव कह दिया है । 'अतिविडम्ब' से आचार्य ने सिद्धान्त सूचित स्पष्ट ही किया है । वि उपसर्ग पूर्वक डम्ब् धातु (चु. उ.) नकल करने व ठगने अर्थ में प्रसिद्ध है ही ॥३॥

प्रमाणसिद्ध हृद्य महादेव की एकनिष्ठ सेवा की कर्तव्यता *'भक्त्या त्वनन्यया' (गी. ११.५४)* आदि स्मृतियों के तथा *'शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत्परित्यज्य' (अ. शिखा. ३.४)* आदि श्रुतियों के अनुसार बताते हैं —

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम् ।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं
चिरं याचे शंभो शिव तव पदाम्भोजभजनम् ॥४॥

शम्भो = हे शम्भो !, शिव = हे शिव !, जगति = संसार में, क्षुद्रफलदाः = तुच्छ फल देने वाले, विबुधाः = देवता, सहस्रम् = हजारों, वर्तन्ते = हैं (किन्तु), तदनुसरणम् = उनकी सेवा, वा = या, तत्कृतफलम् = उससे होने वाले फल को, स्वप्ने = सपने में (भी), मन्ये न = मैं कोई मान नहीं देता, हरिब्रह्मादीनाम् = विष्णु ब्रह्मा आदि को, अपि = भी, निकटभाजम् = (जो कि) आपके निकट हैं, असुलभम् = जो सुलभ नहीं, तव = आपके, पदाम्भोजभजनम् = चरण कमलों के उस भजन की, चिरम् = चिर काल से, याचे = मैं याचना करता हूँ ।

भक्ताचार्य नारद ने '*अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता*' (नार १०) से एकनिष्ठ भक्ति का विधान किया है । '*देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात्*' (शाण्डि. १८) से शाण्डिल्य महर्षि ने भी अन्य देवों में भक्ति के सहचर के रूप में अवस्थित भक्ति को भगवद्भक्ति नहीं माना है । शिवगीता में (१.३०) कहा है :

'*तं त्यक्त्वा तादृशं देवं यः सेवेतान्यदेवताम् । स हि भागीरथीं त्यक्त्वा सेवेत मृगतृष्णिकाम्* ' ॥

स्वयं भाष्यकार ने अनन्यभक्ति की परिभाषा की है '*भगवतोऽन्यत्र पृथङ्न कदाचिदपि या भवति, सा त्वनन्या भक्तिः*' (*गी. भा. ११.५४*) । इस एकनिष्ठा को आगे भी (३३, ४५, ८३, आदि) बताना है । ध्यान देने योग्य बात यह है कि पञ्चदेवोपासना की प्रतिष्ठा भी आचार्य ने की, अतः किसी वैमनस्य को स्थान देकर वैष्णव, शाक्त आदि मतवादों की तरह वे स्मार्त मार्ग को संकीर्ण नहीं बना रहे हैं । अत एव '*हरिः पूज्यात् पूज्यतरः*' इसी स्तोत्र में (८२) कहेंगे । अभिप्राय है कि पूर्वोक्त लाख (लाक्षा) के दृष्टान्त से मन को रंगना है और इसकेलिये एक ही रंग का प्रयोग उचित है अन्यथा वस्तुतः कोई रंग नहीं चढ़ेगा । दीर्घकाल व नैरन्तर्य को दाढ्र्य के प्रति पतंजलिने भी कारण बताया है । ये दोनों तभी संभव हैं जब इष्ट एक रखा जाये । यद्यपि यह मान्यता सभी भक्तिवादों की है, स्वयं भगवान् ने अन्यदेवता-प्रपत्ति में काम-हृत-ज्ञानता को हेतु कहा है (गी. ७.२०), तथापि स्मार्त वैशिष्ट्य यहाँ सूचित है । अन्यदेवतानुसरण और तत्कृत फल मान के — इज्जत के — योग्य नहीं, पूज्यात्पूज्यतरता भले ही रहे । अतः प्राचीन वचन भी है '*हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः*' — श्रेष्ठता की असहिष्णुता नहीं, पहचान है । शिवभुजंग में '*अकण्ठे कलंकाद् .... देवमन्यं न मन्ये*' (*पृ. २९ स्तु.*) से यही प्रकट किया है । यह भाव विकृतरूप न ले — देवतान्तरों के प्रति हेय दृष्टि न हो — इसके लिये जो विचार अपेक्षित है उसे भी यहाँ बताया है । प्रथमतः तो अन्य देवों से प्राप्य फलों में क्षुद्रबुद्धि होनी चाहिये । गीतोक्त नियम से कामवश ही अन्यदेवतानुसरण में प्रवृत्ति होती है अतः कामना को विपरीतभावना से — दोषदृष्टि से — दबाने का आयास करना चाहिये । एवं द्वितीय विचार निज इष्ट की अन्य देवों द्वारा प्रार्थ्यमानता का करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिये— 'वे देव भी इन्हीं के कृपापात्र हैं ' इस प्रकार सोचना चाहिये । इससे उन देवों के प्रति सद्भाव बना ही रहता है और उनका अनुसरण भी करना नहीं पड़ता । *'त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्यभृत्यस्य भृत्यम्'(मुकुन्दमाला २६)*होना अन्य भक्त चाहे चाहते रहें,आचार्य तो साक्षात् शिव के चरणाम्भोजभजन की ही याचना कर रहे हैं । *'निकटभाजाम्'*से इस शंका को हटाया कि उत्तम लोकादि वाले ही शिव भक्ति कर सकते हैं । अन्य मतों में इष्ट के निकट स्थित अष्टसखी आदि को सुलभता व दूरस्थों को दुर्लभता है अत एव परम्परा से भी भृत्यता स्वीचिकीर्षित है, किन्तु स्मार्तमत में ऐसा विभाजन नहीं । *'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्..... तदिदमप्येतर्हि'(बृ. १.४.१०)* इस ज्ञानविषयक सिद्धान्त को भक्ति में भी समान ही समझना चाहिये । इससे हीनभावना आदि को स्थान नहीं रहता ॥४॥

अन्य देवताओं का अनुसरण छोड़ने पर भी स्वयं अपने पर, अपनी सामर्थ्य पर हमे गर्व रहता है जिससे हम भक्ति — *'शरणबुद्ध्या प्रीतिः'* —नहीं कर पाते । अपनी असमर्थता, अकिंचनता को पहचान लेना किसी भी श्रेयोमार्ग का पहला पड़ाव होता है । वह पहचान ही पर्याप्त कारणहै कि भगवान् हमारा पालन करें —*'शरणं व्रज ..... मोक्षयिष्यामि'(गी. १८.६६)* । इस प्राथमिक अनिवार्यता को समझाते हैं —

स्मृतौ शास्त्रे वैद्ये शकुनकवितागानफणितौ
पुराणे मन्त्रे वा स्तुतिनटनहास्येष्वचतुरः ।
कथं राज्ञां प्रीतिर्भवति मयि कोऽहं पशुपते
पशुं मां सर्वज्ञ प्रथितकृपया पालय विभो ॥५॥

विभो = हे व्यापक परमेश्वर !, स्मृतौ = स्मृतियों के विषय में, शास्त्रे = शास्त्रों के विषय में, वैद्ये = वैद्यकशास्त्र में, शकुनकवितागानफणितौ = शकुन समझने में, कविता करने में, गाना गाने में, पुराणे = पुराणों के विषय में, मन्त्रे = मन्त्रों के विषय में, वा = या, स्तुतिनटनहास्येषु = स्तुति करने में, नाटक करने में, हँसी करने में, अचतुरः = मैं सर्वथा अकुशल हूं । मयि = ऐसे मुझ पर, राज्ञाम् = राजाओं की, प्रीतिः = कृपा, कथम् = कैसे, भवति = हो ?, सर्वज्ञ = हे सर्वज्ञ !, अहम् = (उनकी कृपा पाने वाला) मैं, कः = कौन हूँ ?, पशुपते = हे पशुरूप जीवों के स्वामी, पशुम् = पशुतुल्य, माम् = मुझ जीव को, प्रथितकृपया = अपनी प्रसिद्ध कृपा से, पालय = पलिये ।

'यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमानाः गवादयः पशवः'(जाबाल्युपनिषत्), *'यथा पशुरेवं स देवानाम्'(बृ. १.४.१०)* आदि श्रुतियों व *'आत्मानः पशवः प्रोक्ताः सर्वे संसारवर्तिनः । तेषां पतित्वाद् देवेशः शिवः पशुपतिः स्मृतः'* ॥
महाभारत ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि स्मृतियों से हमारी पशुरूपता सिद्ध है । पाशसे बँधे को पशु कहते हैं । पाशबन्धन देखकर ही *'पश्चादिभिश्चाविशेषात्'* यह भाष्य है । शिवपुराण में ये पाश बताये हैं—

'चतुर्विंशति तत्त्वानि माया कर्म गुणा अमी । विषया इति कथ्यंते पाशा जीवनिबन्धनाः' ॥

शिवोपनिषत् में(१.११-१२)

'गुणो बुद्धिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च । भूतानि च चतुर्विंशद् इति पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

पंचविंशकमज्ञानं सहजं सर्वदेहिनाम् ।पाशजालस्य तन्मूलं प्रकृतिः कारणाय नः'॥

कहा है । शैव विचार के अनुसार विद्यारण्यस्वामी कहते हैं

'पाशाश्चतुर्विधाः शैवशास्त्रेषु प्रतिपादिताः । मलो, माया, कर्म तत्त्वतिरोधानं च ते मताः ॥

मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छादको दोष इष्यते । रागादिहेतुर्मायोक्ता कर्म पुण्यं च पातकम् ।

मूढैस्तत्त्वतिरोधानं सर्वैरप्यनुभूयते' ॥ अनु. प्र. १२.३० ॥

चाहे जिस प्रकार समझें, अपने बन्धन का हमें अनुभव है और बन्धन पशु का चिह्न है । सांसारिक व्यवहार में इस बन्धन—सीमा—को हम मानकर—सिद्धवत्कृत्य—चलते हैं अवश्य पर सीमा के अंदर जो हमें स्वातंत्र्य प्रतीत होता है उसी के नशे में धुत्त होकर साक्षात् असुर (गीता. १६.६-१८) बन जाते हैं । भक्तिमार्ग में— वस्तुतः अध्यात्ममार्गमात्रमें — किसी भी उपलब्धि के पूर्व हमें असुरता छोड़ अपनी पशुता स्वीकारनी होगी — अपनी औकात पहचाननी होगी । शिवचरितश्रवण, शास्त्रविचार *(त्रयीवेद्यम्)* आदि साधनों से हम अकिंचन हैं इसका जागरूक बोध बनाने का प्रयास करना चाहिये । बोध तो यत्किंचित् है पर हम प्रायः उसे भूले रहते हैं । यह याद रहने लगे तो शिवाज्ञावशवर्ती रहते हुए शिवेच्छा के कल्याणमय राज्य में हमारा वास निश्चित है । इसी निश्चय का उपयोगी विचार यहाँ प्रदर्शित है । प्रायः हम लोग टुटपुंजिया योग्यता वाले ही होकर केवल वृथा गर्व से फूल जाते हैं । वास्तव योग्यता वालों से अयोग्यो में ही योग्यता का दंभ अधिक मिलता है । अपनी तथाकथित योग्यता पर विचार करें— कितनी है वह ? कैसी है ? संसार में उससे अधिक कहाँ तक है ? क्या अपनी योग्यता के लिये हम ही जिम्मेदार हैं या अन्यों की कृपा से हमें वह मिली है ? इत्यादि ढंग से विचार करें तो गर्व ढीला पड़ेगा और पशुभाव का भान होने पर शरणागति संभव होगी ॥५ ॥

अपनी तुच्छता समझ न पाने से मनुष्य अपनी महत्वाकाङ्क्षाओं के पीछे जिन मार्गों पर भटकता है उनमें शब्दजाल नामक महारण्य सबसे भीषण है क्योंकि इसमें फल-फूल मिलते रहते हैं, धूप अधिक सताती नहीं, भटकते रहने में ही मजा सा आने लगता है और लक्ष्य भुला दिया जाता है । इससे सावधान करते हुए कहते हैं—

घटो वा मृत्पिण्डोऽप्यणुरपि च धूमोऽग्निरचलः
पटो वा तन्तुर्वा परिहरति किं घोरशमनम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृथा कण्ठक्षोभं वहसि तरसा तर्कवचसा

पदाम्भोजं शंभोर्भज परमसौख्यं व्रज सुधीः ॥६ ॥

सुधीः = हे बुद्धिमान् व्यक्ति !, **किम्** = क्या, **घटः** = घड़ा, **अपि** = और, **मृत्पिण्डः** = मिट्टी का पिण्ड, **वा** = या, **अणुः** = परमाणु, **अपि** = या, **धूमः** = धुआँ, **अग्निः** = आग, **च** = और, **अचलः** = पहाड़, **वा** = या, **पटः** = कपड़ा, **वा** = या, **तन्तुः** = धागा, **घोरशमनम्** = भयंकर मृत्यु को, **परिहरति** = हटाते हैं ?, **तरसा** = तेजी से बोले जाने वाले, **तर्कवचसा** = तर्क पूर्ण वचनों से, **वृथा** = व्यर्थ ही, **कण्ठक्षोभम्** = कण्ठ के कष्ट का, **वहसि** = अनुभव कर रहे हो । **शम्भोः** = भगवान् शङ्कर के, **पदाम्भोजम्** = चरण-कमल का, **भज** = भजन करो (और), **परमसौख्यम्** = परम सुख, **व्रज** = पाओ ।

मनुष्य दुःखरहित सुख चाहता है । उसकी प्राप्ति का उपाय ही साधना है । क्योंकि ऐसे सुख का एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान है इसलिये उसके लिये आयास उपयुक्त है । किन्तु इस पराभक्ति में उसका ही अधिकार है जो धोखेबाज न हो अन्यथा शब्दज्ञानमात्र से सन्तोषाभास होकर वह स्वयं ही अपने को धोखा देकर कृतार्थ मान लेगा । कलिविडम्बन में ठीक ही कहा है '*पठनै ग्रन्थनिर्माणैः प्रतिष्ठा तावदाप्यते । एवं च तथ्यव्युत्पत्तिरायुषोन्ते भवेन्नवा*' ॥ इसीसे '*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*' (*मुं. ३.२.३*) '*न वेदयज्ञाध्ययनैः*' (*गी. ११.४८*) आदि शास्त्रवचन हैं । भक्तिसूत्र में देवर्षि ने भी कहा है '*वादो नावलम्ब्यः*' (*नार ७४*) । भाष्यकारने अन्यत्र '*वादः समुत्सृज्यताम्*' (*उपदेशपं. ३*) कहा है । प्रसिद्ध है कि वृद्ध को व्याकरण याद करता देख आचार्य ने कहा था '*भज गोविन्दं नहि रक्षति डुकृञ्करणे*' (*मोहमु.१*) । न्याय, मीमांसा आदि साधनमात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं । भूल हम यही करते है कि इनसे कुछ समझना है इसका प्रयास न कर इन्हें समझने में जीवन खपा देते हैं । शब्द सुनकर ज्ञान हो किन्तु जिस बात का ज्ञान हो वह स्वयं कुछ न हो, तो वह ज्ञान 'विकल्प' शब्द से योगसूत्रों में माना गया है, जैसे 'गधे का सींग' सुनकर होने वाला ज्ञान । ऐसे ही 'शुद्धत्वम्पदार्थ', 'साक्षी' आदि शब्दों को तो हम समझते हैं किन्तु वे जिसे कहते हैं वह वस्तु है नहीं — त्वम्पदार्थ में शुद्धि है नहीं । ऐसे ही 'भगवान् सबका हित करते हैं'— इस वाक्य को तो हम समझते हैं पर इसके अर्थको —अर्थभूत तथ्य को— स्वीकारते नहीं । अतः प्रयास हमें समझने का करना है, शोधन करने का करना है, शब्द याद कर लेने का नहीं । शास्त्रविचारात्मक परा भक्ति का स्मार्तोपासना में स्थान आगे बताया जायेगा । उससे विरोध न हो इसीलिये '*वृथा*' (व्यर्थ) शब्द रखा है । '*वि-अर्थ*' न हो '*स-अर्थ*' हो; प्रयोजन सिद्ध करता हो, तव तो शास्त्रविचार भक्ति है अन्यथा नहीं । जैसे ही हमें लगे कि हमारा ज्ञान हमारे अनुभव से दूर हट रहा है, अपनी अभयरूपता जानकर भी हम डरते हैं, भगवान् को दयालु जानकर भी भय खाते हैं, वैसे ही हमारा प्रयास इनके सामंजस्य पर एकाग्र हो जाना चाहिये, ज्ञान बढ़ाने में नहीं । किं च भक्ति प्रेमरूप है और '*न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते*' — प्रेम विचार पर आधारित नहीं होता । अतः अपने प्रेम को विचारसिद्ध करने के लिए हम वाद करें यह व्यर्थ है । इसीप्रकार कोई वाद से कुछ सिद्ध कर दे तो हमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस वस्तु से प्रेम होना नहीं, अतः भी हम वाद करें (सुनें) यह व्यर्थ है । वस्तुतः परमेश्वरविचार तो कर्तव्य ही है, यहां तो '*अन्या वाचो विमुंचथ*' (मुं. २.२.५) के आधार पर अनात्मवस्तुओं की चिन्ता त्यागने का विधान है ॥६ ॥

घट, पट को न सोचें तो क्या करें ? इस शंका का उत्तर देते हुए भक्ति कैसे करें (*भक्तेरित्थंभावः - आ.गि.*) यह '*मन्मना भव मद्भक्तः*' (९.३४) आदि गीता के आधार पर बताने के लिये ज्ञानेन्द्रिय, मन व बुद्धि — सभी को भगवद्विषयक करने की प्रार्थना करते हैं —

मनस्ते पादाब्जे निवसतु वचः स्तोत्रफणितौ
करौ चाभ्यर्चायां श्रुतिरपि कथाकर्णन विधौ ।
तव ध्याने बुद्धिर्नयनयुगलं मूर्तिविभवे
परग्रन्थान् कैर्वा परमशिव जाने परमतः ॥७ ॥

परमशिव = हे परमशिव !, मनः = मन, ते = आपके, पादाब्जे = चरण कमल में, वचः = वाणी, स्तोत्रफणितौ = स्तोत्रों का उच्चारण करने में, च = और, करौ = दोनों हाथ, अभ्यर्चायाम् = पूजन में, अपि = तथा, श्रुतिः = कान, कथाकर्णनविधौ = कथायें सुनने में, बुद्धिः = बुद्धि, तव = आपके, ध्याने = ध्यान में, नयनयुगलम् = दोनों आँखे, मूर्तिविभवे = मूर्ति-सौन्दर्य के दर्शन में, निवसतु = लगे रहें, वा = तो, अतः = इस व्यस्तता के, परम् = बाद, कैः = किन इन्द्रियों से, परग्रन्थान् = अन्य ग्रन्थों को, जाने = मैं जानूँ ।

'*क्वचिन्नावसरं दद्यात्*' न्याय का अनुसन्धान है । ठाले बैठने में ही सारा अनर्थ है । सभी तरह से भगवद्भजनमें लगना चाहिये । उद्धवगीता में (१४.२०) भक्तियोग का वर्णन है ।

'*श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा च पूजायाम् स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥*
आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम्...' आदि ।

इन्हीं योगों को यहां सूचित किया है । भाष्यकार '*भजनं भक्तिः सैव योगः*' (*गी. भा. १४.२६*) यह भक्तियोग शब्द का अर्थ करते हैं । इन योगांगों की अमोघ सामर्थ्य '*परग्रन्थान् कैर्वा*' से ध्वनित की है, इन्हे करने वाले को और कुछ जानने की ज़रूरत ही नहीं । घट पट छोड़ मन चिंतन भगवत्पदों का करे । मन का विचार शब्दमय अधिक होता है, हम शब्दों में सोचते हैं । अतः परमशिव के स्तोत्र बोलेंगे तो मन परमशिव में लगेगा । स्तोत्रों का वैविध्य मन को भरने नहीं देता (आधुनिक भाषा में 'बोर' नहीं होने देता) । एवमपि नियमतः स्तोत्रविशेष के पाठ का माहात्म्य है क्योंकि उसके सहारे एकाग्रता सरल होती है । शब्द-अर्थ समझ आये हुए हों तो तात्पर्यार्थ में स्थित रहना सहज होता है, अन्यथा अन्वय लगाने में ही मन लग जाता है, अलंकार आदि ही पहचानने लगता है । अतः दोनों तरह स्तोत्रपाठ करना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रिया से संस्कार पड़ते हैं । अतः भगवान् की नित्य पूजा करनी चाहिए । घर पधारे श्रेष्ठ व्यक्ति की सेवा की तरह पूजा की जाती है । साक्षात् महादेव की सेवा के भाव से पूजा करनी चाहिये । पूजा की अलौकिक सामर्थ्य भी असीम है अतः भी नियमतः पूजा करनी चाहिये । *'पूजया मुक्तिमाप्नुयात्', 'पूजया सर्वजन्तूनां भोगमोक्षौ', 'पूजयैव महादेवः शिवोनित्यं प्रसीदति'* (१.४.१७, ४८, ५३) *'शिवलिंगार्चनश्रद्धा चापि भक्तिरनुत्तमा'* (४. यज्ञवै. २६.९) आदि सूतसंहिता तथा अन्य ग्रन्थों से पूजा का माहात्म्यादि जाना जा सकता है । स्मार्त प्रक्रिया में पूजा का विशेष स्थान है । यद्यपि मूर्ति को ही अवतारविशेष मानन आदि स्वीकृत नहीं तथापि नियत व वैध पूजा को आवश्यक माना गया है । अन्यत्र तो व्रजगोपिकादि की तरह चिंतन को ही प्रमुखता दी जाती है । पूजा की सरलता का भी ख्याल है ।

'ऋद्धं किंचित्समादाय क्षुल्लकं जलमेव वा ।यो दत्ते नियमेनासौ तस्मै दत्ते जगत्रयम् ॥

तत्राप्यशक्तो नियमान्नमस्कारं प्रदक्षिणम् ।.....चन्दनं बिल्वकाष्ठस्य पुष्पाणि वनजान्यपि ।

फलानि तादृशान्येव यस्य प्रीतिकराणि वै' (शि. गी. १.२४-२७) ।

'नद्यान्तु सिकतावारि कुसुमं सुलभं वने ।

नास्त्येव करणक्लेशः कर्तव्यः सकृदंजलिः' ॥ (वायुपु.)

'मुखेन वाद्यं सलिलेन पाद्यं मूर्ति मृदा बिल्वदलेन पूजा ।

फलं पुनस्तस्य भवेदनन्तं निःस्वस्य विश्वेश्वर एव देवः' ॥

आदि सहस्रों वचन इसमें प्रमाण हैं । यद्यपि शिवार्चन में लिंगार्चन ही प्रधान है तथापि साकारमूर्तियों का उपयोग है यह *'मूर्तिविभवे'* से बताया ।ऐन्द्रिय कामना उत्तम विषय की निश्चित है, भगवान् के उत्तम स्वरूप से उसे पूरा करने से ऐहिक आमुष्मिक उभयविध सुख है । बुद्धि से निश्चय कहा जाता है । मन से भगवान् को सोचना (संकल्प-विकल्प) कहा था । सोचविचार कर भगवत्तत्त्व का निश्चय कर लेना चाहिये । फिर निश्चय बनाये रखने व दृढ करने का प्रयास कर्तव्य है ॥७ ॥

पूर्वोक्त मनन व निश्चय के अभाव में भगवत्तत्त्व के विषय में भ्रम होना स्वाभाविक है । प्रामाणिक अप्रामाणिक चाहे जिस को आराध्य बनाने की मानवीय आदत है । जिन्हें देवान्तर पूजा का निषेध है वे नास्तिक सन्त, पीर आदि पूजने लगते हैं । यह भ्रम न होने पाये यह बताने केलिये ऐसे भ्रम वालों पर कृपा कर कहते हैं —

यथा बुद्धिः शुक्तौ रजतमिति काचाश्मनि मणि-
र्जले पैष्टे क्षीरं भवति मृगतृष्णासु सलिलम् ।
तथा देव भ्रान्त्या भजति भवदन्यं जडजनो
महादेवेशं त्वां मनसि च न मत्वा पशुपते ॥८ ॥

देव = हे देव !, पशुपते = हे पशुपति !, यथा = जिस प्रकार, शुक्तौ = सींप में, रजतम् = 'यह चाँदी है', इति = ऐसा, काचाश्मनि = काँच की मणि में, मणिः = 'यह रत्न है' ऐसा, पैष्टे =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पिसे आटे से घुले, जले = पानी में, क्षीरम् = 'यह दूध है' ऐसा, मृगतृष्णासु = मृगमरीचिका में, सलिलम् = 'यह जल है' ऐसा, बुद्धिः = निश्चय, भवति = होता है, तथा = उसी प्रकार, जडजनः = मूर्ख व्यक्ति, भ्रान्त्या = भ्रम से, भवदन्यम् = आप से अन्य का, महादेवेशम् = 'यह महादेव ईश्वर है' ऐसा, मत्वा = मानकर, भजति = भजन करता है, मनसि = अपने हृदय में विद्यमान, त्वाम् = आपको, [मत्वा = जान कर (आपका), भजति = भजन, न = नहीं करता]।

अल्प गुण वाले को अधिक गुण वाला समझने में प्रथम, गुणरहित को ही गुणी समझने में दूसरा, यत्किंचित् कार्यनिर्वाहकता से निकृष्ट को उत्कृष्ट समझने में तीसरा और आशा मात्र से कहीं कुछ समझने में चौथा दृष्टान्त है। प्रथम और तृतीय राजस भक्तों की स्थिति के व द्वितीय और चतुर्थ तामस भक्तों की स्थिति के परिचायक हैं। '*देवभ्रान्त्या*' ऐसा समस्त पाठ भी समझना चाहिए । भ्रान्ति में अविवेक (जाड्य) सहायक है यह '*जडजन*' से कहा तथा फल जन्म मृत्यु की प्राप्ति ही है यह भी '*जडजन*' से कह दिया। दीक्षित जीने भी कहा है कि मेरा संसारनामक रोग अन्य देवों द्वारा चिकित्स्य नहीं '*कथमपि परै र्योऽचिकित्स्याममर्त्यैः संसाराख्यं शमयति रुजम्*' *(आत्मार्पण १८)*। नीलकण्ठदीक्षित अन्य देवताभक्ति को ग्रामीणों द्वारा शहर के लोगों की सेवा मानकर अर्थात् सूचित करते हैं कि इष्टभक्ति साक्षात् राजसेवा है :

'*भक्तिं करोतु नितरां सुरजातिमात्रे ग्रामीणजन्तुरिव पौरजनेषु लोकः*' (*आनन्दसागरस्तवः श्लो.५*)। ग्रामीण हर शहरी को ओहदेदार मानता है । ऐसे ही हम जिस किसी देवता को फलदाता मान लेते हैं । सब कुछ देने वाले एकमात्र महादेव हैं इस निश्चय को रख उनसे अतिरिक्त को ईश्वर नहीं मानना चाहिए। भगवान् के अभिज्ञान के अभाव से फलच्युति गीता में (९.२४) भी बतायी है। यदि देवभ्रान्ति न हो, उन्हें ईश्वर न मानकर ही पूजा करें तो हानि क्या? इस प्रश्न का बीज है उन अनीश्वरों में कोई ऐसी अच्छी या बुरी सामर्थ्य मानना जो ईश्वर में नहीं तथा यह मान्यता ही सर्वथा हेय है यह स्पष्ट है । भक्तिमार्ग में यह ध्यान रखना चाहिये कि हम इष्ट से अतिरिक्त और किसी से कुछ न चाहें । '*लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा*' (कठ. २.२.२७) यह भाव रखना चाहिए — महादेव के दर्शन मिल गये तो सभी ऋद्धि सिद्धि स्वयं मिल जायेंगी । इस एकनिष्ठेता को पहले (४) भी बताया था आगे भी कई श्लोकों में बताना है। अन्यों का भजन करने का साक्षात् फल है '*त्वां न भजति*' । शिव व अशिव दोनों में प्रेम होना संभव नहीं । '*हृदि भवाभ्याम्*' (१) '*हृदि भजे*' (३) की शृंखला में '*मनसि न मत्त्वा*' है । अर्थात् भगवान् को अपने में मानना अत्यावश्यक है । वस्तुतः क्योंकि महादेव को हम अपने में नहीं मानते इसीलिये देवभ्रान्ति से अन्यभजन में लगते हैं । इस प्रकार '*च*' को हेतु में समझना चाहिए । केवल पारलौकिक जीवों में ईश्वरभ्रम का निषेध नहीं ऐहलौकिक जीवों में भी वैसा भ्रम नहीं रखना चाहिए। इससे अभय का उपदेश भी दिया । शिवभक्तों की सेवा तो कर्तव्य है ही किंतु उसमें भी उनसे किसी लाभ की आशा से नहीं। गुरु साक्षात् शिव हैं अतः वहां भ्रम का प्रसंग नहीं । एवं च पूर्वश्लोक - सूचित मननजन्य निश्चय से ईश्वरविषयक भ्रम हटाकर अपने में स्थित महादेव का भजन कर्तव्य है यह तात्पर्य है ॥८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे पूज्यविषयक भ्रम होता है वैसे ही पूजाविषयक भ्रम भी होता है अतः पूर्वश्लोक में साध्यनिर्धारण कर अब साधननिर्धारण करते हैं —

गभीरे कासारे विशति विजने घोरविपिने
विशाले शैले च भ्रमति कुसुमार्थं जडमतिः ।
समर्प्यैकं चेतःसरसिजमुमानाथ भवते
सुखेनावस्थातुं जन इह न जानाति किमहो ॥९॥

उमानाथ = हे उमापति !, जडमतिः = स्थूल बुद्धिवाला, जनः = व्यक्ति, कुसुमार्थम् = पुष्पों के लिये, गभीरे = गहरे, कासारे = तालाब में, विशति = घुसता है, विजने = जहाँ मनुष्य नहीं बसते ऐसे, घोरविपिने = गहरे जंगल में, च = और, विशाले = बड़े, शैले = पहाड़ पर, भ्रमति = घूमता है । अहो = आश्चर्य है !, भवते = आपके लिये, एकम् = एक, चेतःसरसिजम् = हृदय कमल, समर्प्य = समर्पित कर, इह = संसार में, सुखेन = सुख से, अवस्थातुम् = रहना, किम् = क्यों, न = नहीं, जानाति = जानता ।

भक्ति का कर्म से यही वैलक्षण्य है कि यह भावप्रधान है, क्रियाप्रधान नहीं । यद्यपि भक्ति का एक अंग क्रिया है तथापि भावप्रयुक्त क्रिया ही भक्ति का अंग है । भावरहित भी सश्रद्ध द्वारा निर्वर्तित क्रिया अपना फल अवश्य देती है किन्तु भावराहित्य में भक्तिका स्वरूपलाभ ही नहीं होता । भाव का अर्थ है प्रेम । प्रेमवश जो आदर आदि प्रकट करना है वही पूजा है । यद्यपि विधिका अनुसरण अपेक्षित है तथापि प्रेरक प्रेम ही हो, नियम नहीं, यह तात्पर्य है । चित्त में केवल भगवत्संस्कारों का आधान करें, यही चेतःसरसिज का अर्पण है । जिसमें हमें आदरभाव हो, जिसे हम कीमत देते हों, उसका संस्कार हममें रहता है । अन्यथा व्यवहार कर लेने पर भी संस्कार नहीं पड़ता । भगवान् की ही आदरणीयता पूर्व में स्थापित हो चुकी है अतः उन्हीं के संस्कारों को चित्त में पड़ने दें, अन्य संस्कारों को नहीं, यह अभ्यास करना चाहिये । इसका मुख्य उपाय तो यही है कि अन्यत्र आदर बुद्धि हटाने का प्रयास करें । यह अनित्यत्व, सदोषत्व, मिथ्यात्व आदि देखने से होगा । सभी वस्तुएँ स्वरसतः अनित्यादि प्रतीत नहीं होती, उन्हें वैसा सायास देखना पड़ता है । संसार की दुःखरूपता विचारपूर्वक बार-बार समझनी पड़ती है । अन्यथा संसार सह्य दुःख से अधिक प्रतीत नहीं होता । दूसरा उपाय है क्रियाओं में, बातों में भगवान् को अधिकता देना । पूजन, अर्चन, प्रदक्षिणा आदि अधिकाधिक करना चाहिये । बातचीत में भगवल्लीला का वर्णन आदि ज्यादा करना चाहिये । इन दो उपायों से चित्तसमर्पण होता है । किन्तु इस अभ्यास में मूल प्रेम रहना चाहिये । यन्त्रवत् क्रियाएँ पुनः संस्काराधायक नहीं हो पातीं । प्रेमवशीभूत यदि गहरे तालाब में भी जाते हैं तो चेतःसरसिज को समर्पित कर ही रहे हैं । अन्यथा पूजा करते हुए भी भ्रांत हो केवल बाह्य पुष्प चढ़ा रहे हैं । बाह्य पूजा को मनःसमर्पण का साधन बनाना चाहिये । इस प्रकार उसे उदात्त करने का निर्देश है, उसे छोड़ने का नहीं । किन्तु चेतोर्पण सहज होने लगे, बाहरी आलम्बन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाधा डालने लगें, तो उन्हें छोड़ देना चाहिए । उस स्थिति में *'तीर्थक्षेत्रादिगमनश्रद्धां तत्र परित्यजेत्'* *(शि. गी. १२.१८)* यह वचन स्मर्तव्य है । तालाब से सूचित केवल कर्म भगवत्प्राप्ति का नहीं, डूबने का ही उपाय है । घोर जंगल से सूचित भक्तिशून्य तप भी क्योंकि निःसीम है इसलिये घोर संसार में ही रखता है । ऐसे ही भगवत्प्रेमशून्य पर्वतशब्दसे सूचित ज्ञान भी कुसुमार्थशब्दसूचित 'पुष्पित वाणी' (गी. २.४२) मात्र है । कुसुमार्थ न हो भगवदर्थ यदि ये भ्रमण हो जायें तो हम जडमति न रहें । मति की जडता से ही हम भ्रमित होते हैं । अतः साधनविषयक विचार का निष्कर्ष है कि अकेले चित्त को शिवार्पण करने से हम यहाँ (इस लोक में) भी सुख से रहेंगे और जीवन समाप्त कर शिवसान्निध्य भी पायेंगे । अधिकारी के अनुरूप दोनों ही फल 'इह' — संसार में ही हैं, यह तो निश्चित है ॥९ ॥

इस प्रकार साध्य व साधन विषयक भ्रम दूर हो जाने से चाहे जिस अवस्था में भक्ति संभव है, मुख्य उपाय के अनुष्ठान के लिये गौण सहायकों का इन्तजार नहीं करना चाहिए — यह तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं —

नरत्वं देवत्वं नगवनमृगत्वं मशकता
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादिजननम् ।
सदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरी-
विहारासक्तं चेद्धृदयमिह किं तेन वपुषा ॥१० ॥

नरत्वम् = (चाहे) मनुष्यरूपता, देवत्वम् = देवरूपता, नगवनमृगत्वम् = पहाड़ी या जंगली जानवररूपता, मशकता = मच्छररूपता, पशुत्वम् = (ग्राम्य) पशुरूपता (या), कीटत्वम् = कीड़ा रूपता, भवतु = हो (या), विहगत्वादिजननम् = पक्षी आदि रूप से जनन, (भवतु = हो), चेत् = यदि, सदा = हमेशा, त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरीविहारासक्तम् = आपके चरणकमलों का स्मरणरूप परम आनन्द की लहरों में क्रीडा करने में दृढ रुचि वाला, हृदयम् = मन हो (तो), इह = संसार में, तेन = उस उस, वपुषा = शरीर से, किम् = क्या (अन्तर पड़ता है) ?

'भक्तिसुखधारायाः सर्वदेशकालशरीरेन्द्रियादिसाधारण्येन' *(भक्तिर. पृ. २७)* कहकर आचार्य मधुसूदन ने भक्ति को परिस्थिति की सीमाओं से मुक्त बताया है । पुराणादि में इसीलिये मनुष्येतरों की भक्ति का प्रचुर वर्णन है । श्रीकालहस्तीश्वर (दक्षिण कैलास) आदि तीर्थ अमनुष्य भक्तों से ही अतिशय माहात्म्य वाले हैं । अप्पय दीक्षित ने भी कहा है कि भगवान् के चरणकमलों के परिमल से सुरभित पवन जहां बहे वहां कीड़ा, नाग या पेड़ हो जाना भी भगवद्विमुखता से कहीं अच्छा है : *'कीटा नागास्तरवः —त्वत्पादाम्भोरुहपरिमलोद्वाहिमन्दानिलेषु' (आत्मार्प. ३७)* । प्रसिद्ध शिवभक्त जगद्धरभट्ट स्तुतिकुसुमांजलि में कहते हैं कि भगवदाराधन में साधन बने ऐसा नीच शरीर ही काम्य है: *'वरं भवेदप्यवरं कलेवरं परं हराराधनसाधनं हि यत्' (७.२४)* ।

'मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य' नियम से यहां बतायी योनियाँ मनुष्यों की ही अवस्थाओं को द्योतित करती समझनी चाहिये । नरत्व से विरागी अवस्था और देवत्व से भोगप्रधान अवस्था कही है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संसार का ताप सहने की योग्यता रहित व्यक्ति पहाड़ी जानवर और संसार के जंगली-नियम में जीवन व्यतीत करने वाला वन्य पशु है। हर तरह से कमज़ोर मच्छर, और दूसरों के सहारे ही जीने वाले ही ग्राम्य पशु हैं। नीचस्वभाव वाला कीट, और स्वतन्त्र प्रकृति का मनुष्य विहग है। इनमें सभी मानवीय अवस्थायें आ जाती हैं। ये प्रायः प्रारब्धवशात् निश्चित हैं। संसारप्रवण व्यक्ति तो इनमें फेरबदल का प्रयास करता है। भक्त के लिये आचार्य निर्देश दे रहे हैं कि इन्हें परिवर्तित करने का प्रयास करना लाभदायक नहीं, जिस भी अवस्था में हम हैं उसी में भगवान् के स्मरण में सुख लेना प्रारम्भ करें। गरीबी में हम सोचते हैं 'पैसा हो जायेगा तब फुरसत में भजन करेंगे'। किन्तु चाहे जितना पैसा मिले फुरसत — विशेषतः भजन करने की फुरसत — नहीं मिलनी। ऐसे ही रोगी स्वस्थ होने की प्रतीक्षा करता है पर रोग की कमजोरी जाती नहीं कि दूसरी बीमारी लग जाती है। अतः 'अन्य सब अनुकूल हो तब भगवद्भजन करें' ऐसा न सोच आज से ही प्रारम्भ करना चाहिए। मन दुःखी हो, भूख सता रही हो, ठण्ड में ओढ़ने को न हो, बच्चा बुखार से तड़प रहा हो तो कैसे भजन करें? यह प्रायः प्रश्न उठता है। दूरदर्शन या सिनेमा इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है। उक्त चाहे जैसा कष्ट हो, मन चाहा कार्यक्रम आता है तब उसे देखने में वृत्ति एकाग्र हो जाती है, सारा कष्ट भूल जाता है। कारण कि उस कार्यक्रम में आनन्द आता है, वह हमें इष्ट है। ऐसे ही भजन का आनन्द लें तो हर अवस्था में वह संभव है। यह आनन्द '*अभ्यासाद्रमते*' न्याय से ही संभव है। एक बार आनन्द ले लिया तो हृदय स्वभाववश ही उसमें आसक्त हो जायेगा। फिर अनायास ही भजन सम्भव हो जायेगा। इससे भक्ति की सर्वाधिकारता भी बता दी। स्वयं भगवान् ने शिवगीता में (१६.३) कहा है

'बहुनाऽत्र किमुक्तेन यस्य भक्तिः शिवार्चने। स एवात्राधिकारी स्यान्नान्यचित्तः कथंचन' ॥

इससे अवैध कार्यों की छूट नहीं समझ लेनी चाहिये। जिनके लिये जिस ढंग का भजन शास्त्रमर्यादानुकूल है उन्हें वैसे ही भजन करना चाहिये।

'अन्येषामपि सर्वेषां नराणां मुनिपुंगवाः। पूजा देवालयं दृष्ट्वा प्रणामस्तस्य कीर्तितः' ॥

कहकर सूतसंहिता ने (१.४.१६) सर्वाधिकार व शास्त्रमर्यादा का सामंजस्य स्थापित किया है। शास्त्र भगवदाज्ञा है अतः भगवद्भक्त उन्हें न माने तो भक्त कैसा? उडुपी आदि में भक्त केलिये भगवान् का अपने मुँह की दिशा बदलना प्रसिद्ध है, इतने पर भी भक्त का उच्छृंखल आचार नहीं। अतः शास्त्र की मर्यादा तोड़ने की इच्छा हो तो निश्चय जानना चाहिये अभी भक्ति का अंकुर नहीं फूटा है ॥१०॥

चाहे जिस अवस्था में भगवद्भजन प्रारंभ करें — इसी को और भी स्पष्ट करते हुए, भगवद्भजन में आनन्द आ चुकने पर हृदय भगवत्परवश हो जाता है — इस उत्कृष्ट भजनावस्था को बताते हैं —

बटुर्वा गेही वा यतिरपि जटी वा तदितरो
नरो वा यः कश्चिद् भवतु भव किं तेन भवति।
यदीयं हृत्पद्मं यदि भवदधीनं पशुपते
तदीयस्त्वं शंभो भवसि भवभारं च वहसि ॥११॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भव = हे भगवन् ! नरः = व्यक्ति, बटुः = ब्रह्मचारी, वा = या, गेही = गृहस्थ, वा = या, यतिः = संन्यासी, अपि = या, जटी = जटाधारी, वा = या, यः = जो, कश्चिद् = कोई भी (अवती), भवतु = होवे, तेन = उससे (व्रती या अव्रती होन से), किम् = क्या, भवति = होता है ?, पशुपते = हे जीवों के अधिपति !, शम्भो = हे शम्भु !, यदीयम् = जिसका, हृत्पद्मम् = हृदयकमल, यदि = अगर, भवदधीनम् = आपकी अधीनता स्वीकार लेता है, (तर्हि = तो), त्वम् = आप, तदीयः = उसके, भवसि = हो जाते हैं, च = और (उसका), भवभारम् = संसाररूप बोझ, वहसि = ढो लेते हैं ।

पूर्वश्लोक के भाव को ही और विकसित किया है । गत श्लोक में विभिन्न सांसारिक स्थितियाँ बतायी थीं। यहां शास्त्रीय स्थितियाँ गिनायी हैं । चाहे जो आश्रम हो, भगवान् का भजन सर्वथा संभव है । ध्रुव आदि ब्रह्मचारी थे, अम्बरीष आदि गृहस्थ थे, दुर्वासा आदि यति थे और धृतराष्ट्रादि वानप्रस्थ हो भजन करने में लगे थे । पिंगला आदि अनाश्रमी भक्त प्रसिद्ध ही हैं । अतः किसी भी आश्रम में भगवद्भजन प्रारंभ किया तथा चलाया जा सकता है । हम जिस में भी हों उसी के अनुसार भजन करते रहना चाहिये । '*अतस्त्वितरज्ज्यायः*' (*ब्र. सू. ३.४.३९*) न्याय से आश्रमी को साधनपौष्कल्य मिलेगा इसमें सन्देह नहीं । किंतु प्रमुखता भावना की होने से उपलब्ध साधन ही पर्याप्त हैं ।

पूर्वश्लोक में हृदय भजन में आनन्द लेने के कारण आसक्त था । उस अवस्था का परिपाक हो तो हृदय भगवान् के अधीन हो जाता है । आनन्द के लिये रमण करते हुए अन्यत्र आनन्द प्रतीत हो तो चित्त अन्यत्र जाता है किन्तु स्थिरता होने पर अन्यत्र आनन्द प्रतीत होने पर भी अन्यत्र जा नहीं पाता, यही चित्त का भगवान् के अधीन होना है । अन्यत्र आनन्द प्रतीत ही न हो, यह अतिवैराग्य की स्थिति अभी संभव नहीं । भक्ति में अधिकारी वह हो जाता है जिसकी आसक्ति कुछ कमजोर पड़ चुकी हो, पूरी समाप्त होने की जरूरत नहीं : '*न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः*' (*उद्धवगी. १५.८*) । अतः अभी अन्यत्र आनंद प्रतीत तो होता है पर प्रेम के कारण व अभ्यास से भगवान् को चित्त छोड़ पाता नहीं । इस अवस्था में ही भगवान् भक्त के हो जाते हैं । 'हाथ छुड़ा कर भले ही भाग जाइये, हृदय से जाकर दिखाइये तब आपका पौरुष समझूँ' आदि इस स्थिति के अनुभव हैं । '*समुद्रो न तारंगः*' के आधार पर भगवत्पादीय दर्शन निर्माण करने वालों के लिए '*तदीयस्त्वं शंभो भवसि*' भी विचारणीय सूत्र है । किंच, 'उसके हो जाते हैं ' सुनकर प्रश्न होता है ' उसके क्या हो जाते हैं ?' 'उसके स्वरूप हो जाते हैं '— यही उत्तर है । जब भक्त ने अपना हृदय भगवान् को दे दिया तो भक्त और भगवान् के स्वरूप में अंतर नहीं रह गया — यह परमरहस्य भी यहां ध्वनित समझा जा सकता है । अत एव भवभार भी भगवान् ही ढोते हैं : '*ब्रह्मैव संसरति*', '*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि*' । भक्त की सांसारिक परेशानियाँ तो भगवान् दूर करते ही हैं यह प्रायः भक्तिमार्ग के प्रत्येक साधक का अनुभव है । जो भक्तों के कष्ट दीखते भी हैं वे उनके हित के लिये ही हैं अत एव भगवान् द्वारा हटाये नहीं जा रहे । जैसे ठीक करने कि लिये वैद्य को फोड़ा पकाना पड़ता है ऐसे ही भक्त को जो कुछ भोगना आवश्यक है उसे भगवान् न हटावें यह संगत ही है ॥११ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे दारिद्र्यादि, गार्हस्थ्यादि अवस्थाओं से भक्ति प्रतिबद्ध नहीं होती वैसे ही देश काल से भी प्रतिबद्ध वह नहीं होती यह वताते हैं —

गुहायां गेहे वा बहिरपि वने वाऽद्रिशिखरे
जले वा वह्नौ वा वसतु वसतेः किं वद फलम् ।
सदा यस्यैवान्तःकरणमपि शंभो तव पदे
स्थितं चेद्योगोऽसौ स च परमयोगी स च सुखी ॥१२॥

शम्भो = हे कल्याणभूमि परशिव !, गुहायाम् = गुफा में, गेहे = घर में, वा = या, बहिः = वाहर, अपि = भी, वने = जङ्गल में, वा = या, अद्रिशिखरे = पहाड़ की चोटी पर, जले = जल में, वा = या, वह्नौ = आग के घेरे में, वा = या (अन्यत्र कहीं), वसतु = कोई रहे, वद = बताओ, वसतेः = कहीं रहने (मात्र) का, किम् = क्या, फलम् = फल है ?, यस्य = जिसका, अन्तःकरणम् = मन, अपि = भी (शरीर के साथ), सदा = हमेशा, एव = ही, तव = आपके, पदे = चरण में, स्थितम् = एकनिष्ठ है, चेत् = तो, असौ = वही, योगः = योग है, च = और, सः = वह व्यक्ति (ही), परमयोगी = योगियों में श्रेष्ठ है, च = तथा, सः = वही, सुखी = सुखी है ।

'*अन्तःकरणमपि*'— इस '*अपि*'—भी—से स्पष्ट कर दिया कि शरीर का शिवचरणों में अर्पित होना अनावश्यक नहीं । साधनदृष्ट्या पहले शरीर ही अर्पित किया जाता है । उतने में ही रुक कर मिथ्याचारी न बनें यह तात्पर्य है । शिवगीता में (१.३२) बताया है कि जहां व जब चित्त भगवान् में रम जाये वहीं तभी भजन कर लेना चाहिये, देश या काल का इंतजार नहीं करना चाहिये :

'*न कालनियमो यत्र न देशस्य स्थलस्य च। यत्रास्य चित्तं रमते तत्र ध्यानेन केवलम्* ॥

परमात्मोपासना के लिये वादरायण महर्षि ने भी '*यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्*' (*ब्र. सू. ४.१.११*) कहकर यह छूट दी है । एवमपि

'*सन्तिलोके विशिष्टानि स्थानानि मम माधव । तेषामन्यतमे स्थाने वर्तनं भुक्तिमुक्तिदम्*' ॥

आदि सूतसंहिता (१.७.२८) एवं देवीगीता आदि में तीर्थमाहात्म्य निश्चित होने से तीर्थादि विशेष क्षेत्रों में वास आदि भक्ति पूर्वक करना चाहिये । जो तीर्थादि न जाने के लिये कहा है वह अभक्तिपूर्वक जाने का निषेध है तथा उस स्थिति में जाने का निषेध है जब तीर्थादि में गये विना भक्तिप्रवाह निरन्तर चलता हो । इनसे अतिरिक्त स्थितियों में तीर्थसेवा भक्तिवर्धक है । किं च '*अन्तःकरणं वसतु*' यह भी सम्बन्ध है । '*गेहे हृदये*'—शरीर में स्थित हृदय गुफा में मन एकाग्र हो, '*बहिरपि*' चाहे वाहर किसी आलम्बन में हो इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता, होना भगवद्विषयक चाहिये, यह तात्पर्य है । इससे मूर्ति आदि का निषेध करने वालों का खण्डन समझना चाहिये । इन तीनों श्लोकों में 'चेत्' (१०), '*यदि*' (११) और 'चेत्' (१२)— इन शब्दों से इस स्थिति की दुर्लभता बतायी है । यह इसलिये स्मरणीय है क्योंकि हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः नियमित भजन से होने वाली शान्ति से सन्तोष कर लेते है और सोचते हैं कि हमारा चित्त शिवार्पण हो चुका, जबकि आचार्य इस स्थिति को दुर्लभ बता रहे हैं । अतः '*श्रेयसि केन तृप्यते*' न्याय से हमें निरन्तर इस ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिए यह भाव है ॥१२॥

'मन आदि भगवान् के चरणों में रहे तभी कल्याण संभव है (७), किन्तु जडजन (८) होने से मैं इस ओर से बेखबर हूं (९) । अतः आप ही मुझे बचाइये' यह प्रार्थना करते हुए वक्ष्यमाण (१४-२२) शरणागति की भूमिका रचते हैं—

असारे संसारे निजभजनदूरे जडधिया
भ्रमन्तं मामन्धं परमकृपया पातुमुचितम् ।
मदन्यः को दीनस्तव कृपणरक्षातिनिपुण-
स्त्वदन्यः को वा मे त्रिजगति शरण्यः पशुपते ॥१३॥

पशुपते = हे पशुपति !, निजभजनदूरे = अपने प्राप्तव्य से अत्यन्तभिन्न, असारे = निस्तत्व, संसारे = संसार में, जडधिया = (अपनी) मूढ बुद्धि के कारण, भ्रमन्तम् = भटकते हुए, माम् = मुझ, अन्धम् = अन्धे की, परमकृपया = (आपकी) अहैतुक कृपा से, पातुम् = रक्षा हो (यह), उचितम् = उचित है । तव = आपके लिये, त्रिजगति = तीनों लोकों में, मदन्यः = मुझ से भिन्न, दीनः = दीन, कः = कौन (होगा जिसपर कृपाकर आप रक्षा करें) ?, वा = और, मे = मेरे लिये, (त्रिजगति = तीनों लोकों में), त्वदन्यः = आप से भिन्न, कः = कौन, शरण्यः = शरण लेने योग्य (तथा), कृपणरक्षातिनिपुणः = दुःखी की रक्षा में कुशल (होगा) ?

पूर्वत्र जिस 'नातिसक्ति' को कहा उसे यहां स्पष्ट किया है । देवर्षि ने सूत्र बनाया है : '*तत्तु विषयत्यागात्संगत्यागाच्च*' (*नार ३५*) अर्थात् विषयों के व उनके संग के त्याग से भक्ति संभव होती है । यह सत्य है कि प्रारम्भिक अवस्था में परम वैराग्य संभव ही नहीं किन्तु भगवान् का भजन करने के लिये यत्किंचित् वैराग्य आवश्यक है यह भी निश्चित है । स्वभावतः परमात्मप्रेम का प्राकट्य दुर्लभ है, उसे अभ्यास आदि से ही प्रकट करना व बढ़ाना पड़ता है । विषयासक्ति इस ओर बढ़ने में लंगर का काम करती है । अतः संसार की असारता की ओर जागरूक रहना भी भक्ति का आवश्यक अंग है । वस्तुओं की तरह सम्बन्धों से भी वैराग्य करना चाहिये । प्रकृत प्रसंग का वैराग्य '*निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्*' के लिये नहीं । केवल सांसारिक आकर्षण को क्षीण करने की जरूरत है । इसके लिये संभव मात्रा में तप—जिसे नारदजी ने विषयत्याग कहा है— भी किया जाना आवश्यक है । विषयभोग संस्कार छोड़कर विषयप्रावण्य बढ़ाते हैं यह भोग को कामाग्नि की हवि बताकर समझाया है । अतः भोगकर मन भर जायेगा और शांत हो जायेगा ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिए । सर्वथा वैराग्य न करना हो तो कर्ममार्ग तो यथाकथंचित् अपनाया जा सकता है, भक्तिमार्ग नहीं । इस कठिनाई से डरने वालों पर ही नीलकण्ठ दीक्षित ने वैराग्यशतक में (श्लो. ७५) कटाक्ष किया है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'कामं जनाः स्मयन्ते कैलासविलासवर्णनावसरे ।साधनकथनावसरे साचीकुर्वन्ति वक्त्राणि' ॥

अतः विषय पारवश्य से बचने का सरल उपाय भी वे बताते हैं :

'विषयाननुकूलयितुं विषयिणि हृदये विधीयतां यत्नः ।

दृशि देयमौषधं को दृश्ये दत्त्वा कृतीभवति' ॥वै.श. २८ ॥

यहां स्वयं आचार्य एक विचार-प्रकार की दीक्षा दे रहे हैं : *'निजभजनदूरे'* । जो हम चाहते हैं क्या वह हम संसार में पा रहे हैं ?— ऐसा विचार करना चाहिये । प्रातीतिक सुख से लगता है, 'हाँ, पा रहे हैं', अतः कहा *'जडधिया'* । अविचार से असुख को सुख समझ कर ही हम भ्रम में पड़े हैं और अन्धों की जमात की तरह दिशाहीन भटक रहे हैं । इस ओर विचार एकाग्र करें तो अपनी दीनता का बोध होगा । 'नष्ट होना' अर्थ वाली 'दी' (दिवा. आ.) धातु से 'हो चुका' अर्थ वाले 'क्त' प्रत्यय के लगने पर 'दीन' शब्द बनता है । 'निजभजनदूर' होने से नाश निश्चित है इसमें संदेह नहीं । दीनता का पुनः (१६) कुछ विचार आयेगा । हम असमर्थ हो चुके अतः भगवान् अपनी परमकृपा से हमें बचायें इसकी प्रार्थना है । जगद्धरभट्ट ने भी कहा है *'ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः ?'* *(स्तु. कु. ९.५४)* । श्रुतिने बताया है *'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'* *(कठ. २.२३)*— जिस परमात्मा की हम शरण जायें वह परमात्मा ही हमें अपने से एक करता है । यदि हमें पौरुष कर उससे मिलना होता तो हमारी अतितुच्छ सामर्थ्य से वह असंभव ही होता । अपनी दीनता के साथ भगवान् की इस शरण्यता को भी पहचानना उचित है । तभी हम उसकी शरण में जायेंगे । कृपा की परमता यही है कि परमात्मा हमें आँख दे देता है, जडता दूर करता है , असारता समझने की योग्यता देता है और इस तरह निजभजन करा कर रक्षण कर लेता है । अर्थात् चमत्कार करना भगवान् की आदत नहीं । *'कुर्वन्निव कारयति'*— यह भागवत प्रक्रिया है ॥१३ ॥

अब नौ श्लोकों द्वारा शरणागति की सूचना देते हुए रक्षा की प्रार्थना करते हैं । पहले अपने स्वाभाविक सम्बन्ध को सोचकर रक्षक के रूप में भगवान् को चुनते हैं —

प्रभुस्त्वं दीनानां खलु परमबन्धुः पशुपते

प्रमुख्योहं तेषामपि किमुत बन्धुत्वमनयोः ।

त्वयैव क्षन्तव्याः शिव मदपराधाश्च सकलाः

प्रयत्नात्कर्तव्यं मदवनमियं बन्धुसरणिः ॥१४ ॥

पशुपते = हे पशुपति !, त्वम् = आप, खलु = निश्चय ही, दीनानाम् = दीनों के, प्रभुः = स्वामी (और उनके), परमबन्धुः = सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं । तेषाम् = उन दीनों में, अपि = भी, अहम् = मैं, प्रमुख्यः = प्रमुख हूँ (सर्वाधिक दीन हूँ) । अनयोः = हम दोनों के, बन्धुत्वम् = बन्धुत्व का, किमुत = क्या (कहना) ? शिव = हे शिव ! सकलाः = सभी, मदपराधाः = मेरे अपराध, त्वया = आपको, क्षन्तव्याः = क्षमा कर देने चाहिये, एव = ही, च = और, प्रयत्नात् = प्रयत्नपूर्वक,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मदवनम् = मेरी रक्षा, कर्तव्यम् = करनी चाहिये । इयम् = यही, बन्धुसरणिः = बन्धुओंके व्यवहार का ढंग है ।

'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥ आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः' ॥

यह छह प्रकार की शरणागति अहिर्बुध्न्यसंहितादि में प्रसिद्ध है । इससे अतिरिक्त

'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ॥ भगवच्छरणत्वं स्यात् साधानाभ्यासपाकतः' ॥

ये तीन शरणागतिप्रकार और भी प्रसिद्ध हैं । यहां पहले (१४,१५) '*गोप्तृत्वे वरणम्*', फिर '*रक्षिष्यतीति विश्वासः*'(१६), तदनन्तर कार्पण्य (१७) और आत्मनिक्षेप (१८) सूचित करते हुए अन्तमें (१९) '*आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्*' दोनों बताये हैं । बीसवे श्लोक में '*तस्यैवाहम्*', इक्कीसवें में '*ममैवासौ*' और बाइसवे में '*स एवाहम्*' को ध्वनित किया है ।

सर्वप्रधान होने से '*गोप्तृत्वे वरणम्*' अपने रक्षक के रूप में भगवान् को चुनना सबसे पहले बताया है । परमात्मा ही चुनने योग्य है यह उपनिषदों ने बताया है । प्रतर्दन को चुनना था तो इन्द्र ने परमेश्वर ही चुनने योग्य बताया (कौ. ३.१) । ऋषि शाकायन्य ने राजा बृहद्रथ को चुनने के लिये कहा '*वरं वृणीष्व*' तो उसने परमात्मा को ही चुना '*स त्वं नो ब्रूहि*' (*मैत्रायणी १.२*) । मुण्डक में '*वरेण्यम्*' (*२.२.१*) तथा श्वेताश्वतर में '*स देवो भगवान् वरेण्यः*' (५.४) कहा है । नचिकेता ने मुक्तकण्ठ कहा है : '*वरस्तु में वरणीयः स एव*' (*१.२७*) '*नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते*' (*१.२९*) । भक्त को भी चाहिये कि दृढतापूर्वक अपना रक्षक एक मात्र भगवान् को बना ले । केवल संसारातीत क्षेत्र में नहीं संसार में भी रक्षक और किसी को न रख परमात्मा को ही रखना चाहिए । किन्तु यहां पुनः चमत्कारी रक्षक बनाना नहीं है । यद्यपि भगवान् आवश्यकतानुसार चमत्कार से भी रक्षा करते हैं तथापि प्रायः उनकी व्यवस्था ऐसी हो जाती है कि हम उस चमत्कार को पहचान नहीं पाते । जो वस्तुतः केवल निमित्तमात्र बना उसे ही हम रक्षक मान लेते हैं और 'भगवान् ने तो रक्षा की ही नहीं' ऐसा समझते हैं । जब हमने अपना सार्वकालिक रक्षक भगवान् को चुन लिया तब चाहे वह हमारी जिस रूप में आकर रक्षा करे, रक्षा करने वाला है वही, यह निश्चय रखना चाहिए । डूबते के लिये नाव परमात्मा ही लाता है ; हम यदि किसी दिव्यवाहन की आशा में नाव का तिरस्कार करते हैं तो हम मूर्खता ही करते हैं क्योंकि परमेश्वर का ही तिरस्कार करते हैं । यह चुनना इसलिये है कि परम शिव से हमारी सहज बन्धुता है । कौतूहल का विषय है कि ईसाई मान्यता के अनुसार भी जीव भगवान् के पशु (भेड़) हैं जिन्हें रक्षित करना भगवान् का ही काम है । अस्तु । क्योंकि हम दीन हैं और आप दीनरक्षक, इसलिये हमारी जोड़ी पक्की है । अब आप को मेरे अपराध माफ करने ही चाहिये और आगे गलती न करूँ ऐसी सीख भी देनी चाहिए : '*क्षन्तव्यं वा निखिलमपि मे भूतभावि व्यलीकं दुर्व्यापारप्रवणमथवा शिक्षणीयं मनो मे*' (*आत्मार्पण. ३०*) । यदि नहीं माफ करेंगे तो भी रहना तो मुझे आपके ही संरक्षण में है जिससे कि कष्ट आने पर बचाने का श्रम आपको ही होगा । जैसे किसी की गाय पराये खेत में चर आये और उस खेत वाला गाय को मारने आये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो गाय के मालिक का ही सिरदर्द होता है कि उसे बचाये । अतः *'क्षन्तव्या एव'* ऐसा संबंध है । जब तक हम अपनी गलतियाँ सुधारने व अपनी रक्षा का प्रयास अपने को ही समर्थ मानकर करते रहते हैं तव तक परमेश्वर भी *'अभिचाकशीति'* — हमारे प्रयास देखता रहता है । जैसे ही हम समझ जाते हैं हम समर्थ नहीं शिव ही रक्षक है, वैसे ही *'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'* भगवान् रक्षा कर लेते हैं; यही रहस्य है । भगवान् का 'प्रयत्न' यही है कि हमें यह बुद्धि दें *'शिक्षणीयं मनः'* । इसके लिये यहां प्रार्थना की गयी है ॥१४॥

रक्षक के रूप में सशक्त का ही वरण होता है । भगवान् ही सशक्ततम हैं यह निश्चय प्रकट करते हुए उन्हें उल्हाना देते हैं कि आप मेरी ओर ध्यान नहीं दे रहे —

उपेक्षा नो चेत्किं न हरसि भवद्ध्यानविमुखां
दुराशाभूयिष्ठां विधिलिपिमशक्तो यदि भवान् ।
शिरस्तद्वैधात्रं न नखलु सुवृत्तं पशुपते
कथं वा निर्यत्नं करनखमुखेनैव लुलितम् ॥१५॥

पशुपते = हे पशुपति !, चेत् = यदि (आपके द्वारा मेरी), उपेक्षा = उपेक्षा, नो = नहीं (की जा रही तो), विधिलिपिम् = ब्रह्मा जी ने (मेरे लिये) जिस भाग्य को लिखा है (जिसमें), भवद्ध्यानविमुखाम् = आपके ध्यान से विमुखता (और), दुराशाभूयिष्ठाम् = सदोष विषयों की इच्छाएँ अत्यधिक हैं (उसे), किम् = क्यों, न = नहीं, हरसि = मिटा देते ?, यदि = यदि, भवान् = आप (वैसा करने में), अशक्तः = असमर्थ हैं (तो), वैधात्रम् = विधाता ब्रह्मा का, तद् = वह, न नखलु = नखों से नोचा न जा सकने वाला, सुवृत्तम् = सुघड़, शिरः = सिर, निर्यत्नम् = विना प्रयत्न के, करनखमुखेन = हाथ के नाखून की नोक से, एव = ही, वा = आखिर, कथम् = कैसे, लुलितम् = नोच लिया गया ?

भगवान् की उपेक्षा का स्पष्ट चिह्न है हमारी बुद्धि का परमेश्वरध्यानविमुख होना और सदोषविषयप्रवण होना । इन्हें भगवत्कृपा का मापदण्ड समझना चाहिये । वैभव, सुख आदि की प्राप्ति से समझ लेना कि भगवान् की कृपा है, सब ठीक चल रहा है — यह केवल सांसारिकों की प्रक्रिया है । भक्त इन दोनों की कमी से कृपा का आधिक्य समझें । तात्पर्य है कि हमें इन दोनों को चिकित्सित करना है । इस चिकित्सा के लिये प्रार्थना है । प्रार्थना का कारण है कि हमारे प्रयास से ही यह सिद्ध नहीं हो सकता । भगवत्करुणा ही इसमें साधन है, कर्मफलतया यह प्राप्त नहीं होता । नीलकण्ठ दीक्षित ने भी आनन्दसागरस्तव में उल्हाने भरे स्वर में कहा है

'त्रातव्य एव इति चेत्करुणा मयि स्यात् त्रायस्व किं सुकृतदुष्कृतचिन्तया मे ।
कर्तुं जगत्तिरयितुं च विशृंखलायाः कर्मानुरोध इति कं प्रति वञ्चनेयम् ?' ॥४२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्मसामर्थ्य की इति पहचान कर, प्रार्थना की सामर्थ्य समझ कर प्रार्थना करना भक्ति मार्ग में उन्नति का प्रमुख साधन है । प्रार्थना भी किसी स्तर पर अनावश्यक हो जाती है यह आगे (३५) बताया जायेगा । अभी शरणागति का वर्णन है । पुराण आदि साहित्य में सहस्रशः स्तोत्र उपलब्ध हैं, उन सब को प्रार्थना का उपाय बनाना चाहिये । क्योंकि भगवान् सर्वसमर्थ हैं इसलिये उनके लिये कृपा कर कुछ भी कर देना दुष्कर नहीं । वे किसी का भी उद्धार कर सकते हैं, किसी भी दोषी को दण्ड दे सकते हैं । जगद्धर भट्ट ने 'शरणाश्रयण' स्तोत्र के प्रारंभ में (८.१-८) परमेश्वर की इस विशेषता का बहुत मार्मिक वर्णन किया है

'दोषाकरस्य शिरसि स्थितिमुत्तमाङ्गच्छेदं विधेरविरहं नरवाहनस्य ।

भस्मीकृतिं त्रिपुरपाशधरस्मराणां वश्यं दिशां च दशकं दशकन्धरस्य' ॥४॥

अनेक दोष वाले चन्द्रमा का उद्धार कर अपने सिर पर स्थान दिया, ब्रह्मदेव का सिर नोच डाला; कुबेर से मैत्री की और रावण को दसों दिशाओं का राजा बना दिया । त्रिपुरासुर, यम व काम— इन्हें जला दिया । निष्कर्ष है *'स्वातन्त्र्यमप्रतिहतं जयतीश्वरस्य'(८)* । शंकर के इस स्वातन्त्र्य को न समझ 'हेतुफलावेश' से हम व्यवहार करते हैं तो 'हेतुफलोदय' ही होता है क्योंकि *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गी. ४.११)* । जब *'नास्ति हेतुफलावेशः'* तब *'नास्ति हेतुफलोदयः'* । शरण जाने वालों को इस आवेश से बचना चाहिए और अहैतुक कृपा पर अटल विश्वास के साथ प्रार्थना करनी चाहिए यह इस श्लोक का सन्देश है । रजःप्रेरित कर्म की यह सामर्थ्य मानो नुची हुई है कि वह भगवत्प्राप्ति कराये और इस नोचने में भगवान् को कोई यत्न नहीं करना पड़ा है क्योंकि न वे उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य या विकार्य रूप कर्म-कार्य हैं व न हीं कर्म नित्य का साधन है । भगवान् ने उपेक्षा की ही क्यों ? — इसका विचार आगे (६६) आयेगा । प्रकृत में इतना ही समझ लेना चाहिए कि उपेक्षा क्यों की ? कब से की ? आदि विचार हमारे लिये निष्प्रयोजन है । उक्त लक्षण से निश्चित है कि हमारी ओर उनकी उपेक्षा है, अतः हमें प्रार्थनादि करना है कि वह हटे — *'इमां कथमहं हन्यामेषा तेऽस्तु विचारणा'* यह वसिष्ठोपदेश स्मर्तव्य है ॥१५॥

जिस पर हमें विश्वास हो कि यह हमारी रक्षा करेगा उसे ही रक्षक के रुप में हम चुनते हैं अतः *'गोप्तृत्वेवरणम्'* का कारण होने से अब *'रक्षिष्यतीति विश्वासः'* — इस शरणागतिभेद को बताते हैं —

विरिञ्चिर्दीर्घायुर्भवतु भवता तत्परशिर-

श्चतुष्कं संरक्ष्यं स खलु भुवि दैन्यं लिखितवान् ।

विचारः को वा मां विशद कृपया पाति शिव ते

कटाक्षव्यापारः स्वयमपि च दीनावनपरः ॥१६॥

शिव = हे शिव !, विरिञ्चिः = ब्रह्मा जी, दीर्घायुः = लम्बी आयु वाले, भवतु = होवें । तत्परशिरश्चतुष्कम् = उनके बचे हुए चार सिर, भवता = आपके द्वारा, संरक्ष्यम् = रक्षणीय हैं, खलु = कारण कि, सः = उन्होंने, भुवि = संसार में (मेरे लिये), दैन्यम् = दीनता का, लिखितवान् = विधान किया । (अपने कल्याण की मुझे), कः = क्या, विचारः = चिन्ता ?, ते = आपकी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशदकृपया = पवित्र कृपा से प्राप्य, दीनावनपरः = दीनों की रक्षा में तत्पर, कटाक्षव्यापारः = दृष्टिपात, स्वयम् = खुद, अपि = ही, माम् = मुझे, याति = बचाता है, च = और (ब्रह्मा द्वारा दी गयीं दीनता के कारण मुझ पर कृपा भी अधिक हो जाती है । अतएव ब्रह्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की) ।

भगवान् स्वभावतः हमारी रक्षा करते हैं अतः हम यदि उनकी शरण जायेंगे तब तो वे रक्षा करेंगे ही इसमें सन्देह कहाँ ? '*स्वयम्*', '*कृपया*' और '*पाति*' — तीनों का निश्चय यहां '*रक्षिष्यतीति विश्वासः*' समझाया गया है । हममें कोई योग्यता हो या हमारा कोई कर्म हो जिसके कारण भगवान् हमारी रक्षा करें, ऐसा नहीं है । वे तो खुद ही रक्षा करते हैं । जैसे बालक की योग्यता या उसके किसी कर्म के कारण नहीं, बालक की रक्षा करना माता का स्वभाव है ; ऐसे ही भूतनाथ का स्वभाव ही ऐसा है कि वे हमारी रक्षा करते हैं । यदि स्वभाववश वे ऐसा करते हैं तो हमें श्रद्धावनत होने की क्या आवश्यकता ? इस शंका की निवृत्ति के लिये '*विशदकृपया*' कहा है । यद्यपि उनका हमारी रक्षा करना हमारे कारण नहीं तथापि इसमें उनकी कृपा ही कारण है, इसलिये हमें श्रद्धावनत होना आवश्यक है । हमारी रक्षा से उन्हें कोई लाभ नहीं अतएव केवल कृपा से हमारे लाभ के लिये वे रक्षा करते हैं । इससे सूचित किया कि परमेश्वर पर यह लांछन कभी नहीं लगाना चाहिये कि उन्होंने अपने किसी मतलब से कुछ किया । कृपा की पवित्रता है कारणशून्यता । शिवनिष्ठ कृपा में स्थानादिकृत अपवित्रता तो असंभव है, बीज भी यदि शिव ही हो तो सर्वथा पवित्रता रहेगी । कारणशून्यता से शिवेतरकारणराहित्य समझना चाहिए । अनुग्रहशक्ति आगमों में प्रसिद्ध है । '*पाति*'— बचाता है ; रक्षा की नित्यवर्तमानता का बोध चिकीर्षित है । अभी भी हमारी रक्षा हो रही है और उमामहेश्वर ही रक्षा कर रहे हैं, यह निश्चय करना चाहिये । जो हमें प्रतीत भी होता है कि हमारी रक्षा नहीं हो रही वह इसीलिये कि हम रक्षा के तत्त्व को समझ नहीं रहे । जैसे ठीक करने के लिये फोड़ा पकाना पड़ता है ऐसे ही भगवान् को हमें कष्ट देना पड़ता है । यह निश्चित है कि करुणापूर्ण परमेश्वर हमें न्यूनतम कष्ट होने देते हैं । हम दीन हैं इसके लिये विधाता को धन्यवाद है क्योंकि भगवान् की कृपा दीनता के अनुपात से होती है । भागवत में कुन्ती का वचन है

'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो । भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्' ॥

विपत्ति या दीनता को भक्तिमार्गोपयोगी रूप से कुन्ती ने बताया है ; भगवान् के दर्शन में जो कारण बने वही अभीष्ट दीनता है । कोई आपत्ति भाइयों को और निकट ले आती है व किसी आपत्ति से वे और बिखर जाते हैं, ऐसे ही किसी दीनता से हम परमेश्वर का और आधिक सहारा लेते हैं जबकि किसी दीनता के चलते हम परमेश्वर मे दूर हो जाते हैं । इनमें प्रथम दीनता भक्त चाहता है । शिक्षा यह है कि हर दीनता को भगवान् पर आश्रित होने में कारण बना लेना चाहिए । यह करने लगें तो अपने कल्याण के प्रति हम निश्चिन्त हो सकते हैं '*विचारः को वा?*' ॥१६ ॥

रक्षा की आवश्यकता इसलिये है क्योंकि हम कृपण हैं । '*योऽल्पां स्वल्पामपि स्वक्षतिं न क्षमते स कृपणः तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपरमपुरुषार्थतया कृपणो भवति*' *(गीता. २.७ आ.गि.)* : जो अपनी थोड़ी भी हानि सहन न करे वह कृपण होता है । इस कार्पण्यरूप शरणागति की आवश्यकता सूचित करते हुए कहते हैं —

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फलाद्वा पुण्यानां मयि करुणया वा त्वयि विभो
प्रसन्नेऽपि स्वामिन् भवदमलपादाब्जयुगलम् !
कथं पश्येयं मां स्थगयति नमःसंभ्रमजुषां
निलिम्पानां श्रेणिर्निजकनकमाणिक्यमुकुटैः ॥१७॥

विभो = हे व्यापक परमात्मा !, स्वामिन् = हे अधीश्वर !, वा = चाहे, पुण्यानाम् = पुण्यों के, फलाद् = फल से, वा = या, मयि = मुझ पर, करुणया = कृपा कर, त्वयि = आपके, प्रसन्ने = प्रसन्न होने पर, अपि = भी, भवदमलपादाब्जयुगलम् = आपके निर्मल चरणकमलद्वय, कथम् = कैसे, पश्येयम् = देखूँ ?, नमःसम्भ्रमजुषाम् = आपको नमस्कार करने की उतावली वाले, निलिम्पानाम् = देवताओं का, श्रेणिः = समुदाय, निजकनकमाणिक्यमुकुटैः = अपने माणिक्य-जटित स्वर्ण मुकुटों से, माम् = मुझे, स्थगयति = ढाँप देता है (उन्हें देख पाने से रोक देता है) ।

महादेव सम्मुख उपस्थित हैं, यह बहुत महान् स्थिति है, किन्तु देवताओं की भीड़ से जो भगवच्चरणों के अनवरत दर्शन नहीं हो पा रहे उस थोड़ी सी क्षति को भी भक्त सहन करने को तैयार नहीं है । यही कार्पण्य नामक शरणागति है । सांख्यमत में तुष्टि को हेय माना है । भक्ति में भी वही बात समझनी चाहिये । वस्तुतः जब तक अत्यन्त अभेद से कम प्राप्ति हो तब तक सन्तोष होना ही नहीं चाहिए । अतः आनन्दगिरिस्वामी ने '*अप्राप्त परमपुरुषार्थतया*' कहा है, परम पुरुषार्थ प्राप्त हो जाने पर कृपणता समाप्त हो जाती है । बृहदारण्यक में भी इसी अर्थ में कृपणशब्द आया है । तुष्टि प्रयास को शिथिल करती है । जैसे सांसारिक उन्नति असन्तोष पर आधारित है ऐसे ही आध्यात्मिक उत्थान भी असन्तोष से ही प्रेरणा पाता है । जैसे सिर पर रखा जलता कोयला सहन नहीं होता तो तत्परता से उसे हटाने का प्रयास करते हैं ऐसे भगवान् से थोड़ी भी दूरी सहन न हो तभी तत्परता से उसे हटाने में लग सकेंगे । प्रेम में सन्तोष होता भी नहीं, यह प्रेमियों का अनुभव है । यहाँ निसर्गजा भक्ति भी बतायी है । आठ कारणों से भक्ति का होना भक्तिरसायन में (पृ. १६४) मधुसूदनसरस्वतीजी ने बताया है

'इयं निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा । संप्रयोगाभिमानाभ्यां समारोपे स्थिता तथा' ॥

जन्मान्तर में किये दृढ अभ्यास से जन्य संस्कार निसर्ग कहाते हैं, उन्हीं से हुई भक्ति निसर्गजा है । सम्बन्धवश होनेवाली संसर्गजा है । भगवत्सादृश्य से उमड़ी औपम्यजा है । स्वतः ही उपजी भक्ति अध्यात्मजा कही जाती है । भावाभिव्यक्तिजन्य भक्ति को अभियोगजा कहते हैं । भगवत्सम्प्रयोगजन्य भक्ति सम्प्रयोगजा है । अभिनिवेशवश हुई भक्ति अभिमानजा है । शब्दादि विषयों से उपजी भक्ति को समारोपजा कहा जाता है । 'पुण्यों के फल से' कहकर निसर्गजा कण्ठतः कही है व अन्यों को उपलक्षणतया समझ लैना चाहिए । यदि निसर्गजा भक्ति न हो तो भक्ति उत्पन्न करने के उपाय करने चाहिये । कर्म, भक्ति व ज्ञान— यह प्रसिद्ध क्रम है । कर्म से भक्ति मिल सकती है । सूतसंहिता में (४.३२) महादेव में भक्ति(श्रद्धा) न होने के कारण को बताकर श्रद्धा के अभाव की निवृत्ति के सरल उपाय बताये है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'श्रद्धाऽभावस्तेन जातो नराणां साक्षाद्रुद्रे तस्य धर्मे च विप्राः ।

तस्माद्विद्वांस्तद्विनाशाय साक्षाद्रुद्रं नित्यं पूजयेच्छ्रद्धयैव ॥

त्रिपुण्ड्रमुद्धूलनमास्तिकोत्तमाः समाचरेन्नित्यमतन्द्रितस्तथा ।

विशेषतः शंकरवेदने रतो भवेदशेषं कथितं मयाऽनघाः' ॥४.३२.४६-४७ ॥

नित्य भस्मत्रिपुण्ड्र धारण कर महादेव की पूजा और महादेव के स्वरूप को जानने का प्रयास करने से शिवश्रद्धा होती है । महाभारत में (द्रो. २०१.९६) भी शिवलिंगार्चन से शिवप्रीति व ऐहिक आमुष्मिक फल बताया है :

'सर्वभूतभवं ज्ञात्वा लिंगमर्चयते प्रभोः । तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोति वृषभध्वजः' ॥

'ये भक्ता वरदं देवं शिवं रुद्रमुमापतिम् । अनन्यभावेन सदा सर्वेशं समुपासते ॥

इहलोके सुखं प्राप्य ते यान्ति परमां गतिम्' ॥द्रो. २०२.२७ ॥

स्वयं भगवान् कृष्ण ने (अनु. दान. १६१.१५) कहा है :

'नित्येन ब्रह्मचर्येण लिंगमस्य यदा स्थितम् । महयत्यस्य लोकश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः' ॥

ऋतुमात्रगामी गृहस्थों का भी ब्रह्मचर्य प्रसिद्ध होने से तादृश नियमपूर्वक रहते वे भी स्थिरलिंगार्चन से शिवप्रसाद पा सकते हैं । शिवकृपा के बिना भक्ति नहीं होती । जैसे धन के बिना व्यापार और व्यापार के विना धन नहीं होता फिर भी व्यवहार में लोग धन से व्यापार करते दीखते हैं ऐसे ही कृपा के बिना भक्ति और भक्ति के बिना कृपा नहीं होती फिर भी संसार में भक्त दीखते हैं तो भगवान् की अनिर्वचनीय अनुग्रहशक्ति ही समझनी पड़ती है । इस अनिर्वचनीयता को स्वीकार कर हमें भक्तिप्राप्ति के उपाय करने चाहिए ॥१७ ॥

कार्पण्य(दैन्य)बोध और रक्षा करेंगे यह विश्वास होने पर व रक्षक के रूप में चुन लेने पर भी जब तक अपने को शम्भु के सुपुर्द नहीं करेंगे तब तक वे कैसे रक्षा करें ? अतः अब आत्मनिक्षेपरूप शरणागति सूचित करते हैं —

त्वमेको लोकानां परमफलदो दिव्यपदवीं

वहन्तस्त्वन्मूलां पुनरपि भजन्ते हरिमुखाः ।

कियद्वा दाक्षिण्यं तव शिव मदाशा च कियती

कदा वा मद्रक्षां वहसि करुणापूरितदृशा ॥१८ ॥

शिव = हे शिव !, **लोकानाम्** = सभी लोगों को, **परमफलदः** = कर्मों का फल देने वाले, **त्वम्** = आप, **एकः** = ही हैं । **हरिमुखाः** = विष्णु आदि, **त्वन्मूलाम्** = आप से प्राप्त, **दिव्यपदवीम्** = अलौकिक पद, **वहन्तः** = भोगते हुए, **अपि** = भी, **पुनः** = फिर (फिर), **भजन्ते** = आपका भजन करते हैं । **तव** = आपकी, **दाक्षिण्यम्** = सामर्थ्य, **वा** = तो, **कियत्** = कितनी (अधिक) है, **च** =

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और, मदाशा = मेरी प्रार्थना, कियती = कितनी (छोटी) है। करुणापूरितदृशा = करुणा से भरी दृष्टि से, मद्रक्षाम् = मेरी रक्षा, वा = आखिर, कदा = कब, वहसि = करेंगे ?

'मद्रक्षां कदा वहसि' मैंने तो अपना काम — आत्मनिक्षेप — कर दिया, अब आप कब अपना काम — मेरी रक्षा — करेंगे ? इससे बताया कि हमें अपने आपको भगवान् के सुपुर्द करने के लिये किसी की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये । सुपुर्द करने के बाद प्रतीक्षा करने का अधिकार मिलता है । जैसे डूबता व्यक्ति स्वयं बचाव का यत्न करता है इसलिये उसे उबारने गया तैराक उसे बचाने में कठिनाई का अनुभव करता है, डूबने वाला अपनी चेष्टा छोड़ दे तो तैराक आराम से उसे पार ले आता है ; ऐसे हम अपनी रक्षा के जो प्रयास करते हैं वे ही भगवान् के द्वारा की हुई रक्षा के प्रतिबन्धक बन जाते हैं । अतः हमें उन प्रयासों को छोड़ अपने को भगवान् के हवाले करना है । हमारे प्रयास हैं काम, क्रोध, राग आदि । इन्हें हम अपनी रक्षा, अपनी स्थिति के लिये अनिवार्य मानते हैं और इन्हीं से हम संसार में और गहरे डूबते जाते हैं । इन्हें छोड़ना परमावश्यक है । भगवान् के हवाले करने का तात्पर्य है शास्त्रप्रोक्त आचार-विचार करना । हम अभी समझते हैं धर्म से हमारी हानि होगी । यह रागप्रयुक्त हरकत है । इसे छोड़ धर्माचरण में प्रवृत्त होना कर्तव्य है । भगवान् की आज्ञा है, बस इसलिये करना चाहिये । अधर्मरूप अपराध से भगवान् का क्रोधित होना स्वाभाविक है : *'फलमतउपपत्तेरित्यधिकरणे महर्षिणा बादरायणेन विहितनिषिद्धयोः ईश्वरप्रसाद-कोपजनकत्वोक्तेः ।.... विहितक्रियामात्रस्य ईश्वरप्रसादजनकत्वात्, ईश्वरप्रसादस्यैव पुण्यरूपत्वस्य बादरायणसम्मतत्वात् ।'* ऐसा न्यायरत्नावली में (पृ. ३१५ MRI) गौडब्रह्मानन्दस्वामी ने स्पष्ट किया है । महादेव ही सर्वफलदायक हैं अतः किसी अन्य के निमित्त कर्म कर रक्षा का प्रयास व्यर्थ है यह भी ध्वनित है । *'परमफलदः'* से योग को भगवत्कारणक बताया और *'पुनरपि भजन्ते'* से क्षेम भी उन्हीं से होता है यह सूचित कर दिया । साथ ही आत्मनिक्षेप का नैरन्तर्य *'पुनरपि'* से स्पष्ट किया है । *'रक्षिष्यति इति विश्वासः' 'गोप्तृत्वे वरणम्'* के लिये चाहिये, उसी के लिये कार्पण्यबोध चाहिए अतः वरण करा कर ये कृतकार्य हो जाते हैं । वरण भी कर लिया तो आगे, जिसका वरण किया उसका कार्य बच जाता है । अतः वरण भी हो कर पूरा होता है । किन्तु आत्मनिक्षेप सदा करते रहने का कार्य है । अपने आग्रह अभिमान हमेशा छोड़ते रहने होंगे । इतना करने पर भी हमें अपनी कोई महत्ता समझने की आवश्यकता नहीं — *'मदाशा च कियती !'* "हमने तो इतना त्याग किया, भगवान् ने अभी कुछ नहीं किया' ऐसे भावों से बचना चाहिए । हमारे लिये कुछ करें इससे बहुत अधिक आवश्यक कार्य भी भगवान् के हैं, ऐसा भगवान् की महत्ता *'कियद्वा दाक्षिण्यम्'* का विचार बनाये रखना चाहिए । साथ ही हमने आत्मनिक्षेप आदि किया है इसलिये भगवान् रक्षा करेंगे ऐसा नहीं सोचना है । वे तो करुणा से रक्षा करेंगे *'करुणापूरितदृशा'* । किन्तु भगवत्कृपाप्राप्ति की नित्य उत्सुकता भी मन में रखनी है *'कदा वा'* । यह उत्सुकता भक्ति को जिलाये रखती है । अप्पय दीक्षित ने (आत्मा. ३१) भी वैद्यनाथ से कहा है : आप मेरी दर्दनाक स्थिति जानते भी हैं, कृपालु भी हैं, पूरी तरह समर्थ भी हैं । तब मुझ दीन का उद्धार करना आपके लिये कौन सा भार है जो आप रक्षणीय की कोटि में मेरी गिनती ही नहीं करते ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'सर्वज्ञस्त्वं निरवधिकृपासागरः पूर्णशक्तिः कस्मादेनं न गणयसि मामापदब्धौ निमग्नम् ।
एकं पापात्मकमपि रुजा सर्वतोऽत्यन्तदीनं जन्तुं यद्युद्धरसि शिव कस्तावतातिप्रसंगः' ॥१८ ॥

आत्मनिक्षेप की ही पूर्णता है रक्षक के अनुकूल ही चलना, प्रतिकूल नहीं चलना । ऐसा करने पर ही रक्षक अपने ढंग से व्यवस्था कर सकता है । हम तो अपना प्रयास पूरा कर हार चुके अतः अब अपनी राय देना व्यर्थ है । केवल अपनी अवस्था बताकर हमें रक्षक के अनुसार रहना है। इस द्विविध शरणागति को —*'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्'* —बताते हैं—

दुराशाभूयिष्ठे दुरधिपगृहद्वारघटके
दुरन्ते संसारे दुरितनिलये दुःखजनके ।
मदायासं किं न व्यपनयसि कस्योपकृतये
वदेयं प्रीतिश्चेत्तव शिव कृतार्थाः खलु वयम् ॥१९ ॥

शिव = हे शिव !, दुरधिपगृहद्वारघटके = दुष्ट राजाओं के महलों के द्वारों पर ले जाने वाले, दुराशाभूयिष्ठे = असदिच्छाओं से भरपूर, दुरितनिलये = पाप के भण्डार रूप, दुःखजनके = दुःख के जनक (इस), दुरन्ते = समाप्त न होने वाले, संसारे = संसार में, मदायासं = होने वाले मेरे कष्ट को (आप), किम् = क्यों, न = नहीं, व्यापनयसि = हटाते ? (यह), कस्य = किसके , उपकृतये = उपकार के लिये है ?, वद = बताइये । चेत् = यदि, इयम् = इसी में, तव = आपकी , प्रीतिः = प्रसन्नता है तो, वयम् = हम (इसी अवस्था में), कृतार्थाः = कृतार्थ हैं, खलु = इसमें सन्देह नहीं ।

जिसमें शिव की प्रसन्नता है उसी में हम सन्तुष्ट हैं यह आनुकूल्य है ; इससे अधिक कुछ नहीं चाहते (*'खलु'*) यह अप्रतिकूलता है । *'कृपार्थाः'* पाठ में प्रसन्न होकर आप जो दें उसी के हम प्रार्थी हैं, यह अर्थ है ; तात्पर्य एक ही है । 'तत्सुखसुखिता' प्रियके सुख से सुखी होना यह प्रेम का स्वाभाविक वैशिष्ट्य है । यदि हम अपनी इच्छा को, अपने सुख को, प्रमुखता देते हैं तो निश्चित है कि अभी हमें प्रेम नहीं । यदि हमसे दूर रहने से ही प्रियतम प्रसन्न रहता है तो हम उससे दूर रहने में ही प्रसन्न हों, यह प्रेम की अवस्था है । हम जैसा चाहते हैं वैसा भगवान् करें यह भक्त की दृष्टि नहीं । *'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्'* कह कर भागवत ने चाहने वाले की भक्तरूपता को ही सन्दिग्ध बना दिया है । भक्त को इतना निश्चय होना चाहिये कि इसमें भगवान् प्रसन्न हैं : *'वद'* । *'पशुपतिवचनाद्भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः' (अनु. दान. १४.१८०)* कह कर महर्षि उपमन्यु ने यही स्थिति प्रकट की है । भगवान् कष्ट हरते हैं तो भी किसी के उपकार के लिये ही और नहीं हरते तो भी किसी के उपकार के लिये । जिसके उपकार के लिए आप मेरा कष्ट नहीं हटा रहे उसने आपसे उपकृत होने के लिए जो साधन किये हैं, उन्हें मैं भी कर लूँ, यह भाव है । 'क्यों नहीं हटा रहे ?' का भी यही तात्पर्य है कि और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कौन सी योग्यता मुझ में आने देना चाहते हैं यह पता चले तो मैं उसके लिए प्रयासशील बनूँ । उन्नति के साधनों के विषय में प्रेरणा मिले इसके लिए प्रार्थना तथा आत्मपरिशीलन करना चाहिये यह सूचना है । भट्ट जगद्धर ने भी भगवान् से कहा है : मुझ अविवेकी पर अब तक क्यों अनुग्रह नहीं किया ? ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा अनुराग आपमें दृढ हो

'विहितं मयि चारु चिरं रुचिरं न गते विवेकलयम् ।

कलयन्नमलविभासतिभासित रुचिमेहि मे विपाकमलम्' ॥२३.७ ॥

[*रुचिरम्* = अनुग्रह । *मे अलम् विपाकं कलयन् मे रुचिम् एहि* — यह अन्वय है । *रुचिम्* = मेरी रुचि का विषय । *अमलविभासितभासित* = चन्द्रचूड] ।

अपने संसार का वर्णन इसलिये कि भगवान् के सामने हमारी पूरी स्थिति स्पष्ट हो जाये । हम दयनीय क्यों होने चाहिए — यह प्रकट किया है । तात्पर्य है कि हम दुराशा आदि छोड़ें । जैसे रोग हटाने के लिए पथ्य करना रोगी का दायित्व है व दवा देना वैद्य का, ऐसे पापसे हटना हमारा काम है (जिससे हम पापनिमित्तक दुःखों से बच जायेंगे) और धर्ममार्ग पर चलने पर होने वाले कष्ट भगवान् हटायेंगे ।

संसार को दुःखरूप न बताकर दुःखजनक बताया क्योंकि प्रकृत अधिकारी संसारमात्र से विरक्त नहीं । वैसे विरक्त की तो प्रार्थना है कि मेरा मदरूप-मिथ्याभिमानरूप-आयास (*वि-*) सकारण हटा क्यों नहीं लेते ? यदि पूछें कि बताओ किसके उपकार के लिए हटावें ? : '*कस्योपकृतये, वद?*' तो उत्तर स्पष्ट है : '*शिव ! वयं खलु कृतार्थाः चेत्, तव इयं प्रीतिः*' हे शिव ! यदि हम निश्चित रूप से कृतार्थ होंगे (मुक्त होंगे) तो यह आपकी ही प्रसन्नता होगी, क्योंकि हम आप ही हैं । हमने '*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि*' सुन लिया है । हम तो कृतार्थ होंगे, प्रसन्नता आपकी होगी । हमारा अर्थ — प्रयोजन — यही है कि आपकी प्रसन्नता हो, मदायास हटे । वह प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर हमारी कृतार्थता है । तदनन्तर जीवरूपता को बचना नहीं । एक अखण्ड आनन्दघन चिद्घन शिवतत्त्व ही रहना है । इस वास्तविक शरणागति को भी यहाँ विवक्षित मान लेना चाहिए ॥१९ ॥

भगवच्छरणागति में प्रमुख प्रतिबन्धक है विषय की शरण लेने का हमारा अभ्यास । इस रुकावट को हटाने के लिये भी शरणागति ही कारण है ।

'प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसंभवः । यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः'॥

इस सौरपुराणवचन से (२४.४६) यही स्पष्ट होता है । इसी को बताते हुए '*तस्यैवाहम्*' इस शरणागतिभेद को सूचित करते हैं—

सदा मोहाटव्यां चरति युवतीनां कुचगिरौ

नटत्याशाशाखास्वटति झटिति स्वैरमभितः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कपालिन् भिक्षो मे हृदयकपिमत्यन्तचपलं
दृढं भक्त्या बद्ध्वा शिव भवदधीनं कुरु विभो ॥ २० ॥

कपालिन् = हे कपाल धारण करने वाले !, **भिक्षो** = हे भिक्षुक !, **शिव** = हे शिव !, **विभो** = हे व्यापक ईश्वर !, **स्वैरम्** = स्वच्छन्द (यह मेरा मन), **सदा** = हमेशा, **मोहाटव्याम्** = अविवेक के जंगल में, **चरति** = घूमता है, **युवतीनाम्** = युवतियों के, **कुचगिरौ** = ऊँचे स्तनों पर, **नटति** = नाचता है, **आशाशाखासु** = इच्छाओं की शाखाओं पर, **झटिति** = जल्दबाजी से, **अभितः** = इधर-उधर चारों ओर, **अटति** = कूदता रहता है। **अत्यन्तचपलम्** = अत्यधिक चंचल, **मे** = मेरे (इस), **हृदयकपिम्** = मन रूप बन्दर को, **भक्त्या** = अपनी भक्ति रूप रस्सी से, **दृढम्** = पक्का, **बद्ध्वा** = बाँधकर, **भवदधीनम्** = अपने अधीन, **कुरु** = कर लीजिये ।

उद्धव ने भगवान् से यह कष्ट कहा है कि मन का नियन्त्रण करने में बहुधा कठिनाई आती है और साथ ही सन्तोष व्यक्त किया है कि भगवान् के चरणकमलों के सहारे से वह कठिनाई झेल ली जाती है

'प्रयाशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः । विषीदन्त्यसमाधानाद् मनोनिग्रहकर्षिताः' ॥

'अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन' (उद्ध. गी. २४.२-३) ।

भक्ति का साधक अत्यन्त विरक्त नहीं होता यह कहा जा चुका है । *'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ' (ई. ११)* के आधार पर यह साधक कर्म भी करता रहता है । बल्कि *'न चलति निजवर्णधर्मतो यः. . . . तमवेहि विष्णुभक्तम्.' (विष्णुपु. ३.७.२०)* आदि वचन के अनुसार भक्त को कर्म करते हुए रहना चाहिये ही । कर्म राजस पदार्थ होने से उससे राजसी मनोवृत्तियों का उठना लाजमी है । भोग का संस्कार भी दृढ है तथा हर बार भोग करने से वह और भी दृढ हो जाता है । फलतः भोग की ओर आकर्षण बढने लगता है । हठपूर्वक रोकने पर मन अत्यधिक कष्ट देता है और भक्तिभावना से कुछ करने नहीं देता । अतः हम भगवान् से ही प्रार्थना करते हैं कि इस मन को वे ही नियन्त्रित करें । आखिर यह उन्हीं ने हमसे बाँधा है । दीक्षित जी ने भी कहा है कि भगवन् ! मुझ छोटे से बछड़े को एक साँड़ के साथ एक जुए में जोत दिया तो अब मैं क्या करूँ ? *'किंवा कुर्वे'* (आत्मार्पण. ९) । भोगों में स्त्री-पुरुष के आपसी संसर्ग की इच्छा सबसे लुभावनी है और यह अन्य बहुत विक्षेपों का मूल है अतः इसे मुखतः कहा । इसके अन्तर्गत सभी भोग समझ लेने चाहिये । वार्तिककार ने तैत्तिरीयकग्रंथ में (२.१.१७०) कहा है :

'तमसा कामशाङ्र्गेण संकल्पाकर्षणेन सः । रागाख्यविषलेपेन ताडितो विषयेषुणा' ॥

कामरूप धनुष, संकल्परूप प्रत्यंचा से खिंच कर, राग नामक विष में बुझे विषयरूप बाणों से हमें बींधता है । यत्किंचित् भोग से अभी कष्ट नहीं, अत्यंत चपलता से कष्ट है । अपनी पत्नी से प्रेम है यह दिक्कत नहीं, *'युवतिनाम्'* (बहुवचन विवक्षित है) की कामना से परेशानी है । मर्यादित भोगेच्छा कथंचित् पूरी भी की जा सके किंतु अभी हमारी स्थिति है *'झटिति अटति'* शीघ्रता से आकांक्षाएँ बदलते रहना ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् को '*कपालिन्*' से सम्बोधित किया। वह यह याद करने के लिये कि वे पाँच छेदों वाले कपाल को वर्तन बनाकर उसी में भोजन कर लेते हैं। उसमें कितना कम तो आ सकता है और उसमें से भी कितना तो बह ही जायेगा; फिर भी उतने से ही काम चला रहे हैं। हमें भी इसी तरह कम सामग्री से गुजारा चलाने का प्रयास करते रहना चाहिए। '*भिक्षु*' कहकर भगवान् को बताया कि इस बन्दर को आप पकड़ कर अपने हिसाब से नचायेंगे तो आपको भिक्षुक नहीं रहना पड़ेगा। तात्पर्य है कि हम विषयों से सुख की भीख माँगते फिर रहे हैं, पर मन भगवान् के अनुकूल हो जाये तो हमारा यह भीख माँगना निवृत्त हो जाये। बाँधने का साधन भी बता दिया — भक्ति। भक्ति तो मुझमें- साधक में- रहनी है क्योंकि भजनीय की प्रसन्नतार्थ भजमानव्यक्ति जो करे वही भक्ति है, उससे बाँधने के लिए भगवान् से कहा: '*बद्ध्वा कुरु*'। इससे शरणागति बता दी कि मुझमें रहने वाली भक्ति से भी मैं अपने मन को बाँध पाने में असमर्थ हूँ, अतः यह बन्धन भी आप ही करिये। साथ ही भक्तिप्राप्ति की भी प्रार्थना हो गयी; भक्ति होगी तभी उससे बाँधा जा सकेगा। '*विभु*' कह कर भगवान् की ऐसा कर सकने की सामर्थ्य बतायी और '*शिव*' से सूचित किया कि भक्ति का,-प्रेम का, विषय बनने की आपकी स्वाभाविक योग्यता से यह काम कठिन भी नहीं है। '*तस्यैवाहम्*' मैं उसीका हूँ; इस शरणागति में मेरी प्रधानता है। अतः अपनी ही स्थिति का चित्रण किया है। देवी भगवत की (७.३७.७) दृष्टि से इसे राजसी भक्ति समझा जा सकता है:

'भेदबुद्ध्या तु मां स्वस्मादन्यां जानाति पामरः। तस्य भक्तिः समाख्याता नगाधिप तु राजसी'॥

अभी भेददृष्टि दृढ है। साथ ही अपनी वर्तमान दशा की चिन्ता है और मेरे मन को भगवान् अपने नियन्त्रण में लें जिससे मेरा मोहाटवी में भटकना बन्द हो यह प्रार्थना है। यही प्रारंभिक स्थिति है ॥२०॥

शरणनिःश्रेणि पर कुछ ऊँचा चढ़ने पर स्वयं में कुछ योग्यता पाते हैं, '*नटति अटति*' की स्थिति समाप्त हो चुकती है और हिम्मत बाँधकर साक्षात् भगवान् को निमन्त्रण देने में भी संकोच नहीं होता। अब वे आयें तो बन्दर की हरकतें उन्हें परेशान नहीं करेंगी। इस स्थिति को '*ममैवासौ*' इस शरणागतिभेद को बताने के लिए प्रकट करते हैं—

धृतिस्तम्भाधारां दृढगुणनिबद्धां सगमनां
विचित्रां पद्माढ्यां प्रतिदिवससन्मार्गघटिताम्।
स्मरारे मच्चेतःस्फुटपटकुटीं प्राप्य विशदां
जय स्वामिन् शक्त्या सह शिवगणैः सेवित विभो ॥२१॥

स्मरारे = हे कामदेव के नाशक!, स्वामिन् = हे अधीश्वर!, शिवगणैः = (हे) शिवगणों द्वारा, सेवित = सेवित!, विभो = हे व्यापक तत्व! (आप), शक्त्या = अपनी शक्ति (पार्वती) सहित, मच्चेतःस्फुटपटकुटीम् = मेरे मनरूप उजले तम्बू में, धृतिस्तंभाधाराम् = जो धैर्य रूप आधारभूत खम्बे पर टिका है, दृढगुणनिबद्धाम् = स्थिर सद्गुण रूप रस्सियों से बँधा है, विचित्राम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

= रंग बिरंगा है, पद्माढ्याम् = कमलों से सजा है, विशदाम् = विस्तीर्ण है, सगमनाम् = इधर-उधर ले जाया जा सकता है तथा, प्रतिदिवससन्मार्गघटिताम् = अच्छे रास्ते पर (बढ़ते हुए) प्रतिदिन (किसी न किसी पड़ाव पर) ताना जाता है, प्राप्य = आकर, जय = विजयी बनें ।

'ममैवासौ' वे मेरे ही हैं ; इसमें *'असौ'* —वह — भगवान् प्रधान हैं । अतः उनके योग्य जैसा तम्बू होना चाहिए वैसा वर्णित है । अपनी स्थिति प्रकट करना, अपनी अच्छाई ख्यापित करना यहाँ विवक्षित नहीं किन्तु भगवान् के योग्य हूँ, यह बताना अभीष्ट है । भेद बुद्धि अभी भी है, किन्तु पूर्ववत् चंचलता और तत्कृत विकलता नहीं । देवीभागवत की (७.३७.८-९) दृष्टि से इसे सत्त्विक भक्ति समझ सकते है :

'परमेशार्पणं कर्म पापसंक्षालनाय च । वेदोक्तत्त्वादवश्यं तत् कर्तव्यं तु मयाऽनिशम् ॥

इति निश्चितबुद्धिस्तु भेदबुद्धिमुपाश्रितः । करोति प्रीतये कर्म भक्तिः सा नग ! सात्त्विकी' ॥

पटकुटी के स्फुटत्व से- उजलेपन से- पापसंक्षालन, धृतिस्तंभ से *'कर्तव्यन्तु'* इत्यादि और *'निबद्धाम्'* से परमेश्वरार्पणता की ध्वनि मिलती है । चित्त यहाँ रहने योग्य तम्बू है, आगे किला बन जायेगा (४२) । वहाँ भी गांभीर्य, धृति (धैर्य), उद्गुण आदि विशेषताएँ कही जायेंगी । ऐसे ही हृदय बगीचा (आराम) भी बनेगा (४७) जिसमें पाप नहीं होंगे, पुण्य होंगे, गुण, सद्वासनाएँ होंगी । अतः जहाँ भी भगवान् के टिकने योग्य मन बताया है वहाँ समान विशेषताएँ बतायी हैं । हम इन विशेषताओं को अपने में लायें, यह विधित्सित है । *'प्रतिदिवस'* कहकर अपनी उन्नति का हमें नित्य पता चलना चाहिये यह बताया । जैसे हर कवल खाने से भूख मिटती है ऐसे ही भक्ति की हर अभिव्यक्ति से भगवत्प्रेम में अभिवृद्धि और भगवान् में तल्लीन होने से प्राप्य आनन्द में बढ़ोतरी का अनुभव होना चाहिये । न हो तो उसके लिये प्रयासशील होना चाहिए । प्रयास का प्रकार उक्त देवीभागवत के श्लोकों में स्पष्ट किया है । *'सगमनाम्'* से इसी प्रयासपूर्णता को बताया है, पटकुटी कहीं रुक नहीं गयी है, बढ़ हीं रही है । मन के उल्लास को विचित्र और पद्माढ्य से कहा । रोते से मन में भगवान् क्या आकर रहेंगे ? उनके लायक उत्फुल्ल मन ही है । भक्तिमार्ग में प्रगति न होने आदि से इतना दुःखी नहीं होना चाहिए कि सात्त्विकता न रह जाये । *'सत्त्वं सुखे सञ्जयति'* (१७.९) आदि गीता से निश्चित है कि सात्त्विक स्थिति में सुख होता है । भक्त को सात्त्विक रहने का प्रयास करना ही चाहिये । किन्तु विषयसुखों से यह स्थिति न हो इसके लिये सद्गुणों को बता दिया और इस प्रकार के सुख के लिए परमावश्यक धैर्य का परिगणन किया । भगवद्भक्त का सत्कार करना भी भक्ति का अनिवार्य अंग है । अष्टविधभक्ति का प्रारंभ ही सौरपुराण में किया है *'मद्भक्तजनवात्सल्यम्'* से (११.१६) । सूतसंहिता (१.६) आदि में भी इसकी आवश्यकता पर बल दिया है । *'वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या' (उद्ध गी. ६.४४)* आदि से भागवत में भी इसे भगवत्पूजा के अन्तर्गत माना है । इसी दृष्टि से भगवान् के साथ ही उनके गणों को भी निमन्त्रित समझना चाहिए ॥२१ ॥

शरणागति का चरम स्तर है *'स एवाहम्'* मैं वही परमेश्वर हूँ । अहंपर्यन्त अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों पर न्योछावर करने में भ्रम-निवृत्ति की आवश्यकता है । पहले (२०) अपने आंतरिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपद्रव शान्त किये, फिर (२१) भगवान् को निमन्त्रित किया, अब उन्ही का एकाधिकार स्थापित करते हुए शरणागति के प्रसंग का उपसंहार करते हैं—

प्रलोभाद्यैरर्थाहरणपरतन्त्रो धनिगृहे
प्रवेशोद्युक्तः सन् भ्रमति बहुधा तस्करपते ।
इमं चेतश्चोरं कथमिह सहे शंकर विभो
तवाधीनं कृत्वा मयि निरपराधे कुरु कृपाम् ॥२२॥

तस्करपते = हे चोरों के अध्यक्ष !, **शंकर** = हे शंकर !, **विभो** = हे विभु !, **इमम्** = इस, **चेतश्चोरम्** = मन रूप चोर को, **इह** = इस (साधक) जीवन में, **कथम्** = कैसे, **सहे** = सहन करूँ ? (यह), **प्रलोभाद्यैः** = प्रलोभ आदि द्वारा, **अर्थाहरणपरतन्त्रः** = धन इकट्ठा करने के (मानो) पराधीन है (व), **धनिगृहे** = धनिकों के घरों में, **प्रवेशोद्युक्तः** = घुसने की कोशिश करते, **सन्** = हुए, **बहुधा** = तरह-तरह से, **भ्रमति** = घूमता रहता है । (इसे आप) **तव** = अपने, **अधीनम्** = नियन्त्रण में, **कृत्वा** = करके, **मयि** = मुझ, **निरपराधे** = निरपराध पर, **कृपाम्** = कृपा, **कुरु** = कीजिए ।

यहाँ अपनी निरपराधता का बोध हुआ है अतएव अपराधकलंकशून्य से अपने अभेद की सूचना समझनी चाहिए । इसे ही '*शरणं व्रज*' (१८.६६) से गीता में बताया है । यदि यह प्रामाणिक (प्रमाणजन्य, प्रमारूप) बोध है तब इसे ज्ञानलक्षणा भक्ति में समझ लेना चाहिये । किन्तु यदि अभी वैसा निर्विचिकित्स दृढ निश्चय नहीं तब इसे उत्तम शरणागति समझना चाहिए । चोर अहमात्मा नहीं, इदमात्मा है और उसपर (इदमात्मा पर) भूतमहेश्वर का शासन है अतः इस चोर की गिरफ्तारी उनका काम है, मुझे तो यही कहना है कि आपके राज्य में ऐसे चोर यों घूमें यह मैं सहन नहीं करूँगा '*कथमिह सहे ?*' तात्पर्य है कि यतः अब इसमें संशय नहीं कि मेरा भगवान् से अभेद है, '*सकलमहमिदं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः*' (*विष्णुपु ३.७.३२*), इसलिये इस चेतश्चोर के भ्रमण को मैं कैसे सहन कर सकता हूँ ? इसका भ्रमण जल्दी ही समाप्त कर दिया जायेगा । क्योंकि यह मोहाटवी (२०) में ही भ्रमण है इसलिये प्रमाणसिंह का हमला ही अपेक्षित होने से वेदान्तकेसरी का सहारा लेने को मैं तैयार हूँ, यह भाव है । कामादि शत्रु विवेक का हरण करते हैं जिससे हम मारे जाते हैं, ऐसा भट्ट जगद्धर ने भी प्रलाप किया है—

'सर्वस्वमेव मम दत्तमहाप्रहारा हारामलं हर ! हरन्त्यरयो विवेकम् ।
रक्षाकरी तव कृपाऽत्र कृतावहारा हा राजशेखरमणेः पुरतो हतोऽहम्' ॥ ९.४१ ॥ [*हारवदमलं हारामलं विवेकम् । कृतोऽवहारोऽवहेलना मम तिरस्कारो यया तव कृपया सा कृतावहारा ।*] अपनी अपराधरहितता के इस बोध को ही उद्धव गीता में (९.१८-१९) 'प्रगल्भ भक्ति' कहा है :

'बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथाग्निःसुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया भक्तिः उद्धवैनांसि कृत्स्नशः' ॥ प्रगल्भ भक्ति के स्वरुप में कोई शंका न रह जाये इसीलिये भगवान् ने ज्ञानाग्नि की सूचना देते हुए अपने ही इस पूर्वोपदेश का स्मरण करा दिया है '*यथैधांसि समिद्धोग्निः भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा* ' ॥ *गी. ४.३७* ॥

अभी तक हम '*आहरणपरतन्त्र* ' हैं, कुछ लाकर अपने से जोड़ना चाहते हैं, उसी से अपना कल्याण संभव समझते हैं । इससे हट कर 'निरपराध'— अपराध से तीनों कालों में असम्बन्ध— को समझना है । ऐसे ही बाहर '*धनिगृहे*' लाभ के लिए हम जाते हैं जबकि लाभ अन्दर '*इह*' है; यहीं समस्त धन है तब बाहर जाना कैसे सहन करें ? पहले तो चित्त बन्दर था, स्वभाव से चंचल था, पर अब चोर है, जान बूझ कर किसी प्रयोजन से परेशान करता है । यदि प्रयोजन यों ही सिद्ध हो जाये तो चोरी का जोखम क्योंकर उठायेगा ? किंच प्रसिद्ध है कि जो व्यक्ति चोर को पहचान लेता है, उसे चोर तंग नहीं करता । मन भी यदि इस प्रकार पहचान लिया गया तो हमें कष्ट नहीं देगा यह भी सूचना समझनी चाहिए ॥ २२ ॥

नौ श्लोकों से (१४-२२) शरणागति का उपदेश दिया । अब भावनाविशेष व क्रियाविशेष होने से

'*भावनाजं फलं यत्स्याद्यच्च स्यात्कर्मणः फलम् । न तत्स्थास्न्विति विज्ञेयं द्रविडेष्विवसंगतम्*' ॥
आदि न्याय से (नैष्कर्म्य सिद्धि ३.९३) भक्ति का फल सान्त है यह सूचित करते हैं—

करोमि त्वत्पूजां सपदि सुखदो मे भव विभो
विधित्वं विष्णुत्वं दिशसि खलु तस्याः फलमिति ।
पुनश्च त्वां द्रष्टुं दिवि भुवि वहन् पक्षिमृगता-
मदृष्ट्वा तत्खेदं कथमिह सहे शङ्कर विभो ॥ २३ ॥

विभो = हे शासक !, शंकरविभो = हे व्यापक शंकर !, त्वत्पूजाम् = आपकी पूजा, करोमि = करता हूँ । मे = मुझे, सपदि = जल्दी ही, सुखदः = आत्यन्तिक सुख देने वाले, भव = बनिये । खलु = यदि, तस्याः = उस पूजा के, फलम् = फल, इति = रूप से, विधित्वम् = ब्रह्मा (या), विष्णुत्वम् = विष्णु, दिशसि = बना दिया, पुनः = तो, त्वाम् = आपको, द्रष्टुम् = देखने के लिये, दिवि = आकाश में (तथा), भुवि = पृथिवी पर, पक्षिमृगताम् = हंस या वराह रूप, वहन् = लेकर, च = फिर भी (आपको), अदृष्ट्वा = न देखकर, तत् = उस अदर्शन से (होने वाले), खेदम् = कष्ट को, इह = संसार में, कथम् = कैसे, सहे = सहूँगा ?

भक्ति का वास्तव फल ब्रह्मादि बनना नहीं, भगवान् का नित्य दर्शनादि है । अतः ब्रह्मादि भी दर्शन चाहते हैं । किन्तु कदाचित् उन्हें भी वह मिलता नहीं । ऐसे ही मुझे भी उसका न मिलना सहना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही होगा । इससे भक्तिमात्र की अनित्यफलता बता दी । नित्य फल— जो नित्य होने से फल नहीं भी है— केवल कैवल्य होने से और वह केवल ज्ञान से होने से साधनान्तर स्वयं अस्थायी फल वाले ही हैं । अतः भक्ति आदि साधनों से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह प्रेरणा है । किन्तु यदि ज्ञान का अधिकार न हो तो भी भक्ति करनी ही चाहिए और उसका फल पा ही लेना चाहिए यह बात क्रम से '*करोमि त्वत्पूजाम्*' तथा '*सुखदो भव*' से स्पष्ट की है । '*करोमि*' इस वर्तमान निर्देश से कहा कि भक्ति सदा करनी चाहिये, यह हो चुक नहीं जाती । '*त्वद्भक्तिम्*' न कह कर '*त्वत्पूजाम्*' कहने का तात्पर्य है कि भक्तिवशात् पूजा करनी चाहिए । भक्ति को अभिव्यक्त करना साधना है । अभिव्यक्ति स्थूल व सूक्ष्म दोनों हो सकती है पर होनी अवश्य पड़ेगी । भक्ति या तो साक्षात् पूजादिरूप में और या जिज्ञासा द्वारा श्रवणादिरूप में प्रकट होती है यह सिद्धान्त है । भगवान् को ही सुख देने वाला बनने को कहा है । कारण है कि यदि वे सुख न दें तो सुख लेने योग्य ही नहीं । भक्त उपमन्यु ने कहा ही है '*अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा*' *(अनु. दान. १४.१८०)* । उत्पलदेव ने भी घोषणा की है '*त्वत्पराची विभो मा भूदपि सौख्यपरम्परा*' *(शिवस्तो. १६.२०)* । अत एव '*सुखमस्तु*' की जगह '*सुखदो भव*' कहा । क्योंकि शरणागति में ही कह आये हैं कि मेरा श्रम न हटाने में आपकी रुचि हो तो भी मैं कृतार्थ ही हूँ (१९), इसलिए यहाँ सांसारिक या पारलौकिक वैषयिक सुख की माँग नहीं पेश की जा रही किन्तु भगवान् के अनवरत दर्शनादि के सुख की प्रार्थना है । यह सुख जीवित रहते भी मिल सकता है व मरकर भी । जीवित रहते पूजा, भक्तसेवा, कथाश्रवण, लीलादर्शन आदि से यही प्राप्त होता है व मरकर दिव्य लोकों में इष्टसान्निध्य में भी यही सुख मिलता है । स्वर्गादि की तरह शिवलोकादि को व्यावहारिक ही समझना चाहिए । कर्ममात्र से दुर्लभ होने के कारण उनकी दिव्यता है । अर्थवाद, पुराण आदि प्रमाणों से इन दिव्य लोकों को स्वीकारना ही संगत है । कोई हेतु नहीं जिससे माना जाये कि अनुभूयमान पृथ्वी से अतिरिक्त भोगलोक नहीं हैं । चन्द्रमा अनेक हैं, उनमें केवल पृथ्वी सम्बन्धी चन्द्रमा पर जीवनानुपलब्धि से चन्द्रलोक की भोगलोकता सन्दिग्ध नहीं हो सकती । किं च पृथ्वी से इतर लोकों में जीवदेह ऐसे ही हों जैसे पृथ्वी पर होते हैं, यह भी नियम नहीं । अतः लोकान्तर मानना ही उचित है । व्यापक होने पर भी भक्तों पर कृपा कर किसी देशविशेष में मायिक देहविशेष लेकर इष्ट की अवस्थिति भी स्वीकार्य ही है ॥२३॥

अब तीन श्लोकों से भक्तिप्राप्य उत्कर्ष को प्रकट करते हैं । कैवल्यमोक्ष से अतिरिक्त नाना प्रकार के मोक्ष प्रसिद्ध हैं । सुखातिशय से उनमें मोक्ष शब्द औपचारिक है । अथापि वे प्रार्थनीय तो हैं ही तथा यदि भक्ति ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर पायी तो उन्हें ही प्रदान करेगी —

कदा वा कैलासे कनकमणिसौधे सहगणै-
र्वसन् शम्भोरग्रे स्फुटघटितमूर्धाञ्जलिपुटः ।
विभो साम्ब स्वामिन् परमशिव पाहीति निगद-
न्विधातृणां कल्पान् क्षणमिव विनेष्यामि सुखतः ॥२४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैलासे = कैलास पर, कनकमणिसौधे = मणिजटित स्वर्णमहल में, गणैः = गणों के, सह = साथ (सेवा में), वसन् = उपस्थित रहते हुए, शम्भोः = भगवान् शंकर के, अग्रे = सामने, स्फुटघटितमूर्धाञ्जलिपुटः = सिर पर ढंग से अंजलि बाँधकर, विभो = 'हे विभु !, साम्ब = हे अम्बा समेत शंकर !, स्वामिन् = हे स्वामिन् !, परमशिव = हे परमशिव !, पाहि = मेरी रक्षा कीजिये', इति = इस प्रकार, निगदन् = प्रार्थना करते हुए, विधातृणाम् = अनेक ब्रह्माओं के, कल्पान् = कल्पों को, सुखतः = अत्यधिक सुख से, क्षणम् = एक क्षण की, इव = तरह, वा = आखिर, कदा = कब, विनेष्यामि = विताऊँगा ?

यहाँ सालोक्य मुक्ति का वर्णन है । विशिष्ट देह ग्रहण कर इष्ट जिस लोक में निवास करें उसी लोक में रहना सालोक्य मुक्ति है । कैलास की शिवलोकता प्रसिद्ध है । भूकैलास भी उत्तम होने से कैलास कहा जाता है । यहाँ तो कैलास लोकविशेषपरक है । इष्टसम्बन्धी होने से दिव्य लोकों का समस्त परिवेश सुन्दर व मनोरम है । यद्यपि 'यहाँ ' और 'वहाँ ' समानता ही है : *'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'* (क. ४.१०), तथापि जैसे यहाँ साधनसम्पन्न लोगों का परिवेश सुन्दर व साधनविहीन लोगों का भौंडा होता है वैसे उपासना(भक्ति) रूप साधन से प्राप्य लोक भी सुन्दर हो इसमें कोई विसंगति नहीं । वस्तु आदि की प्राप्ति में धन ही एकमात्र साधन माना जाये यह आग्रह व्यर्थ है । शास्त्रोक्त कर्म व उपासनाएँ भी उस प्रकार की उपलब्धियों के साधन हैं । यद्यपि कदाचित् पृथ्वी पर ही सब तरह के भोगों की संभावना बता दी जाती है तथापि वह केवल समझाने के लिये है, लोकान्तर का निषेध करने के लिये नहीं, यह जान लेना चाहिये । यद्यपि लौकिक प्रेम एकाधिकार चाहता है तथापि भगवत्प्रेम ऐसा नहीं, यह '*सह गणैः*' कह कर स्पष्ट किया । 'मैं अकेला ही भगवान् के साथ रहूँ ' यह कामना नहीं है, किन्तु और भी सब भगवद्भक्त वहाँ हों यही आशीः है । इसमें एक समष्टिभाव व सब ' पशुओं ' के प्रति आत्मीयता झलकती है । सालोक्य परम पुमर्थ नहीं यह बताने के लिये वहाँ भी '*पाहि*' की रट रह जायेगी यह बताया । भक्ति से प्राप्य सालोक्यादि फल बहुत लम्बे समय तक बना रहता है यह '*विधातृणां कल्पान्*' से सूचित किया । शास्त्र पर ऐसा कोई अंकुश नहीं कि विस्तृत पद्धति से नाना सामग्रीसाध्य सोमादि यज्ञों का फल अधिक स्थायी ही हो और पत्र, पुष्प, फल, तोय या केवल नमन, जप, ध्यान से साध्य भक्ति का फल कम स्थायी हो । क्योंकि यथार्थ स्थिति बताना शास्त्र का कार्य है इसलिये यदि भक्ति का फल अधिक स्थायी है तो उसे वैसा ही बताना होगा । इन विषयों को यथाशास्त्र ही समझ लेना चाहिये । कश्मीर के उत्तम माहेश्वर उत्पलदेव ने (स्तो. ९.८) भी कहा है

'तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां भवत्पूजामयात्मनाम् । दृष्ट्यानुमोदितरसाप्लावितः स्यां कदा विभो' ॥

सभी जन्तु आपकी पूजा में मग्न हैं ऐसा देखते हुए कब सुखी बनूँगा ? ॥२४ ।।

अब सामीप्यरूप मुक्तिविशेष को दिखाते हैं—

स्तवैर्ब्रह्मादीनां जय जय वचोभिर्नियमिनाम्

गणानां केलीभिर्मदकलमहोक्षस्य ककुदि ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थितं नीलग्रीवं त्रिनयनमुमाश्लिष्टवपुषं
कदा त्वां पश्येयं करधृतमृगं खण्डपरशुम् ॥२५॥

ब्रह्मादीनाम् = ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा की जा रही, स्तवैः = स्तुतियों से, नियमिनाम् = संन्यासियों के, जय जय वचोभिः = 'जय हो ! जय हो !' ऐसे वचनों से, गणानाम् = सेवकों के, केलीभिः = खेलों से (रिझाये जाते हुए, तथा), मदकलमहोक्षस्य = अत्यन्त उत्साह वाले विशाल वृषभ के, ककुदि = कन्धे पर, स्थितम् = विराजमान, उमाश्लिष्टवपुषम् = पार्वती से सटे शरीरवाले, करधृतमृगम् = हाथ में मृग धारण किये, खण्डपरशुम् = टूटे फरसे वाले, त्रिनयनम् = तीन नेत्रों वाले, नीलग्रीवम् = नीलकण्ठ, त्वाम् = आपको, कदा = कब, पश्येयम् = देखूँगा ?

'पश्येयम्' से निकटवर्तितारूप सामीप्य को सूचित किया है । निकटता के कारण ही यहाँ भगवान् के विषय में अधिक विशेषताएँ ज्ञात हैं । साथ ही इस प्राप्ति के साधनों को भी ध्वनित किया है : *'नीलग्रीवम्'* से तप, *'त्रिनयनम्'* से विवेक, *'खण्डपरशुम्'* से वैराग्य, *'करधृतमृगम्'* से शम आदि, *'उमाश्लिष्टवपुषम्'* से सदा भक्तिनिश्चययुक्त रहना, *'मदकलमहोक्षस्य'* से धर्ममार्ग पर स्थित रहना, *'नियमिनां वचोभिः'* से सत्संग तथा *'ब्रह्मादीनां स्तवैः'* से कीर्तनादि साधनों के अनुष्ठान की प्रेरणा है । बृहन्नारदीयपुराणान्तर्गत स्थित वेदपादशिवस्तव में (७६) जैमिनि महर्षि ने भी कहा है —

'प्रमथेन्द्रावृतं प्रीतवदनं प्रियभाषणम् । सेविष्येहं कदा साम्ब सुभासं शुक्रशोचिषम्' ॥

सार्ष्टि (भगवन् के समान ऐश्वर्य वाला होना) व सारूप्य (भगवान् के समान पंचमुखादिरूप वाला होना) मोक्षविशेषों की इस प्रसंग में उपेक्षा समझनी चाहिये ॥२५॥

मुख्य ऐक्यलक्षण सायुज्य भक्तिमात्र से अलभ्य होने से सामीप्यातिशय संयोगादिलक्षण सायुज्य मोक्ष का वर्णन करते हैं—

कदा वा त्वां दृष्ट्वा गिरिश तव भव्याङ्घ्रियुगलं
गृहीत्वा हस्ताभ्यां शिरसि नयने वक्षसि वहन् ।
समाश्लिष्याघ्राय स्फुटजलजगन्धान् परिमलान्
अलभ्यां ब्रह्माद्यैर्मुदमनुभविष्यामि हृदये ॥२६॥

गिरिश = हे पर्वतवासी !, त्वाम् = आपको, दृष्ट्वा = देखकर, तव = आपके, भव्याङ्घ्रियुगलम् = दोनों दिव्य चरणों को, हस्ताभ्याम् = अपने दोनों हाथों से, गृहीत्वा = पकड़कर, शिरसि = सिर पर, नयने = आँखों पर (व), वक्षसि = हृदय पर (उन्हें), वहन् = स्पर्श कराते हुए, समाश्लिष्य = उनका आलिंगन कर, स्फुटजलजगन्धान् = खिले कमल की गन्ध वाले, परिमलान् = सौरभ को, आघ्राय = सूँघकर, ब्रह्माद्यैः = ब्रह्मा आदि को (भी), अलभ्याम् = अप्राप्य, मुदम् = आनन्द का, हृदये = हृदय में (मैं), वा = आखिर, कदा = कब, अनुभविष्यामि = अनुभव करूँगा ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वश्लोक में '*पश्येयम्*' कहा था, अब उस दर्शन के बाद के कृत्यों को बताया है । चरणों की कमलसे समानता है । कमल पंकस्थित होकर भी उससे अलिप्त रहता है, भगवान् के चरण भी संसार में रहते हुए—'*पादोस्य विश्वा भूतानि*'— इससे ऊँचे ही रहते हैं— '*अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्*' । उनका सहारा लेने से हम भी संसारसागर से उबर सकते हैं । इसलिये श्रीदक्षिणामूर्ति का एक पैर नीचे लटकता है कि हम उसका सहारा ले सकें। यही अङ्घ्रि की भव्यता है । क्रियाशक्ति का प्रतीक हाथ है । ज्ञान तो '*दृष्ट्वा*' से भगवन्निष्ठ किया जा चुका है, अब क्रिया भी कर दी है । भक्तिप्राप्य उत्कर्ष की इस पराकाष्ठा में प्रत्येक ज्ञान व प्रत्येक क्रिया भगवत्सम्बन्धी है इसलिये आनन्द बना रहता है । लोक में भी प्रियसम्बन्धी ज्ञान व क्रिया करते हुए आनन्द प्रसिद्ध है । यद्यपि पहले ही भगवत्प्रेम अतिगाढ हो चुका तथापि अकम्प्य निष्ठा का यही अवसर है यह बताने के लिये '*शिरसि*' अर्थात् बुद्धि में व '*वक्षसि*' अर्थात् मन में भगवान् को '*वहन्*' ढोते हुए रहना कहा है । जीवन मार्ग पर ले चलने वाले को नयन कहते हैं, उसके सामने भी एक मात्र शिवपादपद्म ही रहें, यह '*नयने*' से बताया। इससे विक्षेपन्यूनताकृत अतिशय को ही समझना चाहिये । भगवान् के 'चरण' का आलिंगन यही है कि वे जैसे स्वरूपानन्द में स्थित रहते हुए क्रीडा भी कर लेते हैं वैसे हम भी कर लें । आत्मार्पणस्तुति में कहा है '*विज्ञातं ते चरितमखिलं विप्रलिप्सो कपालिन् !.... न ते पादपद्मं त्यजामि*' (४२) । बाधप्रक्रिया का यह मार्ग नहीं । यहाँ तो :

'*त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेव तदेव तु। त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः*'॥

यह उत्पलदेव का (स्तो. १२.१२) वचन अनुसरणीय है । अथवा, आगमान्तों में संचारी होने से आगमान्तों के श्रवणादि को ही समालिङ्गन समझना चाहिये । तभी परममोक्षसाधना प्रवृद्ध हो सकती है ।

सौरभ आकर्षणार्थ होता है, स्वयं में किसी फल वाला नहीं, अतः यहाँ भी भगवच्चरणारविन्द के सौरभ से हम आकृष्ट हो अत्यन्त अभेदरूप रसके इच्छुक बनें यह भाव है । परिमल सूँघ लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये । गौडाचार्य ने इसी दृष्टि से '*नास्वादयेत्सुखं तत्र*' कहा है । दर्शनजन्य सुख प्रिय व प्राप्तिजन्य सुख मोद आनन्दवल्ली में सूचित है । यहाँ भी '*गृहीत्वा*' से प्राप्ति बतायी जा चुकी है अतः '*मुदम्*' से मोद समझना चाहिये ।

इस प्रकार साधक का वर्णन यहाँ तक किया । मुझमें शिवानन्दलहरी प्रवाहित हो रही है जिससे मैं आपका भजन करता हूँ व चिरकाल तक करते रहना चाहता हूँ । मेरी कोई योग्यता नहीं तथा बुद्धिविलास को मैं घोरशमन का परिहर्ता नहीं मानता । मेरी इन्द्रियाँ आपकी सेवा में रहें यही मेरी अभिलाषा है । मैंने अपने साध्य व साधन के विषय में निर्भ्रान्त निर्णय कर लिया है तथा ऐसी लगन पा ली है कि चाहे जिस अवस्था में मैं इष्टलाभ के लिये प्रयास कर सकता हूँ । स्वयं संसार असार है व आप ही उसके सार हैं इस ज्ञान से मैं कार्पण्यदोष की निवृत्ति के लिये आपकी कृपा का प्रार्थी हूँ क्योंकि आपकी कृपा के बिना साधनमार्ग में गति असंभव है । अतएव मैं आपकी शरण में आ गया हूँ । एवं च बाइसवें श्लोक तक साधक की साधनावस्था बताकर उसी की सिद्धावस्था का वर्णन छब्बीसवें श्लोक तक किया । अब अत्यन्त सन्निहित होने से परमेश्वर का प्रसंग उपस्थित होता है । यद्यपि पूर्व में (१,३,१६ आदि) भी परमेश्वरवर्णन किया जा चुका है व आगे भी (५०-५६, ६४,८० आदि) किया जाना है तथापि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्राधान्येन सत्ताइसवें से पैंतीसवें श्लोक तक भगवद्वर्णन है, पूर्व का व अनन्तरस्थित वर्णन भक्तिशेषतया समझना चाहिये ॥२६ ॥

'*भक्तिर्भजनं कायेन मनसा वाचा वा निष्पाद्यो भजनीयस्य तुष्टिहेतुर्व्यापारो भजमानपुरुषनिष्ठः*' (*न्या. रत्न. पृ. ३१३; प्र. द्वा. MRI*) — भक्ति का यह स्वरूप ब्रह्मानन्दस्वामी ने स्पष्ट किया है । भजमानपुरुष का विस्तार से व्याख्यान कर भजनीय का वर्णन प्रारंभ करते हैं—

करस्थे हेमाद्रौ गिरिश ! निकटस्थे धनपतौ
गृहस्थे स्वर्भूजामरसुरभिचिन्तामणिगणे ।
शिरस्थे शीतांशौ चरणयुगलस्थेऽखिलशुभे
कमर्थं दास्येऽहं भवतु भवदर्थं मम मनः ॥२७ ॥

गिरिश = हे पर्वतवासी !, **हेमाद्रौ** = स्वर्णमय मेरु के, **करस्थे** = हाथ में स्थित होने पर, **धनपतौ** = धनपति कुबेर के, **निकटस्थे** = (सेवकरूप से) निकट स्थित होने पर, **स्वर्भूजामरसुरभिचिन्तामणिगणे** = स्वर्ग की भूमि में उगने वाले दिव्य वृक्षों, दैव-गाय और यथेष्टप्रद मणिसमूहों के, **गृहस्थे** = घर में स्थित होने पर, **शीतांशौ** = चन्द्रमा के, **शिरस्थे** = सिर पर स्थित होने पर, **अखिलशुभे** = समस्त शुभ वस्तुओं के, **चरणयुगलस्थे** = दोनों चरणों में स्थित होने पर, **भवदर्थम्** = आपके लिये, **कम्** = किस, **अर्थम्** = वस्तु को, **अहम्** = मैं, **दास्ये** = दूँ ?, [**भवदर्थम्** = आपके लिये], **मम** = मेरा, **मनः** = मन, **भवतु** = होवे ।

भगवान् हर दृष्टि से परिपूर्ण हैं । स्वरूपानन्द तो निरवच्छिन्न है ही, विषयभूमिका में भी कहीं कोई कमी नहीं है । शौकीन लोग आराम से कुछ समय बिताने कि लिये पहाड़ों पर जाते हैं पर महादेव तो हैं ही गिरिश !इससे बेहतर आवासव्यवस्था संभव नहीं । समस्त धनों के अधिपति यक्षराज सेवा में उपस्थित हैं अतः धन की कमी नहीं । आवश्यकता पड़ने पर कुबेर के कोठार से वस्तु आने की प्रतीक्षा न करनी पड़े अतः स्वर्ण का पहाड़ हाथ-खर्च के लिये रख छोड़ा है । सौन्दर्य में कमी की शंका भी संभव नहीं क्योंकि स्वयं चन्द्रमा शृङ्गार बना हुआ है । वस्तुतस्तु यहाँ योजना विपरीत ही समझनी चाहिये— करस्थ होने से हेमाद्रि की महार्घता है, निकटस्थ होने से धनपति की महत्ता है इत्यादि । नाना प्रकार के भक्तों की दृष्टि से भगवान् के नाना स्वरूप हैं जिनका यहाँ वर्णन है । कुछ भक्त भोगविलास की सामग्री में श्रद्धालु होते हैं उनके लिये यह वर्णन है । कुछ लोग बड़प्पन से आकृष्ट होते हैं उनकेलिये वैसा स्वरूप है(३०) । अन्यों को दुःखियों का उपकार करने वाले के प्रति भावना बनती है तो उस स्वरूप को बताया(३१) । दूसरे भक्त वीरताप्रिय होते हैं अतः वैसा वर्णन है(३४) । आधार एक ही है '*उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना*' । यह कल्पना अस्मदादिकृत नहीं, स्वयं परमात्मा ने ही की है; जैसे पर्वत, सरिता, वन आदि की कल्पना है वैसे ही इन रूपविशेषों की भी है; अतः व्यवहारसिद्ध्यर्थ जैसे मृदादि हैं वैसे ये सब रूप भी हैं और उसी प्रकार श्रद्धेय हैं । अत एव अत्यन्त धनी होना— जैसा प्रकृत श्लोक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में कहा है और अत्यन्त दरिद्र होना— जैसा आगे (८७) कहेंगे, दोनों युगपत् संभव है । '*अपि भैक्ष्यचरो महेश्वरः*' (*स्तुतिकद पृ.१८*)— ऐसा उपमन्यु ने भी शिवस्तोत्र में कहा है । इसीलिये वे हमारा चढ़ाया लुटिया भर दूध ग्रहण भी कर लेते हैं और भक्त को क्षीरसागर प्रदान भी करते हैं, सूर्यादि को प्रकाशित करने वाले हैं पर हमारे दीपक को स्वीकारते भी हैं :

'दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि दीपं त्रिधामनयनोप्युररीकरोषि ।

वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात्' ॥स्तु.कु.११.१४ ॥

क्या आश्चर्य कि कालिदास को कहना पड़ा '*न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः*' । अत्यन्तविरुद्ध-धर्माक्रान्तत्त्व भगवान् को सर्वसुलभ बना देता है । यह शंका व्यर्थ है कि कल्पित रूप आदि की उपासना सफल कैसे ? कारण कि सफलता-असफलता कल्पितक्षेत्र का ही प्रसंग है । भट्ट जगद्धर के रमणीय शब्द हैं :

'.... नश्यत्यविद्या यदविद्ययैव ।

रजः प्ररूढं मुकुरे प्रमार्ष्टुं रजो विना न ह्यपरोऽस्त्युपायः' (स्तु. कु. १२.३) ।

ऐसे स्वरूप वाले भगवान् का उपन्यास किया क्यों ? यह प्रश्न उठने पर कहा— '*भवदर्थं मम मनो भवतु*' । यही समस्त भगवद्वर्णनों का प्रयोजन है । '*समर्प्यैकं चेतःसरसिजम्*'(९) से जो कहा था उसमें यहाँ हेतु भी बता दिया कि अन्य कोई वस्तु उन्हें देने लायक है नहीं ।

प्रश्न होता है कि बाकी सारी सम्पत्ति है तो क्या मन की ही दरिद्रता है ? इसका उत्तर है— '*शिरस्थे शीतांशौ*' । चन्द्र मनःप्रतीकतया सुप्रसिद्ध है । इस सम्पत्ति की भी कमी नहीं है किन्तु हम भ्रमवश मन को '*मम*' अपना मान बैठे हैं जबकि है वह '*शिरस्थे*' । यह भ्रम निकल जाये यही तात्पर्य है । अतएव जल, पुष्पादि समर्पण भी संगत हो जाता है । क्योंकि हम उन्हें अपना मानते हैं अतः चढ़ाते हैं । भगवत्सृष्ट होने से पत्रपुष्पादि भगवान् को चढ़ाना व्यर्थ है ऐसा जो कहतें हैं उनको इससे निराकृत समझना चाहिये । जिसे यह निश्चय है कि मुझ समेत सारा भगवान् का ही है, उसके लिये अवश्य ही कुछ चढ़ाने के लिये नहीं, पर जब तक हम व हमारा कुछ है तब तक चढ़ाना भी सार्थक है ॥२७ ॥

सालोक्यादिवर्णन से अब तक के प्रसंग से प्राप्त होता है कि भगवान् का स्वरूप संसर्ग अतिलौकिक ही है । इसका निषेध कर ऐहिक संसर्ग भी है, यह बताने के लिये जिस स्वरूप से वह संसर्ग हो सकता है उसका वर्णन करते हैं—

सारूप्यं तव पूजने शिव महादेवेति संकीर्तने
सामीप्यं शिवभक्तिधुर्यजनतासांगत्यसम्भाषणे ।
सालोक्यं च चराचरात्मकतनुध्याने भवानीपते !
सायुज्यम् मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन् ! कृतार्थोस्म्यहम् ॥२८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवानीपते = हे पार्वतीपति !, **मम** = मुझे, **तव** = आपका, **पूजने** = पूजन करने में, **सारूप्यम्** = सारूप्य, **शिव** = शिव !, **महादेव** = महादेव !, **इति** = इस प्रकार, **संकीर्तने** = संकीर्तन करने में, **सामीप्यम्** = सामीप्य, **शिवभक्तिधुर्यजनतासांगत्यसम्भाषणे** = शिवभक्ति को प्रमुखता देनेवाली जनता की संगति और उससे बात करने में, **सालोक्यम्** = सालोक्य, **च** = और, **चराचरात्मकतनुध्याने** = समस्त चर व अचर प्रपंच स्वरूप जिसका है, ऐसे आपके शरीर का ध्यान करने में, **सायुज्यम्** = सायुज्य, **अत्र** = इस जीवन में (ही), **सिद्धम्** = प्राप्त, **भवति** = हो जाता है । (अतः), **स्वामिन्** = हे स्वामी !, **अहम्** = मैं, **कृतार्थः** = कृतकृत्य, **अस्मि** = हूँ ।

'*देवो भूत्वा देवं यजेत्*' यह नियम है जिससे पूजन काल में सारूप्य प्राप्त होता है । यहाँ पंचमुखादि सारूप्य विवक्षित नहीं, किन्तु यजमानमूर्ति से तादात्म्य विवक्षित है यह समझना चाहिये । सारूप्य की सुखमयता भक्त को पूजा में मिलती है यह उत्पलदेवने (स्तो. १७.२०) बताया है :

'*दृष्टार्थ एव भक्तानां भवत्पूजामहोद्यमः ।तदैव यदसम्भाव्यं सुखमास्वादयन्ति ते*' ॥

नारदभक्तिसूत्रों में पूजासक्ति (सूत्र ८२) का प्रसंग आया ही है । भगवन्नाम-चर्चा से सामीप्य इसलिये हो जाता है कि सहृदय भक्त को नाम से नामीविषयक एकाग्रता सहज हो जाती है:

'*अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च ।*

त्वामीश ! त्वत्समाचारमात्रात् सिद्ध्यन्ति जन्तवः' ॥*उत्पल. १०.१३* ॥

समाचार से कथादिवार्ता ही समझना चाहिये । भक्त भगवान् को अपने से दूर नहीं देखता, जैसे लौकिक प्रेम में भी जब प्रिय का विचार आता है तो वह सम्मुख ही प्रतीत हो यही उत्सर्ग है । नामग्रहण से स्मरण आवश्यक है व वह नैकटिक भगवान् का होने से सामीप्य-सुख देता है । इससे यह भी बताया कि नामसंकीर्तन करते हुए इसी तरह विचार करना चाहिये । यहाँ भगवान् के वाच्यस्वरूप का प्रतिपादन किया । अथवा शिव आदि नाम भी भगवद्रूप हैं ऐसा वर्णन समझना चाहिये । जैसे प्रणव को परात्पर ब्रह्मरूप बताया है वैसे ही शिवादि नामों के विषय में है । शिवभक्तों की संनिधि की सालोक्यरूपता स्पष्ट है । सालोक्यमोक्ष के वर्णन में '*सह गणै र्वसन्*'(२४) कहा ही जा चुका है । यह भी उपदेश है कि संगति और सम्भाषण भक्तों से ही करना उचित है, उससे सालोक्य सुख तथा भक्तिदार्ढ्य दोनों होते हैं । जड-चेतन सारा प्रपंच भगवान् का ही शरीर है ऐसा जान लेने पर हर सम्बन्ध भगवत्सम्बन्ध होने से सायुज्य स्वतः सिद्ध है । '*चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्*' (दक्षिणा.९) '*न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि*' (महिम्न.२६) तथा स्तुतिकुसुमांजलि (३३.३६—४४) आदि वर्णनों का अनुसन्धान करना चाहिये ।

प्रकृत श्लोक से पूर्वतक सभी श्लोक शिखरिणी छन्द में थे, यहाँ से छन्दों में परिवर्तन है । सत्ताईस श्लोकों की 'नक्षत्रमाला' का समापन करता हुआ यह श्लोक है । संक्षेप में साध्य-साधन का उपदेश दिया जा चुका और प्राप्य कृतार्थतारूप फल यहाँ बता दिया । आगे इन्हीं विषयों का विस्तार किया जायेगा ॥२८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् का अलौकिक (२७) व व्यक्त (२८) स्वरूप स्पष्ट किया । अब गुरुरूप का वर्णन करते हैं—

त्वत्पादाम्बुजमर्चयामि परमं त्वां चिन्तयाम्यन्वहं
त्वमीशं शरणं व्रजामि वचसा त्वामेव याचे विभो ।
वीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणां दिव्यैश्चिरं प्रार्थितां
शम्भो लोकगुरो मदीयमनसः सौख्योपदेशं कुरु ॥२९ ॥

विभो = हे व्यापकतत्त्व !, **शम्भो** = हे शंभु !, **लोकगुरो** = हे समस्त संसार के गुरु !, [**अहम्** = मैं], **अन्वहम्** = प्रतिदिन, **त्वत्पादाम्बुजम्** = आपके चरण कमल की, **अर्चयामि** = अर्चना करता हूँ, **परमम्** = परात्पर, **त्वाम्** = आपका, **चिन्तयामि** = ध्यान करता हूँ, **त्वाम्** = आप, **ईशम्** = परमेश्वर की, **शरणम्** = शरण, **व्रजामि** = लेता हूँ, **त्वाम्** = आप से, **एव** = ही, **याचे** = याचना करता हूँ । **दिव्यैः** = देवताओं द्वारा, **चिरम्** = चिर काल से, **प्रार्थिताम्** = प्रार्थित (माँगी गयी), **चाक्षुषीम्** = (आपके) नेत्रों की, **सकरुणाम्** = करुणायुक्त, **वीक्षाम्** = दृष्टि, **मे** = मुझपर, **दिश** = डालिये (और), **मदीयमनसः** = मेरे मन को, **सौख्योपदेशम्** = आनन्द का उपदेश, **कुरु** = कीजिये ।

सदाशिव स्वयं आदिगुरु हैं । '*यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै*' (श्वे. ६.१८) आदि श्रुति, '*शास्त्रयोनित्वात्*' (१.१.३) आदि ब्रह्मसूत्र, '*पूर्वेषामपि गुरुः*' (१.२६) आदि पातञ्जलसूत्र इसमें प्रमाण है । इतना ही नहीं, प्रत्येक साधक को गुरुरूप से वे ही उपलब्ध होते हैं । वेदान्तरत्नकोश में नृसिंहाश्रम स्वामी ने ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त आचार्य को अवतार स्वीकारा है । अवतार ईश्वर का ही होता है यह सिद्धान्तबिन्दु आदि में स्थापित है । एवं च गुरुरूप से शिव की प्राप्ति समझनी चाहिये । अतः पादार्चन आदि सब संगत है । चाक्षुष दीक्षा परशुराम कल्पसूत्र में बतायी है ।

'*चक्षुरुन्मील्य यत्तत्त्वं ध्यात्वा शिष्यं समीक्षते ।पशुपाशविमोक्षाय दीक्षेयं चाक्षुषी मता*' ॥

देवता भी गुरूपदेश के लिये लालायित रहते हैं । गुरु के बिना उन्हें भी शिवज्ञान न हो सका ऐसी केनोपनिषद् आदि में कथा आयी है । आराध्य मूर्तियों में गुरु का उत्तम स्थान है क्योंकि उनकी सेवादि सहजरूप से की जा सकती है व आपसी सम्बन्ध स्थापित हो सकता है । अन्य मूर्तियों में एक तरफ से ही सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । '*तद्विज्ञानार्थम्*' (*मुं. १.२.१३*) श्रुति का अनुसरण कर '*सौख्योपदेशं कुरु*' ऐसी प्रार्थना की है । '*नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्*' (*मनु. २.११०*) स्मृति से बिना पूछे गुरु भी कैसे बताये, अतः हमें प्रश्न उपस्थित करना चाहिये । अर्चन आदि से गुरु को तुष्ट करने की विधि समझनी चाहिये । कुछ सम्प्रदाय अन्य मूर्तियों की पूजादि न कर गुरुपूजा में ही श्रद्धा रखते हैं, उनके लिये भी भक्तिमार्ग पर चलना सम्भव है यह तात्पर्य है । गुरुमूर्ति की शरण्यता यहाँ बतायी है । यद्यपि भगवान् ने शास्त्रद्वारा आज्ञाएँ दे रखी हैं तथापि प्रतिदिन बदलती समस्याओं का समाधान शास्त्र से ढूँढना कठिन होने से विशिष्ट परिस्थितियों में हम कर्तव्याकर्तव्य के विषय में भ्रान्त हो जाते हैं । गुरुमूर्ति का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लाभ है कि हमारी तात्कालिक किंकर्तव्यविमूढता समझ कर हमें उपदेश देने वाला मिल जाता है। उस उपदेश को 'यह शिवाज्ञा है' ऐसा जानकर हमें पालन करना चाहिये तभी '*शरणं व्रजामि*' होगा। जैसे इष्ट में एकनिष्ठा चाहिये ऐसे गुरु में भी चाहिये। अध्यापक नाना हो सकते हैं, गुरु एक ही रखना चाहिये। कैसा गुरु हो ? इसका उत्तर है '*त्वामेव याचे*'— जिससे माँग कर हमें सन्तोष हो, चाहे वह दे या न दे, और जिससे अतिरिक्त किसी से माँगना अनावश्यक लगे, वही गुरु हो, यह तात्पर्य है। 'माँगने' से श्रेयोवस्तु की माँग समझनी चाहिये, द्रव्यादि की नहीं; किन्तु शरण पूर्णतया ली जा चुकी हो तो ऐहिक आमुष्मिक छोटी से बड़ी सभी आवश्यक माँगें जिस अकेले के सामने रखने से हमें सन्तोष हो, वही गुरु है। एवमपि भक्त को क्या माँग करनी उचित है यह '*सौख्य*' पद से बताया। उत्पलदेव ने शिवस्तुति में (१३.१) सौख्य का सरल स्पष्ट लक्षण कर दिया है:

'संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो।
सौख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एव दुःखिता' ॥

अतः इसी की याचना श्रीगुरु से करनी चाहिये ॥२९॥

महादेव का बड़प्पन वाला जो स्वरूप है उसका वैसे अधिकारियों के लिये वर्णन करते हैं जो बड़प्पन वाले रूप से आकृष्ट होते हैं—

वस्त्रोद्धूतविधौ सहस्रकरता पुष्पार्चने विष्णुता
गन्धे गन्धवहात्मताऽन्नपचने बर्हिर्मुखाध्यक्षता।
पात्रे काञ्चनगर्भतास्ति मयि चेद्बालेन्दुचूडामणे
शुश्रूषां करवाणि ते पशुपते स्वामिंस्त्रिलोकीगुरो ॥३०॥

बालेन्दुचूडामणे = हे द्वितीया के चन्द्ररूप शिरोभूषण वाले !, **पशुपते** = हे पशुपति !, **स्वामिन्** = हे अधीश !, **त्रिलोकीगुरो** = हे तीनों लोकों में सबसे बड़े !, **मयि** = मुझमें, **चेत्** = यदि, **वस्त्रोद्धूतविधौ** = (आपको) वस्त्र पहनाने के लिये, **सहस्रकरता** = हजारों हाथों वाले सूर्य का स्वरूप (हो), **पुष्पार्चने** = फूलों से अर्चना करने के लिये, **विष्णुता** = विष्णु का स्वरूप (हो), **गन्धे** = गन्धानुलेप करने के लिये, **गन्धवहात्मता** = सुगन्ध फैलाने वाले वायु का स्वरूप (हो), **अन्नपचने** = भोजन बनाने के लिये, **बर्हिर्मुखाध्यक्षता** = अग्निनिर्वर्त्य यज्ञों के अध्यक्ष इन्द्र का स्वरूप (हो), **पात्रे** = बर्तन बनाने केलिये, **काञ्चनगर्भता** = हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का स्वरूप, **अस्ति** = हो (तो), **ते** = आपकी, **शुश्रूषाम्** = सेवा, **करवाणि** = करूँ।

भगवान् का रूप इतना विराट् और मैं इतना छोटा हूँ कि चाहकर भी सेवा कर नहीं सकता। तीनों लोकों में सबसे अधिक बड़प्पन वाले परमेश्वर हैं, यह प्रकृत वर्णन का तात्पर्य है। उनकी सेवा में प्रसिद्ध महत्ता वाले सूर्यादि देव ही समर्थ हैं। अथापि मैं चाहता अवश्य हूँ कि आपकी सेवा करूँ। ध्वनि यह है कि इन देवताओं को आपकी सेवा करने के योग्य बनाना, आपका ही काम है, अतः मुझे भी वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामर्थ्य प्रदान कीजिये। साथ ही, लौकिक उन्नति को शिवसेवा में विनियुक्त कर देना चाहिये, यह उपदेश भी है। पूर्व में (२८) समस्तव्यक्तरूपता का वर्णन था व यहाँ विभूतिमत्सत्त्व का वर्णन है, यह भेद समझना चाहिये। गीतामें यह भेद '*पृथक्त्वेन*' और '*बहुधा विश्वतोमुखम्*' (९.१५) द्वारा प्रकट किया गया है। '*शुश्रूषां करवाणि चेत्, सहस्रकरतादि मयि अस्ति*' ऐसा भी सम्बन्ध है, अर्थात् आपकी पूजा से सूर्यादिरूपता अयत्नलभ्य है। किं च, '*सहस्रकरता चेत्, वस्त्रोद्भूतविधौ शुश्रूषां करवाणि*' इत्यादि योजना से अपनी निर्विशेषता का निश्चय करने का प्रयास भी कर्तव्य वता दिया। 'निर्गुणमानसपूजा' में (स्तु. कद. पृ. ११७) यह दृष्टि व्यक्त की है '*कुतो_वासो विश्वोदरस्य, निर्लेपस्य कुतो गन्धः, पुष्पं निर्वासनस्य च (कुतः), निजानन्दैकतृप्तस्य नैवेद्यं किम्*' इत्यादि। क्योंकि प्रकृत गौरवयुक्त वर्णन तादृश अधिकारियों के लिये है इसलिये यह भाव नहीं कि मुझ में ये योग्यताएँ नहीं हैं इसलिये आपकी सेवा न करूँ, अपितु और भी अच्छी तरह सेवा करूँ यह तात्पर्य है। भक्तिरसायन में बताया है कि चित्त लाक्षा की तरह है और इसे रँगने के लिये— अनुरक्त करने के लिये— पिघलाना पड़ता है; जिसकेलिये काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि तापक हैं (पृ. ३२-३३)। बड़प्पन का विचार भी इन तापकों में गिन लेना चाहिये ॥३० ॥

करुणाप्रेरित हो सबका कल्याण करने वाले स्वरूप का वर्णन करते हैं—

नालं वा परमोपकारकमिदं त्वेकं पशूनां पते
पश्यन्कुक्षिगतांश्चराचरगणान्बाह्यस्थितान्रक्षितुम्।
सर्वामर्त्यपलायनौषधमतिज्वालाकरं भीकरं
निक्षिप्तं गरलं गले न गिलितं नोद्गीर्णमेव त्वया ॥३१ ॥

पशूनाम् = (हे) पशुरूप जीवों के, **पते** = स्वामी ! **कुक्षिगतान्** = अपने उदर में रहने वाले (और), **बाह्यस्थितान्** = वाहर रहने वाले (— दोनों प्रकार के), **चराचरगणान्** = स्थावर-जंगम प्राणियों का, **पश्यन्** = विचार करते हुए (उन्हें), **रक्षितुम्** = बचाने के लिये, **सर्वामर्त्यपलायनौषधम्** = सब देवताओं को (डराकर) भगाने वाला, **अतिज्वालाकरम्** = अत्यंत जलन करने वाला, **भीकरम्** = भयंकर, **गरलम्** = हलाहल विष, **त्वया** = आपके द्वारा, **गले** = गले में, **निक्षिप्तम्** = रख लिया गया, **न** = न (तो), **गिलितम्** = गले से नीचे निगला गया (और), **न** = न, **एव** = ही, **उद्गीर्णम्** = उगला गया। **इदम्** = यह, **एकम्** = एक, **तु** = ही, **परमोपकारकम्** = अत्यन्त उपकारक कृत्य, **वा** = क्या (आपकी कारुण्यपूर्ण महत्ता बताने के लिये), **अलम्** = पर्याप्त, **न** = नहीं है ?

अमृतमन्थन की चिरप्रसिद्ध कथा शिवमाहात्म्य का अनुपम दृष्टान्त है। रत्नादि को भगवान् को अर्पित करना किसी देवता ने जरूरी न समझा, जहर देखते ही उसे भगवदर्पण कर दिया। देवी को यह सहन न हुआ कि भगवान् विषपान करें पर विष्णु को सारे संसार की चिन्ता थी अतः वे पीने से रोकती रहीं व वे पीने के लिये प्रेरित करते रहे। शिवपादादिकेशान्तवर्णनस्तोत्र में (२५ पृ. ४८ स्तु.कद.) इसका रुचिर वर्णन है। विष्णु और देवी का शिव से अत्यन्त भेद आगममन्ताओं को इष्ट नहीं है। अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोनों भय एक ही को हैं यह वहाँ के वर्णन का चमत्कार है और दोनों भयों को निवृत्त करने की जिम्मेदारी का बोध भगवान् को साक्षात् है, यह यहाँ के वर्णन का वैशिष्ट्य है । हेतु बताया '*पशूनां पते*' से । अपने जानवरों की रक्षा खुद करनी ही पड़ती है । क्योंकि सभी भगवान् के अन्तर्गत ही हैं अतः '*कुक्षिगतान्*' से शरणागत व '*बाह्यस्थितान्*' से तद्भिन्नों को समझना चाहिये । करुणा की विशेषता यही है कि वह केवल दुःख देखकर बहने लगती है, और किसी निमित्त का इन्तजार नहीं करती । ऐसी करुणा करने वाले पर ही श्रद्धा होती है । अतएव अप्पय दीक्षित ने इस कृत्य से भगवान् की आर्त-रक्षा-परायणता को पहचाना है—

'क्षीरम्भोनिधिमन्थनोद्भवविपात् सन्दह्यमानान्सुरान्
ब्रह्मादीनवलोक्य यः करुणया हालाहलाख्यं विषम् ।
निःशङ्कं निजलीलया कवलयन् लोकानुरक्षादराद्
आर्तत्राणपरायणः स भगवान् गंगाधरो मे गतिः' ॥गंगाधरस्तोत्र—१ ॥

गले में चिरकाल के लिये जलते विष को रखे रहना कितना अधिक असुविधाजनक होता है, पर वह भी भगवान् करुणा से कर लेते हैं ।

वस्तुतः हमारा भगवान् के प्रति प्रेम भक्ति है तो भगवान् का हमारे प्रति प्रेम करुणा है । जैसे भक्ति केवल भावमात्र नहीं उसकी अभिव्यक्ति भी है, वैसे करुणा भी दुःखी के प्रति होने वाले प्रेम से जन्य उसके दुःखनिवृत्ति के लिये किया व्यापार है । ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी '*दीक्षितं भक्तरक्षणे*' कहा है । आधुनिक काल में अनेक अधिकारी ठाट-बाट पर श्रद्धा नहीं करते, दीन दुःखियों के उद्धार में लगने वालों पर श्रद्धा करते हैं । उन अधिकारियों के उपयोग के लिये यह वर्णन है ।

विचारदृष्टि से प्रकृत पद्य में बताया है कि हमें जीवन्मुक्तिसुखप्राप्ति हो सके इसी प्रयोजन से परब्रह्म ने अविद्याकलंक स्वीकारा है । वह अविद्या न तो स्वरूप में अन्तर्निविष्ट हुई— अन्यथा कुक्षिगत हम सभी वस्तुतः बद्ध हो जाते और मोक्षाशा न रहती— तथा न सर्वथा असम्बद्ध हुई— अन्यथा हम, अविद्या-प्रयुक्त जीव, सर्वथा ब्रह्मस्वरूप से बाह्य हो जाते और पुनरपि मोक्ष असंभव हो जाता । अनादि होने पर भी चेतन के स्वातन्त्र्य को '*निक्षिप्तम्*' से सूचित किया ॥३१ ॥

विषपान को करुणा-प्रकाशक बताकर उसी का विस्मयजनक रूप से वर्णन करते हैं—

ज्वालोग्रः सकलामरातिभयदः क्ष्वेलः कथं वा त्वया
दृष्टः किं च करे धृतः करतले किं पक्वजम्बूफलम् ।
जिह्वायां निहितश्च सिद्धघुटिका वा कण्ठदेशे भृतः
किन्ते नीलमणिर्विभूषणमयं शम्भो महात्मन् वद ॥३२ ॥

शम्भो = हे शम्भु !, **ज्वालोग्रः** = धधकती आग-सा उग्र, **सकलामरातिभयदः** = सब देवताओं को अत्यधिक भय देने वाला, **क्ष्वेलः** = हलाहल विष, **त्वया** = आपके द्वारा, **कथम्** = कैसे,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वा = तो, दृष्टः = (घबराये बिना) देखा गया ?, च = और, करे = हाथ में, किम् = क्यों, धृतः = धर लिया गया ?, किम् = क्या (वह), करतले = हथेली पर (पड़ा), पक्वजम्बूफलम् = पका जामुन का फल था ?, च = तथा, जिह्वायाम् = जीभ पर, निहितः = रखा, वा = क्या (वह कोई), सिद्धघुटिका = तैयार की गयी दवा थी ? (उसे), कण्ठदेशे = कण्ठदेश में, किम् = क्यों, भृतः = धारण कर लिया ?, ते = आपकेलिये (क्या), अयम् = यह (कोई), नीलमणिः = नीली मणि थी ? (या), विभूषणम् = गहना था ?, महात्मन् = हे अक्षुद्र स्वभाव वाले !, वद = बताइये ।

चित्र-चरित्र परमेश्वर ने विषपान कर सबको विस्मित तो किया पर विशेषता यह है कि सब ऐसे विस्मय की आशा से ही उनके पास गये थे । विष ने घोषित ही किया था कि भूतभावन महादेव से अतिरिक्त सब उससे कष्ट ही पायेंगे । अन्यों को तो उसे देखना मुश्किल था पर इन्होंने उसे शान्ति से देखा । इसी प्रकार अनन्तर के कृत्य हैं । ऐसे विस्मयकारी स्वरूप से भी चित्त द्रवीभूत होता है । भक्ति रसायन में (पृ.१४०) कहा है :

'लोकोत्तरचमत्कारिवस्तुदर्शनजः परः । तज्जन्यायां द्रुतौ चेतो विकासो विस्मयो मतः' ॥

निश्चय ही विषपान करता हुआ स्वरूप लोकोत्तर चमत्कारि वस्तु है । अतः विस्मय से चित्त को अनुरक्त करने वालों के लिये यह वर्णन समझना चाहिये । इस लोकातीत कार्य को भगवान् क्यों कर सके, यह *'महात्मन्'* सम्बोधन से बताया है । क्योंकि उन्हें अपनी रक्षा की कोई चिंता नहीं थी इसीलिये यह सब वे कर सके । इससे हमें भी शिक्षा दी कि हमें स्वभाव की क्षुद्रता छोड़ देनी चाहिये । अनावश्यक बातों पर अधिक ख्याल रखना ही स्वभाव की क्षुद्रता है । लक्ष्य की ओर ही हमें एकाग्रवृत्ति से बढ़ना चाहिये, छोटी-छोटी कठिनाइयों के कारण रुकना या रास्ता बदलना नहीं चाहिये । महत्त्वाकांक्षा वाले सांसारिक कार्य में भी विकट परेशानी आती है । भगवत्प्रप्ति तो सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षा का कार्य है । उस लाभ में साक्षात् देवता भी आड़े ही आते हैं । *'एषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः'* (बृ.१.४.१०) आदि श्रुति में यह स्पष्ट है । अतः सांसारिक कष्ट निश्चय ही आयेंगे । *'तांस्तितिक्षस्व'* (गी.२.१४) इस भगवदाज्ञा से उन्हें चुपचाप सहते हुए भक्ति करते रहें यही उत्तम उपाय है ॥३२ ॥

अब भगवान् के स्तवनीय पूज्यादि स्वरूपों का निर्देश देते हैं—

नालं वा सकृदेव देव भवतः सेवा नतिर्वा नुतिः
पूजा वा स्मरणं कथाश्रवणमप्यालोकनं मादृशाम् ।
स्वामिन्नस्थिरदेवतानुसरणायासेन किं लभ्यते
का वा मुक्तिरितः कुतो भवति चेत् किं प्रार्थनीयं तदा ॥३३ ॥

देव = हे महादेव !, स्वामिन् = हे मालिक !, भवतः = आपकी, सेवा = सेवा, नतिः = प्रणाम, वा = या, नुतिः = स्तवन, पूजा = पूजन, स्मरणम् = ध्यान, कथाश्रवणम् = कथा सुनना, वा = या, आलोकनम् = दर्शन (यदि), सकृत् = एक बार, एव = भी (हो जाये तो),

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पादृशाम् = मुझ जैसों के लिये, वा = क्या, अलम् = पर्याप्त, न = नहीं है ?, अस्थिरदेवतानुसरणायासेन = बदल जाने वाले देवताओं के पीछे घूमने के प्रयास से, किम् = क्या, लभ्यते = मिलता है ?, का = कौन सी, मुक्तिः = मुक्ति, वा = ही (मिलती है) ?, चेत् = यदि (कहो कि), इतः = इस से (उक्त प्रयाससे), कुतः = क्योंकर (मुक्ति), भवति = होगी ? तदा = तो (और), प्रार्थनीयम् = चाहने योग्य, किम् = है क्या (जिसके लिये मैं आयास करूँ जबकि एक बार शिवपूजनादि से ही मुक्ति मुझे अनायाससिद्ध है) ?

भगवान् के सेवनीय, नमनीय, स्तोतव्य, पूज्य, ध्येय, श्रोतव्य तथा दर्शनीय नानाविध स्वरूप हैं। भागवतादि के अनुसार सेवा से 'पादसेवा' समझें तो उसके ये स्वरूप हैं '*विष्णुप्रतिमापादसम्मर्दन-गृहलेपनादिरूपा . . . . ब्राह्मणरूपस्य भगवद्देहस्य भगवद्भक्तस्य वा पदसंवाहनादिरूपा च*' *(न्या. रत्न.पृ.३१४ प्र.द्वा.)* अर्थात् विष्णुआदि इष्ट की मूर्ति के चरण दबाना व मन्दिरादि को लीपना आदि तथा ब्राह्मण के अथवा अन्य भक्त के पैर दबाना। शिवपुराण सतीखण्ड में केवल सेवन को नवाङ्गों में गिना है—

'श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं सेवनं तथा। दास्यं तथार्चनं देवि ! वन्दनं मम सर्वदा।
सख्यमात्मार्पणं चेति नवाङ्गानि विदुर्बुधाः' ॥२३.२२-२३॥

इसके अनुसार किसी भी प्रकार की सेवा समझनी चाहिये। अतः भगवान् के उपदेशकरूप की सेवा है उपदेश का प्रसार करना। नियन्तारूप की सेवा है धर्ममार्ग पर सबको व स्वयं चलाना व चलना तथा धर्मातिक्रमण होने पर दण्डविधान करना। रक्षक रूप की सेवा है सबकी रक्षा करना। इसी प्रकार और भी सेव्यरूप समझने चाहिये। नमनीयरूप भी नाना हैं। सूर्य, अग्नि, पृथ्वि आदि तथा गुरु, ब्राह्मण, माता-पिता आदि एवं मूर्ति, लिङ्ग, यन्त्र आदि सब नमनीय स्वरूप हैं। ये सब भगवद्रूप हैं इस दृष्टि से इन्हें नमस्कार करना चाहिये। शिवदृष्टि व्यापक हो तो अश्व, चाण्डाल, गाय व गधे तक को दण्डवत् प्रणाम करना स्मृति में बताया ही है। स्तवनीयरूप भगवान् का सविशेषरूप है जिसे 'अर्वाचीन पद' पुष्पदन्ताचार्य ने कहा है। पूज्यरूप प्रतिमादि, विल्वादि वृक्ष, गाय आदि जानवर, गंगादि नदियाँ, संन्यासी, ब्राह्मणादि प्रसिद्ध हैं। ऐसे ही ध्येयरूप शास्त्र से जानने चाहिये। मनःकल्पित रूपों का ध्यान नहीं करना प्रारम्भ करना चाहिये। श्रोतव्यरूप भी उपनिषदादि सच्छास्त्रों में प्रतिपादित हैं। शास्त्राधार छोड़कर रुचिकर बना कर बोला गया जो भी कोई भगवान् का काल्पनिक स्वरूप श्रोतव्य नहीं। शास्त्रबोधित शिवलीलादि तथा पारमेश्वरादि रूप ही श्राव्य है। दर्शनीयरूप भी तीर्थादि में या विहितप्रक्रिया से स्थापित लिङ्ग, प्रतिमा आदि हैं। नाटक के राम, कृष्ण आदि को दर्शनीयरूप नहीं समझ लेना चाहिये। व्यतिरेकप्रदर्शन से महादेव का एक सामान्य स्वरूप भी बताया— स्थिरदेवता। भगवान् शंकर की जो महात्मता पूर्वश्लोक में उपस्थित की थी उसी का यह व्याख्यान है। यह सबसे सूक्ष्मस्वरूप है। नित्य परिवर्तनीय प्रपंच में जो एक सच्चिद्रूप स्थिर स्वप्रकाश तत्त्व है, वह भगवान् का ध्येय व ज्ञेय उभयात्मक स्वरूप है। इन स्वरूप वाले भगवान् की सेवादि सद्योमोक्ष देने में समर्थ है अतः इन्हीं में व्यापृत रहना चाहिये। आवृत्तिमात्र से फललाभ नहीं होता, साधन में सशक्तता होनी चाहिये। थोड़ी भी आग ढेर सारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तिनके जला देती है, छोटा भी दीपक अन्धेरा मिटा देता है, बूँद भर भी अमृत मर्त्य को अमर बना देता है, ऐसे थोड़ा सा भी ईश्वराराधन सब पाप हटा देता है :

'मणिः सुसूक्ष्मोऽपि यथोल्बणं विषं कृशोऽपि वह्निः सुमहद्यथा तृणम् ।

शिशुर्मृगेन्द्रोऽपि यथा गजव्रजं तनुः प्रदीपोऽपि यथा तमोभरम् ॥

यथाल्पमप्यौषधमुन्मदं गदं यथाऽमृतं स्तोकमपि क्षयाद्द्वयम् ।

ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभोः क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति' ॥स्तु. कु. ७.९-१० ॥

नीलकण्ठ दीक्षित ने भी *'अक्षय्यं पदमप्यमुत्र च सकृद्यत्कीर्तनं साधयेत्' (शिवोत्कर्षमंजरी ७)* कहा है । स्वयं भगवान् ने *'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'* कहा ही है । यह सब इसलिये नहीं कि हम सकृत् सेवन से सन्तुष्ट हो उसे छोड़ दें बल्कि इसलिये कि इस अतिसामर्थ्यवान् कार्य में और अधिक जागरूक हो लगें । वस्तुतस्तु सकृत् सेवनादि का फल बताने से हमें पता चल जाता है कि हमने सेवनादि किया, या नहीं । जैसे यदि वस्तु में मिठास न लगे तो निश्चित है कि उसमें चीनी नहीं पड़ी वैसे यदि हमें उक्त फल नहीं मिला तो निश्चित है हमने अभी तक सेवादि की ही नहीं । इसीलिये आचार्यों ने कहा है 'भगवन् ! मेरा जन्म हुआ अतः निश्चित है कि अब से पूर्व मैंने आपको नमस्कार नहीं किया, यह एक अपराध हुआ । अब नमस्कार कर लिया है तो यह भी निश्चित है कि आगे कोई जन्म न होने से फिर नमस्कार नहीं कर पाऊँगा, यह दूसरा अपराध है । आप मेरे इन दोनों अपराधों को माफ कर दीजिये' : *'वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा.... तदिदमपराधद्वयमपि'* । अतः पूर्ण तन्मयता से सेवा आदि में तत्पर हो जाना चाहिये ॥३३ ॥

समृद्ध, व्यक्त, गुरु, माहात्म्य वाले, करुणामय, विस्मापक तथा स्तवनीयादि भगवद्रूपों का वर्णन कर अब वीर्यवान् साहस वाले रूप को दिखाते हैं —

किं ब्रूमस्तव साहसं पशुपते कस्यास्ति शंभो भवद्-

धैर्यं चेदृशमात्मनः स्थितिरियं चान्यैः कथं लभ्यते ।

भ्रश्यद्देवगणं त्रसन्मुनिगणं नश्यत्प्रपंचं लयं

पश्यन्निर्भय एक एव विहरत्यानन्दसान्द्रो भवान् ॥३४ ॥

पशुपते = हे पशुपति !, शम्भो = हे शम्भु !, तव = आपके, साहसम् = साहस को, किम् = क्या, ब्रूमः = कहें ?, ईदृशम् = ऐसा, भवद्धैर्यम् = आपका धैर्य, कस्य = किस अन्य का, अस्ति = है ?, च = और, आत्मनः = अपनी, इयम् = यह, स्थितिः = दृढता, अन्यैः = अन्यों द्वारा, कथम् = कैसे, लभ्यते = प्राप्त की जाये ?, भ्रश्यद्देवगणम् = गिरते हुए देव समूह को, त्रसन्मुनिगणम् = त्रस्त होते मुनिसमाज को, नश्यत्प्रपंचम् = नष्ट होते प्रपंच को, (ऐसे), लयम् = प्रलय को, पश्यन् = देखते हुए, भवान् = आप, एकः = अकेले, एव = ही, आनन्दसान्द्रः = आनन्दपूर्ण (व), निर्भयः = अभय (रहते हुए) विहरति = विहार करते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तैत्तिरीयश्रुति का निःशङ्क उद्घोष है '*आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति*'। सृष्टि का कारण सदा आनन्दरूप है, उत्पत्ति काल में ही नहीं, स्थिति व संहार में भी। अतः चाहे जितना भीषण प्रतीत हो, शिव की आनन्दघनता में प्रलय भी अन्तर नहीं ला पाता। उस प्रलय में स्फुट साहस को, अविकलता को और दृढता को यहाँ भगवान् में अनुरक्त होने के लिये चित्त का तापक बनाया है। जैसे युद्धाभिपातजनित उत्साह की तापकता भक्तिरसायन में (पृ.१४०) बताई है वैसे यह रूप भी तापक समझना चाहिये। अधिकारीभेद तो इष्ट ही है। लय का रोमहर्षक दृश्य प्रस्तुत किया है और साथ ही उससे विपरीत, कल्पान्तभैरव का आनन्दसान्द्र चित्र रख दिया है। आनन्दरूपता अटपटी न लगे इसके लिये पहले ही शिव तनु के विशेषण रखे हैं '*पशुपते ! शम्भो !*'। इस स्वरूप के चिन्तन से निर्भयता आदि का लाभ होता है। आनन्दसान्द्रता में निर्भयता हेतु है। निर्भयता में हेतु है '*एक एव*'। '*विहरति*' से चेतनरूपता स्फुट की है। '*लयं कुर्वन्*' न कह '*पश्यन्*' कहने से अकर्तृत्व भी प्रकट किया है। इसके कारण साहसादि सब उपपन्न हैं।

पूर्व में (३१) अविद्यांगीकार द्वारा सृष्टि बतायी थी; उसी के उपसंहार के लिये यहाँ प्रलय का नियोजन है। जैसे वह परमोपकारक था वैसे यह भी आनन्दसान्द्र होने से परमोपकारक है। अन्तर है तो यह कि वहाँ '*रक्षितुं पश्यन्*' स्वरूप था, यहाँ '*लयं पश्यन्*' स्वरूप है; पर '*पश्यन्*' एक ही है। उस वर्णन में भी '*पशूनां पते*' और '*शंभो*' (३२) सम्बोधन थे, इस वर्णन में भी वे सम्बोधन हैं। वहाँ भी अन्य अमर्त्यों का पलायन था, यहाँ भी देवगणों का गिरना है। किन्तु वहाँ पलायन रोकने के लिये '*निक्षिप्तम्*' था जो यहाँ नहीं है। तात्पर्य है कि सृष्टि व संहार में शिव ही एकमात्र स्वतन्त्र हैं अतएव जन्मादिसूत्रोक्त लक्षण उन्हीं का होने से समस्त वेदान्तों में प्रतिपादित परात्पर तत्त्व की निर्विशेष विशेषता यहाँ समझ लेनी चाहिये ॥३४॥

अत्यन्त समर्थ शिवस्वरूप के वर्णन का उपसंहार करने के लिये सर्वपालक रूप का वर्णन करते हुये नारदप्रोक्त (ना.भक्ति. ८२) स्मरणासक्ति सूचित करते हैं—

योगक्षेमधुरन्धरस्य सकलश्रेयःप्रदोद्योगिनो
दृष्टादृष्टमतोपदेशकृतिनो बाह्यान्तरव्यापिनः।
सर्वज्ञस्य दयाकरस्य भवतः किं वेदितव्यं मया
शम्भो त्वं परमान्तरङ्ग इति मे चित्ते स्मराम्यन्वहम् ॥३५॥

शम्भो = हे शम्भु !, **योगक्षेमधुरन्धरस्य** = अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा में कुशल, **सकलश्रेयःप्रदोद्योगिनः** = सब को कल्याण प्रदान करना रूप व्यापार वाले, **दृष्टादृष्टमतोपदेशकृतिनः** = लौकिक व अलौकिक विषयक शास्त्रों के उपदेशक, **बाह्यान्तरव्यापिनः** = बाहर-अन्दर सर्वत्र व्यापक, **सर्वज्ञस्य** = सर्वज्ञ, **दयाकरस्य** = दया करने वाले, **भवतः** = आपके समक्ष, **मया** = मेरे द्वारा, **वेदितव्यम्** = निवेदन करने योग्य, **किम्** = क्या है ?, **त्वम्** = आप, **मे** = मेरे, **परमान्तरङ्ग**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

= अत्यन्त अन्तरङ्ग हैं, इति = इसीलिये, अन्वहम् = प्रतिदिन, चित्ते = मन में (आपका), स्मरामि = स्मरण करता हूँ।

हम सभी को जो कुछ भी भोग मिलता है व मिला हुआ हमारे पास टिकता है, उसमें एकमात्र कारण है शिवकृपा। भगवान् सदा इसमें व्यापृत रहते हैं कि सबको परम कल्याण की प्राप्ति हो। हर प्रकार के कल्याण की प्राप्ति के उपायों की विद्या के वे ही उद्गम हैं। सर्वज्ञ होने से उन्हें मेरी इच्छा मुझसे पहले ज्ञात है। जान लेने पर योग्य हो तो अवश्य उसे पूरी करेंगे क्योंकि वे दयाकर — दया के आकर, खान, हैं। अतः मैं कोई माँग प्रस्तुत करूँ यह व्यर्थ है। फिर भी अत्यधिक प्रेम होने से स्मरण करता रहता हूँ— यह तात्पर्य है। दीक्षित जी ने भी भगवान् से कहा है कि मैं आपका दास हूँ अतः सदा से निश्चित निवेदन यही संभव है कि मुझे दासता से मुक्ति मिले और आप स्वयं इस वास्तविकता से परिचित हैं (— यद्यपि मैं अपने को दास ही जानता हूँ, पर आप इस तथ्य को जानते हैं) कि मैं आपके स्वरूप से ही निकला हुआ भटक रहा हूँ। इससे अधिक कुछ मुझे कहना नहीं। आप करुणा से मुझे ग्रहण कीजिये :

'दासोस्मीति त्वयि शिव मया नित्यसिद्धं निवेद्यं

.... नास्त्येवान्यन्मम किमपि ते नाथ विज्ञापनीयं कारुण्यान्मे .... गृहाण' (आत्मार्प. २०)।

सर्वशास्त्रोपदेशक रूप का भट्ट जगद्धर ने भी वर्णन किया है *'न शास्त्रं तत्स्वामिन्निह यदुपदिष्टं न भवता'* (स्तु. कु. ३५.२०)। प्रकृत भगवद्रूप यद्यपि सबको सामान्यतः ज्ञात है, सांसारिक लोग भी प्रायः इस स्वरूप से भगवान् को जानते हैं, तथापि इसे शिव वर्णन के अन्त में रखने का प्रयोजन है यह बताना कि इस स्वरूप का निश्चय होने पर कुछ भी निवेदनीय नहीं रह जाता और परमान्तरङ्गता का बोध बना रहता है। भागवत में निवेदन करने वालों को, माँगने वालों को भक्त नहीं, व्यापारी कहा है- *'यस्त आशिषआशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्'*। 'भक्ति' की पूँजी लगाकर फल का लाभ लेना— यही यहाँ व्यापार है। यह तो सांसारिक अवस्था है। ठीक है, अन्यों से व्यापार करने की अपेक्षा भगवान् से व्यापार करना बेहतर है किन्तु स्मरण रहना चाहिये कि है वह व्यापार ही। भक्ति की निष्ठा वाली अवस्था में *'किं वेदितव्यम्'* स्वाभाविक होता है। इस भूमिका पर आरूढ होकर *'योगक्षेमधुरन्धरस्य'* आदि पालनकर्तारूप यहाँ वर्णित समझना चाहिये। *'परमान्तरङ्ग इति स्मरामि'* को रागानुगा भक्ति के नाम से अन्यत्र कहा जाता है। विचारशील के लिये परमान्तरंगता है साक्षिरूपता से। अतः *'अनु-अहम्'* अहम् के पीछे विद्यमान प्रत्यक्तत्त्व का स्मरण ध्वनिलभ्य है। इसके बलपर ही वस्तुतः कुछ निवेदनीय नहीं बचता ॥३५॥

भजमान तथा भजनीय स्वरूपों का विस्तार किया। अब अनुष्ठेय होने के कारण प्रधान होने से शेष ग्रन्थ द्वारा भक्ति का प्रतिपादन करेंगे। पूर्व में मुख्यतः भजमानशेषतया व क्वचिद् भजनीयशेषतया भक्ति का प्रसंग आया था, अब स्वप्रधानतया भक्ति का वर्णन है, तच्छेषतया उन दोनों का, यह भेद है। पहले (४९ तक) श्रवणादि प्रधान कर्तव्यांगों का परिचय कराया जायेगा। तदनन्तर (५८ तक) अनुस्मरणशेषतया भगवद्वर्णन आयेगा। फिर (६५ तक) भक्ति के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत होगा। उसके बाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सृष्टिरहस्य बताकर (६६) पुनः फलपरिचय कराते हुए विभिन्न रुचिकर बिम्बों व प्रार्थनाओं के माध्यम से भक्ति के लिये प्रेरित कर भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान की प्रार्थना करते हुए स्तोत्र का उपसंहार किया जायेगा।

भक्तिप्रकरण का प्रारम्भ सर्वप्रधान अनन्यभक्ति से करते हैं। यद्यपि साधारण परिपाटी सरल से कठिन की ओर बढ़ने की है तथापि वेदान्तप्रक्रिया में सबसे पहले उत्तम रहस्य बता दिया जाता है, उतने से काम न बने तो अधिकारानुरूप और उपदेश दिये जाते हैं। इसी प्रक्रिया से अनन्यभक्ति का वर्णन करते हैं —

भक्तो भक्तिगुणावृते मुदमृतापूर्णे प्रसन्ने मनः -
कुम्भे साम्ब तवाङ्घ्रिपल्लवयुगं संस्थाप्य संवित्फलम्।
सत्त्वं मन्त्रमुदीरयन्निजशरीरागारशुद्धिं वहन्
पुण्याहं प्रकटीकरोमि रुचिरं कल्याणमापादयन् ॥३६॥

साम्ब = हे उमा सहित शंकर !, भक्तिगुणावृते = भक्तिरूप मौली से बँधे, मुदमृतापूर्णे = आनन्दरूप जल से भरे, प्रसन्ने = स्वच्छ, मनःकुम्भे = मनरूप घड़े में, तव = आपके, अङ्घ्रिप-ल्लवयुगम् = चरण रूप दो पत्तों को (और), संवित्फलम् = (आपके) ज्ञानरूप श्रीफल को (उस पर), संस्थाप्य = स्थापित कर, सत्त्वम् = सात्त्विक, मन्त्रम् = मन्त्र को, उदीरयन् = बोलते हुए, कल्याणम् = परम कल्याण, आपादयन् = पाते हुए, भक्तः = (मैं, आपका) भक्त, निजशरीरागारशुद्धिम् = अपने शरीररूप घर की शुद्धि, वहन् = करते हुए, रुचिरम् = दिव्य, पुण्याहं = पुण्याह कर्म को, प्रकटीकरोमि = स्पष्ट कर रहा हूँ।

परमात्मा मुझ से अभिन्न हैं यह चिन्तन व इस तथ्य में निष्ठा ही अनन्यभक्ति है। '*स्वजीवत्वेन यो वेत्ति मामेवैकमनन्यधीः*' (१२.९) आदि शिवगीता, '*अनन्याश्चिन्तयन्तः*' (९.२२) आदि भगवद्गीता इत्यादि में इसका विस्तार है। अन्य मत भेद में ही भक्ति सम्भव समझते हैं जबकि औपनिषदों का निश्चय है कि अभेद में ही भक्ति संभव है। भक्ति निरतिशय प्रेम है जो सबको अपने स्वात्मासे ही हो सकता है। ईश्वर स्वात्मा है अतः उससे निरतिशय प्रेम है। यदि स्वात्मा से भिन्न कोई ईश्वर हो तो उससे निरतिशय प्रेम नहीं हो सकता। यह परमभक्ति जब तक समझ न आये तब तक भेद मानकर भक्ति कर लेनी चाहिये। शंका हो सकती है कि ईश्वरप्रेमरूप भक्ति यदि ईश्वर के स्वात्मरूप होने से नित्यसिद्ध है तब उसे कर्तव्यतया बताना व्यर्थ है तथा उसका फल उपलब्ध होना चाहिये। इसका परिहार '*न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यभावः*' (ना.सू. २२) इस नारदीय सूत्र से समझ लेना चाहिये। ईश्वर को ईश्वर समझते हुए प्रेम करना भक्ति है। अभी हमारा जो अपने से प्रेम है वह यद्यपि है ईश्वर से ही पर उसे ईश्वर समझ कर नहीं, जीव समझ कर। अत एव फललाभ का प्रसंग नहीं। कर्तव्यतया जिस परमभक्ति को कहा जा रहा है उसमें इस तथ्य का भान है कि ईश्वर निजात्मा है। इस भक्ति वालों को यमराज भी बहुत मान देते हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।

इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्' ॥विष्णुपु. ३.७.३२ ॥

प्रकृत श्लोक में इस भक्ति का प्रतिपादन किया है '*सत्त्वं मन्त्रम्*' से । '*सत् त्वम्*'— सद्ब्रह्म ही त्वम्पदार्थ है, यही महावाक्य यहाँ मन्त्र है । इससे ही 'निजशरीरागारशुद्धि' संभव है क्योंकि निजशरीररूप आगार स्वयं अशुद्धि है जिसका 'उपसंक्रमण'(तै.२.८) करना है । शरीर से त्रिविध शरीर समझने चाहिये ।

पुण्याह का रूपक बाँधा हैं । गृहप्रवेशादि मंगलकार्यों के लिये पुण्याह कर्म किया जाता है । घट में जल भर कर घट को मौली से बाँध, मुँह पर पल्लव रख उस पर नारियल आदि फल रखना उसके अंग हैं । इनके दार्ष्टान्तगत प्रतिनिधि यहाँ बता दिये हैं । मन को अन्दर, बाहर सभी ओर से भगवन्मय करने से भी अनन्य भक्ति को स्पष्ट किया है । बाहर से कड़ा होने पर भी भीतर सरस होना श्रीफल का वैशिष्ट्य होने से उसे भगवद्बोध का प्रतीक बनाया है । मौली रक्तवर्ण की होने से व बाँधने वाली होने से भक्ति की सूचक है । घड़े को बाँध भी सकते हैं और उसमें भर भी सकते हैं अतः वह मनःस्थानीय है । समुद्र, झरना आदि जलराशियों के निकट पहुँचते ही मन में एक विलक्षण शान्त आकर्षणजन्य सुख का अनुभव सार्वजनीन है ही । पोषक होने से पत्तों का भगवच्चरण याद दिलाना स्वाभाविक है । जब तक हमें पोषण की आवश्यकता है तब तक सदाशिव के चरणों के आश्रयण से ही वह हमें मिल सकता है । कर्म व उपासना का फल ज्ञान है, यह स्पष्ट है । किं च यह सूचित किया कि सभी कर्मों के इस प्रकार सूचित रहस्यभूत अर्थों को जानकर कर्म करते हुए ऐसी भावना करनी चाहिये । यद्यपि कर्म स्वप्रधान हैं तथापि वे इस प्रकार से सूक्ष्म तत्त्वों के प्रतीक भी हैं । यहाँ दो भूलों से बचना चाहिये : प्रथम तो यह कि कर्म की क्रियाप्रधानता से उसके व्यंग्य अर्थ को भूल नहीं बैठना चाहिये; द्वितीय यह कि कर्म का व्यंग्य अर्थ है अतः कर्म को गौण या अनावश्यक नहीं समझना चाहिये । इन्द्रियों को (अक्षों को) परमेश्वर में (रुद्र में) लगा देना रुद्राक्षधारण का व्यंग्यार्थ है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम रुद्राक्षधारण न करें । और न यह कि करें रुद्राक्षधारण और इन्द्रियाँ पाप में लगाये रहें । दोनों कार्य करने चाहिये । अतएव '*रुचिरम्*' विशेषण है । भावना न कर किया कर्म पुण्याह है और भावना सहित किया वही रुचिर पुण्याह है । '*विद्यया.... वीर्यवत्तरम्*'*(छा. १.१.१०)*आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण जाननी चाहिये । अस्तु; प्रधानतः यहाँ अनन्य भक्ति — जिसमें भगवान् अपने से अन्य नहीं रहते — बतायी गयी है जिसे दृष्टि में रख स्वस्वरूपानुसन्धान आदि लक्षण अन्यत्र किया है ॥३६ ॥

अब नवांग भक्ति के प्रथम अंग श्रवण का प्रस्ताव करते हैं—

आम्नायाम्बुधिमादरेण सुमनःसंघाः समुद्यन्मनो
मन्थानं दृढभक्तिरज्जुसहितं कृत्वा मथित्वा ततः ।
सोमं कल्पतरुं सुपर्वसुरभिं चिन्तामणिं धीमतां
नित्यानन्दसुधां निरन्तररमासौभाग्यमातन्वते ॥३७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुमनःसङ्घः = विद्वत्समुदाय, **समुद्यन्मनः** = दृढ चित्त को, **मन्थानम्** = मथानी, **कृत्वा** = बनाकर (और उसे), **दृढभक्तिरज्जुसहितम्** = स्थिर भक्तिरूप रस्सी से सम्बद्ध, [**कृत्वा** = कर], **आदरेण** = श्रद्धापूर्वक, **आम्नायाम्बुधिम्** = शास्त्ररूप सागर को, **मथित्त्वा** = मथकर, **ततः** = उससे, **सोमम्** = चन्द्रमा, **कल्पतरुम्** = कल्पवृक्ष, **सुपर्वसुरभिम्** = दैवी गाय (कामधेनु), **चिन्तामणिम्** = इच्छा पूर्ण करने वाली मणि, **नित्यानन्दसुधाम्** = सदा बना रहने वाला आनन्दरूप अमृत (और), **धीमताम्** = बुद्धिमानों को होने वाला, **निरन्तररमासौभाग्यम्** = सनातन लक्ष्मीरूप सौभाग्य, **आतन्वते** = प्राप्त करते हैं।

भक्तिविवेचन में गौडब्रह्मानन्द सरस्वती श्रवण का लक्षण करते हैं '*विष्णोः सगुणस्य वा निर्गुणस्य वा शब्देन ज्ञानं, तादृशविष्णुप्रतिपादकशब्दस्य श्रोत्रेण ग्रहणं च श्रवणम्' (न्या. रत्न. पृ. ३१४ प्र.द्वा.)*। कहीं केवल 'सुन लेना' न समझ लिया जाये इसलिये नारायणी में '*श्रोत्रेण ग्रहणं तदर्थबोधश्च' (वहीं पृ. ३१८)*- यह स्पष्ट किया है। सारस्वत लक्षण के प्रथम भाग से स्वयं किया शास्त्रविचार और द्वितीय से गुरु आदि के मुख से कहे जाते शब्द को सुनकर समझना श्रवण पदार्थ निश्चित होता है। दोनों कहने से स्पष्ट किया कि गुरु आदि से सुनना भी आवश्यक है और स्वयं विचार पूर्वक अध्ययन भी आवश्यक है। वामकेश्वरादि तन्त्रों में

'मननं कीर्तनं ध्यानं स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्'॥

इस प्रकार मनन का ग्रहण है। उदयनादि नैयायिकों ने भी न्यायचर्चारूप मनन को भगवान् शंकर की उपासना ही माना है—

'न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्। उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता'

क्योंकि उक्त श्रवण को अर्थनिश्चयपर्यन्त माना है और क्योंकि मनन के बिना अर्थनिश्चय असम्भवप्राय है इसलिये मनन को श्रवण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। युक्तिपूर्वक शब्दार्थ- निश्चय श्रवण और युक्तिपूर्वक अर्थ-विचार मंनन है ऐसा सर्वज्ञादि मुनियों ने बताया है, अतः दोनों में युक्तिपूर्वकता होने से उक्त अंतर्भाव सुसंगत है। सविशेषश्रवण अपर का व निर्विशेषश्रवण परम भक्ति का अंग है। अधिकारभेद से दोनों की व्यवस्था है।

दूध में घी छिपा रहता है, जिसे मथकर निकालना पड़ता है। शास्त्र में भी परतत्त्व ऐसे ही छिपा है, उसे मथकर निकालना पड़ता है। उपक्रमादि मीमांसास्थापित लक्षणों का अनुसन्धान पूर्वक श्रवण ही मन्थन है। सगुणतत्त्व के अवबोधार्थ भी मन्थन आवश्यक है जिसके विना भ्रमवश मार्गभ्रंश हो जाना स्वाभाविक है। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि परमेश्वर के स्वरूप ही हैं यह सभी सगुण-प्रसंगों का निर्णय है पर मन्थन न करने से 'विष्णु ही परतत्त्व है, शिव नहीं' आदि भ्रान्त ज्ञान वैष्णवंमन्यों को हो जाते हैं। दीक्षित जी ने ऐसे मन्थन न करने वालों को दुर्मति कहा है '*ईशद्वेषगाढानलकलितहृदां दुर्मतीनां दुरुक्तीः' (शिवार्क, मंगलाचरण)*। दूध को ही मथना पड़ता है, पानी मथने से घी नहीं मिलता। ऐसे ही वेदादिसच्छास्त्रों का ही श्रवण कर्तव्य है। चाहे जिस मनःकल्पित ग्रन्थ को 'संहिता' नाम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्ध देखकर मथना प्रारंभ करें तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। उन ग्रन्थों के सदुपदेश प्रतीत होने वाले भाग भी सच्छास्त्रों से ग्रहण करने चाहिये, उनसे नहीं। पवित्र गो दुग्ध भी जैसे कुत्ते के चमड़े में पड़ा हो तो ग्राह्य नहीं होता वैसे असद्ग्रन्थों में बतायी अच्छी प्रतीत होने वाली बात भी ग्राह्य नहीं होती। जैसे रोगनिदानार्थ चाहे जिस पत्र-पत्रिका का अनुसरण वैद्यादि नहीं करते किन्तु प्रामाणिक ग्रन्थों का ही करते हैं ऐसे धर्म के व ब्रह्म के विषय में स्वीकृत प्रामाण्य वाले ग्रन्थ ही विचारणीय हैं, बिना गंभीर विचार व साधना किये लिखी गयी जिस किसी आस्तिक-नास्तिक की पुस्तक से इन तत्त्वों का निर्णय नितरां मूर्खता है। शास्त्र में श्रद्धा हो तभी ठीक अर्थ समझ आता है। अश्रद्धेय स्थल की ठीक बात भी गलत लगती है। वचनव्यक्ति से कभी प्रतीत होता है कि अमुक बात अटपटी है, यदि वक्ता में श्रद्धा हो तो बात की संगति लगायी जाती है, अन्यथा अटपटा ही मानकर छोड़ना पड़ता है। शास्त्र को विशृंखल विचारसमूह आदि मानना उसमें आदर न रखना है। समस्त शास्त्र किसी निश्चित प्रयोजन वाला व किसी निश्चित क्रम से उस प्रयोजन की सिद्धि के उपाय बताने वाला है। यह उस पर श्रद्धा रखना है। साथ ही मन में शास्त्र व शास्त्रतात्पर्य के प्रति प्रेम—प्रेप्सा— होनी चाहिये, अन्यथा उपेक्षा सहज है। मन को मथानी उपनिषत् में भी बताया है।

'घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।

सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन' ॥ब्रह्मबिन्दूप. २०॥

मथने से प्राप्य वस्तुएँ ये हैं- *सोमम्* मन की शान्ति, *कल्पतरुम्* ऐहलौकिक आध्यात्मिक लाभ, *सुपर्वसुरभिम्* पारलौकिक लाभ, *चिन्तामणिम्* सांसारिक लाभ, *नित्यानन्दसुधाम्* सविशेष मोक्ष, और *निरन्तररमासौभाग्यम्* निर्विशेष मोक्ष। '*सुखेन धीयते पीयत इति सुधा*' — जिसका सुख के लिये व सुखपूर्वक पान हो उसे सुधा कहते हैं अतः उससे सविशेषावस्था ध्वनित होती है क्योंकि पीने वाले और पिये जाने वाले का भेद है। यह तो जो धीमान् नहीं, वे भी पा सकते और पर्याप्त कृतकृत्यता का अनुभव कर सकते हैं। लक्ष्म्यर्थक रमाशब्दित मोक्षसाम्राज्य तो धीमानों को प्राप्य है अतः उसके लिये '*धीमताम्*' शब्द का नियोजन किया है। कुछ व्याख्याता '*सोमम्*' आदि को मोक्ष का ही प्रतीक मानतें हैं ॥३७॥

श्रवण के फलभूत रत्यङ्कुर का वर्णन करते हैं—

प्राक्पुण्याचलमार्गदर्शितसुधामूर्तिः प्रसन्नः शिवः

सोमः सद्गणसेवितो मृगधरः पूर्णस्तमोमोचकः।

चेतः पुष्करलक्षितो भवति चेदानन्दपाथोनिधिः

प्रागल्भ्येन विजृम्भते सुमनसां वृत्तिस्तदा जायते ॥३८॥

प्राक्पुण्याचलमार्गदर्शितसुधामूर्तिः = पूर्व में उपार्जित पर्वताकार अत्यधिक पुण्यों द्वारा दिखाये सुधासमान (अमृतसमान) रूप वाले, **प्रसन्नः** = प्रशान्त, **सद्गणसेवितः** = उत्तम गणों से सेवित, **मृगधरः** = मृग को धारण किये हुए, **पूर्णः** = पूर्णस्वरूप, **तमोमोचकः** = अज्ञान-निवर्तन करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाले, **सोमः** = उमा सहित, **शिवः** = भगवान् शंकर, **चेद्** = यदि, **चेतःपुष्करलक्षितः** = मनरूप तालाब में प्रकट हो जायें, **तदा** = तो, **आनन्दपाथोनिधिः** = आनन्द का समुद्र, **प्रागल्भ्येन** = पुष्कलता से, **विजृम्भते** = फैलता है (और), **सुमनसाम्** = सत्पुरुषों के (मन में), **वृत्तिः** = शिवाकार वृत्ति (प्रेम-वृत्ति), **जायते** = उत्पन्न होती है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार श्रीमधुसूदन स्वामी ने भगवद्भक्तिरसायन में उपायों का वर्णन किया है, जिनमें श्रवण के अनन्तर रत्यङ्कुर का उत्पन्न होना बताया है- '*...ततो हरिगुणश्रुतिः ॥ ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः*' (*पृ. ८७*)। व्याख्या में स्वयं उन्होंने इस रत्यङ्कुर को स्पष्ट किया है- '*रतिर्नाम भक्तिरसस्थायिभावो द्रुतचित्तप्रविष्टभगवदाकारतारूपः संस्कारविशेषः स एवाङ्कुरो भागवतधर्मानुष्ठानात्मकबीजस्य*'। इसे समझने के लिये स्थायिभाव का प्रकृतोपयोगिस्वरूप जानना चाहिये। वहीं (पृ. ४०) कहा है—

'*स्थायिभावगिरातोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते। व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः*' ॥

तापक द्वारा द्रुत किये गये (पिघलाये गये) चित्त में वस्तु अपना संस्कार डालती है जो चित्त को वैसे ही फिर छोड़ नहीं पाता जैसे पिघली लाख में डाला रंग.अतः स्थायी होने से वह संस्कार ही स्थायिभाव कहलाता है और स्थायिभाव ही परमानन्दरूप से व्यक्त हो तो रसशब्द से व्यवहृत होता है। अतएव (परमानन्दरूप से व्यक्त होने वाला होने से) चाहे जो संस्कार स्थायिभाव नहीं है किन्तु सुखरूप संस्कार ही स्थायिभाव है यह भी वहीं (पृ. ५०) स्पष्ट है—

'*एवं सति सुखाकारः प्रविष्टो मानसे यदा। तदा स स्थायिभावत्वं प्रतिपद्य रसो भवेत्*' ॥

अतः द्रवावस्थ मन में निविष्टमात्र सुख रत्यंकुर है और दृढावस्थ वही रस है, यह समझना चाहिये। '*रसो वै सः*' (*तै. २.७*) आदि श्रुति के अनुरोध से चैतन्य को ही रस माना जाता है— '*द्रवावस्थमनोवृत्तौ सुखत्वेन आरूढा चिदेव रसः*' (*भक्तिर. पृ. ४६ तथा १७१*)। वृत्त्यारूढचिद्विषयक होने से आनन्दात्मक परेश्वर में रस शब्द गौण है ऐसा तैत्तिरीयभाष्य की वनमाला टीका में कहा है: '*सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणेऽभिव्यक्तःसन् प्राणिनामानन्दकरः.... आनन्दकरत्वसाम्याद् रसशब्दो ब्रह्मानन्दे गौणः*'। जिसके कारण तृप्ति का अनुभव हो वही रस है '*तृप्तिहेतू रसो नाम*' (*तै.वा*)। क्योंकि ब्रह्मज्ञ लोग बाह्य साधनों के अभाव में भी वैसे ही तृप्त रहते है जैसे अज्ञानी लोग बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति से, इसलिये निश्चय ही उनकी तृप्ति का कोई कारण है, वह ब्रह्म है, वही रस है। '*बाह्यानन्दसाधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसो, नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम्*' (*तै. भाष्य. २.७*)। भगवान् भाष्यकार सार को ही रस बताते हैं: '*रसः सार इत्यर्थः*' (*बृ.भा. २.३.२*), '*सारा इति रसाः*' (*छां. भा. ३.५.४*), '*रसान् साररूपान्*' (*छा. भा. ४.१७.१*)। सार का भी तात्पर्य है वह आधार जिसके विना वस्तु टिक न पाये, सूख जाये: '*रसः परायणमवष्टम्भः*' (*छां. भा. १.१.२*), '*यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राणउत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति, एष हि वाङ्गानां रसः*' (बृ. १.३.१९)। क्योंकि हर सार, वीर्य, रस हो सकता है इसलिये प्रार्थनीय रस को श्रुति ने 'सर्वाधिक कल्याणकारी' विशेषण से विभूषित किया है '*शिवतमो रसः*' (*यजुः सं. ३६.१४*)। एवं च संसारसार होने से परमात्मा ही रस है पर उनका विशिष्टवृत्ति पर आरूढ सुखस्वरूप ही हमारे व्यवहार के योग्य रस है। वह रस जिस द्वार से निष्पन्न होता है उसका नाम है रति और क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह रस का 'कारण' है इसलिये रति को ही अंकुर कहते हैं। इस अंकुर के फूटने में कारण बनता है श्रवण। रति का सामान्य अर्थ है प्रेम। भगवान् का श्रवण करने से उनमें प्रेम होना स्वाभाविक है। यद्यपि पहले प्रेम होगा तभी श्रवण संभव है, क्योंकि श्रवणप्रक्रिया में प्रेम को भक्ति नाम से कहा जा चुका है तथापि वह श्रवणमात्र का प्रयोजक और यह रसनिष्पत्ति का प्रयोजक है अतः दृढता और फल में भेद है। इस रत्यङ्कुरोत्पत्ति को '*वृत्तिर्जायते*' से प्रकृत में कहा है। अतः मनरूप तालाब में प्रकट होना द्रुत मन में सुखरूप से निविष्ट होना ही है। संस्कार के लिये अनुभव चाहिये, अतः कहा '*दर्शितसुधामूर्तिः*'। श्रवण की पूर्वभूमिका '*श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु*' सूचित की '*प्राक्पुण्याचलमार्ग*' से। श्रवण से भगवान् अपनी सुधामूर्ति का दर्शन करा देते हैं, तभी संस्कार पड़ता है। क्योंकि यह प्रारंभिक दर्शन केवल भक्त में रत्यंकुरार्थ होता है, बना रहने वाला नहीं, इसलिये सुधासम मूर्ति को सुधामूर्ति कहा। सगुणोपासक भी साधना की आरंभिक दशा में किसी तरह का भगवदनुभव पाते हैं जिसके बल पर ही वे साधनामार्ग पर चलते हैं। निर्गुणोपासकों को भी श्रवण से सुधामूर्ति का कुछ भान हो जाता है जिसके दार्ढ्य के लिये वे श्रवणादि के अभ्यास में निरत हो पाते हैं। इस सुधामूर्ति की विशेषताएँ स्पष्ट ही साधक को शिक्षा देने के लिये हैं ॥३८॥

रत्यंकुर की कार्यावस्था है स्वरूपाधिगम। उसे दिखाते हैं—

धर्मो मे चतुरङ्घ्रिकः सुचरितः पापं विनाशं गतं
कामक्रोधमदादयो विगलिताः कालाः सुखाविष्कृतः।
ज्ञानानन्दमहौषधिः सुफलिता कैवल्यनाथे सदा
मान्ये मानसपुण्डरीकनगरे राजावतंसे स्थिते ॥३९॥

मान्ये = माननीय, राजावतंसे = सर्वश्रेष्ठ राजा, कैवल्यनाथे = मोक्षसाम्राज्य के स्वामी, भगवान के, मे = मेरे, मानसपुण्डरीकनगरे = मनःकमलरूप नगर में, सदा = हमेशा के लिये, स्थिते = स्थित हो जाने पर, चतुरंघ्रिकः = चार चरणों वाला, धर्मः = धर्म, सुचरितः = सार्थक सिद्ध हो गया। पापम् = पाप, विनाशम् = विनाश को, गतम् = प्राप्त हो गया। कामक्रोधमदादयः = काम, क्रोध, मद आदि, विगलिताः = समाप्त हो गये। कालाः = समय, सुखाविष्कृतः = सुख प्रकट करने वाला हो गया (तथा), ज्ञानानन्दमहौषधिः = ज्ञानात्मक आनन्दरूप मूल्यवान् खेती, सुफलिता = बढ़िया पक गयी।

एकादश भक्तिभूमिकायें हैं—

(१) प्रथमं महतां सेवा, (२) तद्दयापात्रता ततः।
(३) श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु, (४) ततो हरिगुणश्रुतिः ॥
(५) ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः, (६) स्वरूपाधिगतिस्ततः।
(७) प्रेमवृद्धिः परानन्दे, (८) तस्याथ स्फुरणं ततः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(९) भगवद्धर्मनिष्ठाऽत:, *(१०) स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता ।*

(११) प्रेम्णोऽथ परमाकाष्ठा, इत्युदिता भक्तिभूमिका:' ॥भक्तिर. पृ. ८७ ॥

इस क्रम में रत्यंकुर ही बढ़कर प्रेमास्पद भगवान् के साक्षात्कार के स्वरूप में पहुँचता है । इस स्फुरण के पूर्व ही स्वरूपाधिगति अर्थात् स्व-रूपेण भगवान् की अधिगति हो चुकी है । स्वरूपाधिगति का लक्षण है— '*प्रत्यगात्मस्वरूपस्य स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयातिरिक्तत्वेन साक्षात्कारः... एवं शुद्धे त्वम्पद-लक्ष्येऽवगते तत्पदलक्ष्येण सहाऽभेदज्ञानं भवति' (भक्तिर. पृ. ११७-११९)* । अत: स्फुरण का स्वरूप भी ऐसा ही समझना होगा । क्योंकि इसका उत्कर्ष ही उत्तरावस्थाएँ हैं इसलिये इसके हो जाने पर फललाभ हो चुका समझना चाहिये । उद्धवगीता (१४.२५ आदि) में स्पष्ट कहा है कि भगवल्लाभ के साथ अशोभनीयता का सामानाधिकरण्य संभव नहीं । यह भी बताया है (१५.९) कि धर्मादि की कर्त्तव्यता की इति दृढ भगवत्प्रेम में जाननी चाहिये । अत: स्वरूपत: या स्वरूपेण अधिगम ही स्वरूपाधिगम है और उसीका दृढ साक्षात्कार स्फुरण है । स्फुरणभूमि को प्राप्त अधिगति यहाँ समझनी चाहिये । अभी हम मन में अपने आपको मानते हैं और यह वह स्थिति है जब वहाँ परमात्मा को जानेंगे '*यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै. २.१)* । इष्ट, पूर्त, दत्त व शील- ये चार धर्म के चरण समझने चाहिये । महर्षि दुर्वासा ने परशम्भुमहिम्नस्तोत्र में (१२३) भी कहा हैं:

'हतो मायामृत्युर्गुरूवदनखड्गेन महस: प्रसन्नं मालिन्यं व्यपगतमहङ्कारतिमिरम् ।

हता मे कामाद्या: प्रबलरिपव: स्वात्मविषया महेश त्वत्सेवाविदितसुविवेकाग्निमहसा' ॥

'तृप्तो भवति' (ना. भ. सू. ४) से देवर्षि ने यही अवस्था सूचित की है । निर्विशेष के श्रवण से तो स्पष्ट ही स्वरूपस्फुरण होता है, सविशेष की भी श्रवणादि भक्ति से फल यह होता है कि या तो ज्ञानद्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, जैसा कि अमलानन्द जी ने बताया है—

'वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्मषम्' ॥

और या मानसनगर में अपनी अविद्यमानसमता व भगवान् की ही प्रधानता हो जाने से परम शान्ति प्राप्त हो जाती है । सिद्ध ईश्वरोपासक के पाप इहलोक में ही निवृत्त हो जाते हैं । यह बादरायणसूत्र '*साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये' (३.३.२७)* से सिद्ध है ॥ ३९ ॥

श्रवण का सफल वर्णन कर कीर्तन का वर्णन करते हैं—

धीयन्त्रेण वचोघटेन कविताकुल्योपकुल्याक्रमै-
रानीतैश्च सदाशिवस्य चरिताम्भोराशिदिव्यामृतै: ।
हत्केदारयुतश्च भक्तिकलमा: साफल्यमातन्वते
दुर्भिक्षान्मम सेवकस्य भगवन् विश्वेश भीति: कुत: ॥४० ॥

भगवन् = हे भगवान् ! विश्वेश = हे विश्वनाथ ! धीयन्त्रेण = बुद्धिरूपी रहट से, वचोघटेन = वाणीरूप घड़े से, च = और, कविताकुल्योपकुल्याक्रमै: = कवितारूप छोटी-बड़ी नालियों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रास्तों से, आनीतैः = लायी गयी, सदाशिवस्य = सदाशिव के, चरिताम्भोराशिदिव्यामृतैः = कथानकरूप दिव्य अमृतमय जलराशियों से, हृत्केदारयुताः = हृदयरूप खेत वाले, भक्तिकलमाः = भक्तिरूप धान, साफ़ल्यम् = पक, आतन्वते = रहे हैं, च = तो, मम = मुझ, सेवकस्य = (आपके) सेवक को, दुर्भिक्षात् = दुर्भिक्ष से, कुतः = क्यों, भीतिः = डर (होगा) ?

'सगुणस्य वा निर्गुणस्य वा बोधकस्य शब्दस्य उच्चारणं कीर्तनम्' (न्या.रत्न. पृ ३१४, प्र.द्वा.)— यह कीर्तन का अर्थ है । *'कीर्तयन्तो माम्', 'कथयन्तश्च' (गी. ९.१४, १०.९)* आदि भगवद्वचन अनुसन्धेय हैं । यहाँ खेती का रूपक है । भक्तिरूप पौधे का सिंचन कीर्तन से होता है । कीर्तन से पुनः पुनः भगवान् का चिन्तन होता है और संस्कारदाढ्र्य आता है । अन्य लोगों में भी कीर्तन सुनकर भक्तिभाव होता है । भक्तों द्वारा स्तोत्र साहित्य का सर्जन इसी प्रयोजन से होता है । कीर्तन व्यक्त वाणी से करना चाहिये । किंतु प्रमुखतया कीर्तन स्वयं अपने खुद के लिये किया जाता है, अन्य कोई उससे लाभ उठाये तो हानि नहीं, अतः प्रसारणयन्त्र आदि के प्रयोग से रात्रि आदि काल में अनिच्छुक व्यक्तियों को जबरदस्ती कीर्तन सुनाना व्यर्थ और उलटे फल वाला है क्योंकि उन्हें कीर्तनमात्र से विरोध हो जाता है । यथासंभव अध्यात्मसाधनों को लादना नहीं चाहिये । इसी प्रकार कीर्तन सुरूचिपूर्ण होना चाहिये । जो हमें ही कर्णकटु लगेगा वह भगवान् को क्या रिझायेगा । साथ ही साथ कीर्तन के शब्दों का व धुनों का चयन ऐसा होना चाहिये कि श्रोता को या स्वयं को अनभीष्ट भावों का स्मरण न आये । इन्हीं सब का विचार किया जाये यह 'धी' शब्द से सूचित किया । कविता को नाली बताया है । प्रधान तो बहने वाला जल होता है, नाली नहीं । अतः कविता के गुणों पर इतना मुग्ध हो जाना नहीं चाहिये कि पानी साफ है या गंदला इसका ख्याल न रहे । ऐसे ही स्वरादि के विषय में समझना चाहिये । कीर्तन से चरित-वारि लाना है हृत्केदार में, यह ख्याल रखना चाहिये । जो हम कीर्तन करें उसका अर्थ हमारे मन में बैठता जाना चाहिये । अन्य के भी हृदय में अर्थ पहुँचना चाहिये । समझे बूझे विना बोलते रहना यहाँ कीर्तन से विवक्षित नहीं । अतएव भाषाबद्ध कीर्तनों का प्रचार है । किंतु बहुधा उनके भी अर्थ का कोई विचार नही रहता, जबकि रहना चाहिये । इस तरह कीर्तन करते रहें तो भक्तिरूप खेती सूखेगी नहीं ।।४० ।।

अब अर्चन नामक अंग का परिचय कराते हैं—

पापोत्पातविमोचनाय रुचिरैश्वर्याय मृत्युंजय
स्तोत्रध्याननतिप्रदक्षिणसपर्यालोकनाकर्णने ।
जिह्वाचित्तशिरोङ्घ्रिहस्तनयनश्रोत्रैरहं प्रार्थितो
मामाज्ञापय तन्निरूपय मुहु र्मामेव मा मेऽवचः ।।४१ ।।

मृत्युञ्जय = हे मृत्यु- विजेता ! पापोत्पातविमोचनाय = पाप की छलाँगों से बचाव के लिये (और), रुचिरैश्वर्याय = उज्ज्वल ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रयोजन से, 'जिह्वाचित्तशि-रोङ्घ्रि-हस्तनयनश्रोत्रैः = जीभ, मन, सिर, चरणों, हाथों, आँखों व कानों द्वारा, अहम् = मुझ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से, **स्तोत्रध्याननतिप्रदक्षिणसपर्यालोकनाकर्णने** = (क्रमशः) स्तोत्रपाठ, ध्यान, नमस्कार, प्रदक्षिणा, पूजा, दर्शन व कथा श्रवण करने के लिये, **प्रार्थितः** = प्रार्थना की जा रही है। **माम्** = मुझे (उचित कार्य करने को), **आज्ञापय** = आज्ञा दीजिये। **मुहुः** = बार-बार, **माम्** = मुझे, **तत्** = उसे, (उचित कार्य को), **एव** = अवश्य, **निरूपय** = स्पष्ट कर समझाइये। **मे** = मेरे लिये, **अवचः** = चुप, **मा** = मत हो जाइये।

'श्रवणादिभिन्नो विष्णुप्रीतिहेतुव्यापारः' अर्चन शब्दार्थ है। इसे ही *'श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु'* से एकादश भूमिकाओं में समझना चाहिये। स्वधर्मनिर्वाह के प्रति इस उत्साह को चित्तद्रावक भी समझना चाहिये। भक्तिरसायन में (पृ. १४३) बताया है—

'तथा स्वधर्मरक्षार्थं या प्रवृत्तिः प्रयत्नतः। तया चित्तस्य विस्तारो धर्मोत्साहो द्रुतौ भवेत्'॥

यद्यपि

'धर्मेत्साहो दयोत्साहो जुगुप्सा त्रिविधां शमः षडप्येतेन्यविषया भगवद्विषया न हि'॥

इत्यादि द्वारा धर्मोत्साह भक्तिरसता प्राप्त नहीं करता ऐसा वहीं (पृ. १४६) बताया है, तथापि वह अभक्त विषयक समझना चाहिये। जो भक्त नहीं और धर्म में यत्नशील हैं, उन्हें धर्मोत्साह से चित्तद्रुति नहीं मिलती, किन्तु जो हैं ही भक्त और धर्माचरण से भगवत्प्रीति ही चाहते हैं उन्हें तो मिल ही जाती है। प्रयत्नपूर्वक स्थित धर्मोत्साह को तृतीय व स्वाभाविक हो चुके उसे नवम भूमिका समझना चाहिये: *'भगवद्धर्मनिष्ठा प्रयत्नपूर्विका साधनम्, स्वतःसिद्धा तु भगवद्धर्मनिष्ठा भवति फलभूता नवमी भूमिका' (भक्तिर. पृ. १२६)*। यहाँ तृतीय भूमिका विवक्षित है, नवम भूमिका आगे (८१ व ९४) बतायी जायेगी। श्रवण व कीर्तन दोनों का उपकार करने वाली होने से अर्चना उनके बाद बतायी है। *'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी. ३.५)* आदि शास्त्र व अनुभव से सिद्ध है कि बाह्याभ्यन्तर करण कुछ न कुछ किये बिना नहीं रहते। यदि उन्हें धर्म करने में नहीं लगायेंगे तो वे अधर्म करेंगे। अतः प्रयत्नतः उन्हें धर्म में व्यापृत रखना चाहिये। इससे अधर्मोपचय ही नहीं बचता, पुण्य या शुद्धि रूप लाभ भी मिलता है। श्रवण व कीर्तन से भगवद्विषयक रति की तीव्रता हो जाने से मन आदि इन्द्रियाँ स्वयं भगवत्सम्बन्ध पाना चाहती हैं। इसमें लौकिक प्रीति व दैव प्रीति की तुल्य प्रवृत्ति है। किन्तु भक्त अपनी शरणागति को याद कर भगवान् से आज्ञा माँग रहा है। इस अवस्था में सर्वोत्तम है गुरुरूप से प्रत्यक्ष उपलब्ध परमेश्वर से आज्ञा व निर्देश माँगना। अधिकारानुरूप साधना लाभकारी होती है। किसी के लिये स्तोत्रपाठ अधिक हितकारी होगा तो किसी के लिये दर्शन। अतः आज्ञा—प्रार्थना और इतिकर्तव्यता का ज्ञान— माँगना संगत है। यदि गुरु की उपलब्धि न हो तो अन्तर्यामी रूप से स्थित परमेश्वर से इस विषय में प्रेरणा की याचना करनी चाहिये। सभी करण यद्यपि भगवदर्चन में विनियुक्त करने हैं तथापि गौण-प्रधानभाव तथा प्रकार में नाना विभेद होने से प्रेरणा की आवश्यकता है। यदि सीधे ही प्रेरणा न मिले तो इष्ट से एतद्विषयक प्रार्थना करते रहना चाहिये। उससे यथाकाल यथोचित प्रतिभान हो जाता है, यह निश्चित है। यह भी याद रखना है कि मिली प्रेरणा या आज्ञा की कथमपि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, पालन ही करना चाहिये ॥४१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवाङ्ग भक्ति के दास्यरूप अंग का प्रतिपादन करते हैं—

गाम्भीर्यं परिखापदं घनधृतिः प्राकार उद्यद्गुण-
स्तोमश्चाप्तबलं घनेन्द्रियचयो द्वाराणि देहे स्थितः ।
विद्यावस्तुसमृद्धिरित्यखिलसामग्री समेते सदा
दुर्गातिप्रिय देव मामकमनोदुर्गे निवासं कुरु ॥४२ ॥

दुर्गातिप्रिय= हे किलों के शौकीन! **देव**= हे महादेव, **गाम्भीर्यम्**= अनुच्छृंखलता (जिसकी), **परिखापदम्**= खाई का स्थान है, **घनधृतिः**= दृढ धैर्य (जिसका), **प्राकारः**= परकोटा है, **उद्यद्गुण-स्तोमः**= उत्तम गुणों का समुदाय (जिसका), **आप्तबलम्**= पर्याप्त सैन्य बल है, **देहे**= देहमें, **स्थितः**= स्थित, **घनेन्द्रियचयः**= पुष्ट इन्द्रियों का समूह (जिसके), **द्वाराणि**= दरवाजे हैं, **च**= और, **विद्या**= विद्या (जिसमें), **वस्तुसमृद्धिः**= आवश्यक वस्तुओं की सम्पत्ति है, **इति**= इस प्रकार, **अखिलसामग्री-समेते**= सारी सामग्री से सम्पन्न, **मामकमनोदुर्गे**= मेरे मनरूप किले में, **सदा**= हमेशा, **निवासम्**= निवास, **कुरु**= कीजिये ।

अपने किले का अधिकार दे देने से किलेदार की दासता अर्थसिद्ध है । यहाँ मन को किले के रूपक से प्रस्तुत किया है । भगवान् के रहने लायक स्थान कैसे होते हैं यह पहले पटकुटी (२१) और नगर (३९) के रूपकों द्वारा बताया जा चुका है । भक्त में छिछलापन नहीं होना चाहिये । थोड़े-से भी विक्षेपक से अधिक विक्षिप्त हो जाना अगम्भीरता है । गांभीर्य को खाई की जगह बताया । किले की दीवार के बाहर खुदी खाई के कारण किले में प्रवेश दुष्कर होता है, ऐसे ही गंभीरता हो तो सांसारिक कठिनाइयाँ मन में प्रवेश नहीं कर पाती । बाहर ही बाहर उन्हें निपटा दिया जाता है, मन के भजन में वे रुकावट नहीं डाल पाती । इस खाई में दक्षता रूप जल भरा समझना चाहिये । बिना दक्षता के अकेला गाम्भीर्य अधिक लाभ नहीं देता । औचित्य पहचान कर परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित कर कार्य कर लेने के कौशल को दक्षता कहते हैं । सामंजस्य में कुछ स्वयं झुकना पड़ता है, कुछ परिस्थिति को बदलना पड़ता है, किंतु सारी प्रक्रिया में औचित्य का परित्याग नहीं होना चाहिये । अन्यथा दक्षता की जगह अवसरवादिता होगी । सहने व प्रतीक्षा कर सकने की शक्ति का नाम धैर्य है । सहसा जो किया जाता है वह प्रायः सन्तोषप्रद नहीं होता । सत्य, अकुटिलता, अनिन्द्याचारिता, अदम्भिता, दर्पराहित्य, अकुटिलता, मात्सर्यरहितता अक्रोधिता, शौच, करुणा, अहिंसा, इन्द्रियनिरोध आदि सद्गुण हैं । प्रायशः, जिन गुणों को किसी में पाकर उस पर श्रद्धा हो, 'यह भला है' ऐसा निश्चय हो, वे सद्गुण समझने चाहिये । जैसे सैनिक शत्रु से लड़ते हैं ऐसे इन गुणों को भी अपने प्रतिपक्षी गुणों से लड़ना पड़ता है । अन्यत्र सुख देखकर ईर्ष्यारूप शत्रु आये तो मैत्रीरूप सैनिक से उसे लड़ाना चाहिये । दुःखी को देख उपेक्षा का भाव जगे तो करुणा से उसे दबाना चाहिये । इसी प्रकार अन्य प्रातिस्विक प्रतिपक्षभावनाएँ काम में लानी चाहिये । सामन्यतः 'हिंसादि दुःखादिफलक हैं' यह विचार भी प्रतिपक्षभावना है (योगसूत्र २.३४) । जैसे युद्धरहित काल में भी सैनिकों को कवायद आदि और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पोषक आहार आदि से पुष्ट रखा जाता है ऐसे इन अध्यात्म-सैनिकों को भी विरोधी भाव न होने पर भी अभ्यस्त रखना चाहिये, अर्थात् ईर्ष्या उठने पर ही मैत्रीभाव करें ऐसा नहीं, सामान्यतः भी मैत्री ही करनी चाहिये तथा मैत्री आदि के लाभ का विचाररूप भोजन भी समर्पित करते रहना चाहिये।

बाहर विजयार्थ जाने के लिये व प्रतिद्वन्द्वी को अन्दर न घुसने देने के लिये किले में मजबूत दरवाजे चाहिये। अध्यात्म किले के दरवाजे दसों इन्द्रियाँ हैं: कुछ जानना या करना हो तो इन्हीं से बाहर जाया जाता है व बाह्य विषय मनोदुर्ग में इन्हीं से प्रवेश करते हैं। कर्मेंद्रियों की चेष्टाओं से संबद्ध होकर विषय कर्मेन्द्रियों द्वारा भी घुसते हैं। पुष्टता का तात्पर्य इन्द्रियों की उस सामर्थ्य से है जो आक्रमणकारी विषयों को मन पर विजय न पाने दे । जब मन किसी पूर्वश्लोकोक्त भगवदाज्ञानुकूल कार्य करने इस सामर्थ्य से युक्त होकर जाये तो उसे सफलता मिले। सम्पत्ति तो विद्या ही है। विद्या से ज्ञान व उपासना, दोनों समझने चाहियें। अब तक मन नामक किलेपर हमारा ध्वज फहरा रहा है, उसे उतार भगवान् से प्रार्थना है कि अब आप का ही ध्वज फहरावें, मैं तो दासता स्वीकारता हूँ।

शिवपुराण में (सती. २३.२९) दास्य का यही लक्षण है—

'*सदा सेव्यानुकूल्येन सेवनं तद्धि गोगणैः। हृदयामृतभोगेन प्रियं दास्यमुदाहृतम्*' ॥

दुर्गातिप्रिय शब्द से 'दुर्गा जिन्हें अति प्रिय हैं' यह भी अर्थ समझना चाहिये ॥४२॥

अब सख्य नामक अंग दिखाते हैं—

मा गच्छ त्वमितस्ततो गिरिश भो मय्येव वासं कुरु
स्वामिन्नादिकिरात मामकमनःकान्तारसीमान्तरे।
वर्तन्ते बहुशो मृगा मदजुषो मात्सर्यमोहादय-
स्तान् हत्त्वा मृगयाविनोदरुचितालाभं च सम्प्राप्स्यसि ॥४३॥

भो= हे, गिरिश= पर्वतवासी !, स्वामिन्= हे नाथ !, आदिकिरात= हे प्रथम किरात ! त्वम्= आप, इतः= इधर से, ततः= उधर, मा= मत, गच्छ= घूमिये। मयि= मुझमें, एव= ही, वासम्= निवास, कुरु= कीजिये। मामकमनःकान्तारसीमान्तरे = मेरे मनरूप जंगल की सीमाओं के अंदर, मात्सर्यमोहादयः= असूया, अविवेक आदि रूप, मदजुषः= मदमस्त, बहुशः= अनेक प्रकार के, मृगाः= जानवर, वर्तन्ते= रहते हैं। तान्= उन्हें, हत्त्वा= मारकर (आप), मृगयाविनोद-रुचितालाभम्= शिकार खेलने के शौक को पूरा करने का मौका, च= भी, सम्प्राप्स्यसि= पा लेंगे।

पहले, अपनी तैयारी कर भगवान् को निमंत्रित किया था (२१, ४२)। किन्तु यहाँ न अपनी कोई उदात्ततारूप तैयारी बताई है व न अपनी ही गरज प्रकट की है, बल्कि कहा है कि मुझमें आने से आपको अपना शौक पूरा करने का मौका मिलेगा। अतः यहाँ मैत्रीपूर्ण आह्वान होने से सख्यभक्ति की सूचना है। जो भी मेरे पास सबसे अच्छा आहार आदि है वही आपके लिये उपस्थित है। शिकार में मैं भी साथ रहूँगा, सहायता करता चलूँगा। सख्य का स्वरूप न्यायारत्नावली में बताया है: '*सख्यं प्रेमविशेषादिरूप,*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा सख्यौ तथा विष्णौ । यथा चोपादेयं भक्ष्यादिकं प्राप्तं सख्ये निवेद्यते प्रेमविशेषपूर्वकं, तथा विष्णवे । यथा सख्युः दूषणादिकं परेण क्रियमाणं सोढुं न शक्यते, तथा विष्णोः तन्न सोढव्यम् । यथा तदीयकर्म स्वकीयकर्मवत् क्रियते, तथा विष्णुकर्म कार्यम् । यथाऽयम्मदिष्टं साधयिष्यत्येवेति विश्वासेन सख्युरनुवृत्तिः क्रियते, तथा विष्णोरित्यादि' । अर्थात्- विशेष प्रकार के प्रेम को सख्य कहते हैं । जैसा मित्र में प्रेम होता है वैसा इष्ट में हो तो सख्य भक्ति होती है । जैसे मिला हुआ उपयुक्त भोजनादि मित्र को निवेदित किया जाता है वैसे इष्ट के लिये उसे निवेदित करना और उसी तरह विशेष प्रेमपूर्वक जिस प्रकार मित्र को जबरदस्ती आदि कर किया जाता है; जैसे मित्र पर किसी के द्वारा मढ़ा जाता दोष सहन नहीं किया जा सकता वैसे इष्ट पर किये जाते दोषारोपण को सहन न करना, जैसे मित्र का काम अपना ही काम मानकर कर लिया जाता है वैसे इष्ट के काम को कर लेना; जैसे 'यह मेरा हित अवश्य करेगा' इस निश्चय से मित्र का अनुसरण किया जाता है ऐसे इष्ट का करना इत्यादि सख्य भक्ति है । अंतिम विचार सख्य के अंतर्गत शिवपुराण में (सती. २३.३२) भी है—

'मंगलामंगलं यद्यत् करोतीतीश्वरो हि मे । सर्वं तन्मंगलायेति विश्वासः सख्यलक्षणम्' ॥

इस भाव में औपचारिकता की कमी तथा स्वयं सहारा देने की सामर्थ्य का अनुभव है । दास्य की तरह सर्वथा शरणागति नहीं है । मद आदि को मैं भी जानवर रूप में पहचान चुका हूँ । किंतु दास्य की अपेक्षा प्रेम में वैशिष्ट्य है: दास्य में प्रार्थना थी 'मेरे मन में रहिये' और यहाँ सीधे ही 'मुझ में रहिये' । एवमपि भगवान् की महत्ता का ख्याल होने से '*स्वामिन्*' सम्बोधन है । इस अंग के अनुष्ठाता को अपने सामने आयी हर परीस्थिति का इस भाव से सामना करना चाहिये कि यह मेरे हित के लिये मेरे सखा श्री भगवान् द्वारा भेजी गयी है । अतः परिस्थिति से मुँह मोड़ने का प्रश्न नहीं । परमेश्वर का जो काम है— साधुपरित्राण, दुष्ट-विनाश आदि— उसे अपना ही कार्य मानकर करना चाहिये । भगवान् पर यदि कोई दोषारोपण करे तो सामर्थ्य होने पर उसे उससे विरत करना चाहिये व असमर्थता हो तो वहाँ से चल देना या कान बन्द कर लेना चाहिये । वस्तुतः निश्चय रखना चाहिये कि परमेश्वर में कोई दोष है नहीं । पर यदि कभी स्वयं को शंका हो भी जाये तब भी नास्तिक आदि को तो यथाकथंचित् चुप करना ही चाहिये क्योंकि मित्र के दोष उजागर होने दिये नहीं जाते । हाँ, एकान्त में गुरु आदि से शंका-समाधान द्वारा मन के संदेह अवश्य दूर कर लेने चाहिये । मदादि को भगवान् ही निवृत्त करें ऐसी जगद्धर भट्ट ने (स्तु. कु. १७. १२) भी प्रार्थना की है:

'शम्भो दम्भो दहति कुहकारम्भसंभावनाभिः साभिद्वेषस्त्विषमपकषत्येष रोषप्रदोषः ।

सावष्टम्भं भ्रमयति बृहन्मामहंकारभारः पारं नेतुं प्रभवति भवद्भक्तिरेका भवाब्धेः' ॥

कुहक— द्रोह, उसे उत्पन्न कर दंभ मुझे जला रहा है । *द्वेषपूर्ण रोष*, गुस्सा, मेरे *त्विषम्*- तेज का समापन करने वाला *प्रदोष*- संध्या काल है । अहंकार मुझे *सावष्टंभम्*- गर्व वाला बनाकर कुपथ में भटका रहा है । संसार सागर से पार आपकी भक्ति ही ले जा सकती है ।

'पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमः' इस नमकाध्याय के मंत्र में पुंजिष्ठशब्द से किरातरूपता वाले शिव को नमन प्रसिद्ध है अतः वे ही आदिकिरात हैं ॥४३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब स्मरण नामवाले अंग का वर्णन करते हैं—

करलग्नमृगः करीन्द्रभङ्गो घनशार्दूलविखण्डनोऽस्तजन्तुः ।
गिरिशो विशदाकृतिश्च चेतःकुहरे पञ्चमुखोस्ति मे कुतो भीः ॥४४ ॥

करलग्नमृगः = जिसके हाथ में हरिण है, **करीन्द्रभंगः** = गजराज का जिसने नाश किया है, **घनशार्दूलविखण्डनः** = तगड़े चीते को जिसने मारा है, **अस्तजन्तुः** = जन्तुओं को समाप्त करने वाला, **च** = और, **विशदाकृतिः** = विशाल शरीर वाला, **गिरिशः** = पर्वतवासी, **पंचमुखः** = पंचमुख (शेर तथा महादेव), **चेतःकुहरे** = मनरूप गुफा में, **अस्ति** = है (अतः), **मे** = मुझे, **कुतः** = काहे का, **भीः** = डर ।

शिवपुराण के (सती. २३.२८) अनुसार स्मरण का लक्षण है—

'व्यापकं देवि मां दृष्ट्वा नित्यं सर्वत्र सर्वदा । निर्भयत्वं सदा लोके स्मरणं तदुदाहृतम्' ॥

नित्य भगवान् को सदा सर्वत्र व्यापक देखने से संसार में हमेशा निडर रहना स्मरण नामक अंग है । प्रकृत में शेर के रूपक से इस भयरहित अवस्था का वर्णन है । विस्तृत मुख वाला होने से शेर व सद्योजात आदि पाँच मुखों वाले होने से महादेव पंचमुख कहाते हैं । अतिशय सामर्थ्य वाला शेर जैसे रक्षा करने को तैयार हो तो जंगल में डर नहीं वैसे ही भगवान् रक्षा कर रहे हैं तो संसार-कान्तार में भय कैसा ? क्योंकि व्यापक होने से ही शिव की चेतःकुहरस्थता संभव है इसलिये पुराणोक्त स्मरण स्पष्ट बताया गया है । दारुकवन में मृगधारण, व्याघ्रनाश व जन्तुओं का नाश तथा वाराणसी में गजभंग स्कन्दादि पुराणों में प्रसिद्ध हैं । मेरु नामक गिरि को भी जिन्होंने अपना छोटा सा धनुष बना लिया (*गिरिं स्यति—चापार्थं तनूकरोतीति गिरिशः*) ऐसे प्रबलतम पर्वतवासी (*गिरौ शेत इति*) महादेव के कारण डर सर्वथा समाप्त हो जाता है । वस्तुतः वेद ही मृग है जिसके बताये मार्ग पर चलना निर्भयता से संभव है । कामना गज है, जिसकी निवृत्ति से पापप्रवृत्ति की संभावना समाप्त हो जाती है । क्रोध शार्दूल है । क्रोध भी समाप्त हो जाये तो अन्य क्षुद्र दोष निश्चय ही अस्तंगत हो जाते हैं । इस सबके लिये निरवच्छिन्न विशद आकृति और चेतःकुहरस्थता समझनी पड़ती है तभी अभय प्रतिष्ठा का लाभ होता है । भ्रम निवृत्त कर जो पदार्थसमूह को भगवान् का शरीर ही जानता है उसके लिये सारा जगत् अपना ही होने से भय क्योंकर होगा ?— ऐसा उत्पलदेव ने (१३.१६) भी कहा है—

'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्य-सुखिनः कुतो भयम्' ॥

यद्यपि यह फलावस्था का वर्णन है तथापि एतदनुकूल भक्ति का अनुष्ठान काम, क्रोध आदि का उपशम करते हुए वेदमार्ग पर चलकर और अपने में व सर्वत्र शिवदृष्टि का अभ्यास करने से करना चाहिये । प्रसिद्ध अनुस्मरण आगे (५० से) बताया जायेगा ॥४४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सेवन व वन्दन सूचित किये जाते हैं—

छन्दःशाखिशिखान्वितैर्द्विजवरैः संसेविते शाश्वते
सौख्यापादिनि खेदभेदिनि सुधासारैः फलैर्दीपिते ।
चेतःपक्षिशिखामणे त्यज वृथासंचारमन्यैरलं
नित्यं शङ्करपादपद्मयुगलीनीडे विहारं कुरु ॥४५॥

चेतःपक्षिशिखामणे = हे मनरूप श्रेष्ठ पक्षी ! **वृथासंचारम्** = व्यर्थ घूमना, **त्यज** = छोड़ो। **अन्यैः** = अन्य सहारे, **अलम्** = अब बहुत हो चुके (उनसे कुछ पाने की आशा छोड़ो)। **छन्दःशाखिशिखान्वितैः** = वेदरूप वृक्ष की (उपनिषद्रूप) शाखा से जुड़े, **द्विजवरैः** = अच्छे पक्षियों द्वारा (उत्तम ब्राह्मणों द्वारा), **संसेविते** = आश्रित, **शाश्वते** = नित्य, **सौख्यापादिनि** = सुख प्रदान करने वाले, **खेदभेदिनि** = कष्ट निवारण करनेवाले, **सुधासारैः** = अमृतमय, **फलैः** = फलों से, **दीपिते** = भरपूर, **शंकरपादपद्मयुगलीनीडे** = शंकर के चरणकमल-द्वय रूप घोंसले में, **नित्यम्** = सदा, **विहारम्** = विहार, **कुरु** = करो।

भगवान् के चरण घोंसला व मन पक्षी है ऐसा रूपक बाँधा है। चरण में जाने को कहने से वन्दन की सूचना समझनी चाहिये। पूजा- बहिर्भूत नमस्कार वन्दन है। सतीखण्ड में (२३.३१) बताया है—

'मन्त्रोच्चारणध्यानाभ्या मनसा वचसा क्रमात्। यदष्टांगेन भूस्पर्शं तद्वै वन्दनमुच्यते ॥'

'मैं नमस्कार कर रहा हूँ' इस अर्थ के द्योतक शास्त्रविहित वाक्यों के उच्चारणपूर्वक, एकाग्रता और श्रद्धा से साष्टांग प्रणाम वन्दन कहाता है। अष्टांगों से प्रणाम करना चाहिये। आठ अंग ये हैं—

'जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया।
शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः' ॥

दोनों जाँघों से, दोनों पैरों से, दोनों हाथों से, छाती से, मन से, शिर से, वचन से और दृष्टि से प्रणाम करना चाहिये। वन्दनीय के सम्मुख इस प्रकार पट लेटना चाहिये कि उक्त अंग धरती को छूते हों। मन, वचन और दृष्टि का साक्षात् स्पर्श विवक्षित नहीं। स्त्रियों को पंचाङ्ग प्रणाम करना चाहिये *'बाहुभ्यां चैव जानुभ्यां शिरसा वक्षसा दृशा'*, अर्थात् पैर पसार कर सर्वथा लेट नहीं जाना चाहिये। देवमंदिर आदि में पूजा से अतिरिक्त नमस्कार की वन्दन में गणना होती है। अशौच आदि काल में पूजा न की जा सके तब भी दूर से वन्दन तो कर ही लेना चाहिये। सेवन का विषय पूर्व में आ चुका है (श्लो. ३३)। यहाँ *'विहारं कुरु'* से सेवन की सूचना है। उपभोग करना भी सेवन का अर्थ है। भक्त को सुखप्राप्त्यर्थ शिवचरणों का ही हर तरह से उपभोग करना चाहिये, यह तात्पर्य है। यद्यपि तीव्र वैराग्य न होने से विषयपरित्याग साकल्येन सम्भव व यहाँ विवक्षित नहीं तथापि अभ्यास यह करना चाहिये कि शिवचरणों के पूजन, ध्यानादि में सुख का अनुभव करें। इससे स्वयं ही राग में क्षीणता व रुचि में परिवर्तन होता है। ज्ञान व कर्म दो पक्षों वाला होने से मन श्रेष्ठ पक्षी है। इसे निवासार्थ घोंसला चाहिये, जो अभी संसार में नाना जगह उपलब्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizaqtion by eGangotri

है पर उनमें कहीं भी यह सदा के लिये डेरा डाल नहीं सकता अतः उन सब को छोड़ भगवान् के चरणों में ही इसे रहने के लिये प्रेरित किया जा रहा है। '*गतानुगतिको लोकः*' न्याय से बताते हैं कि अन्य भी बहुतों ने उसका सहारा ले रखा है। अथवा सेवनीयता में प्रमाण इस प्रकार उपस्थित किया है। संसारवृक्ष के फल हैं सुख-दुःख (महाभा. १४.३५.२१)। किन्तु प्रकृत नीड में उपलब्ध फल हैं 'सुधासार'। दुःख से अनन्तरित अगाध आनन्द ही सुधासार फल है। अथवा सुधा भी जिनके सामने असार है (*यदपेक्ष्य सुधाऽसारा तानि तैः*) वे फल शिवचरणरूप नीड में हैं, यह अर्थ है। सविशेष- निर्विशेष क्रम से अर्थ समझना चाहिये। फल से भरपूर इसलिये बताया कि '*योगक्षेमं वहामि*' पर श्रद्धा कर सर्वतोभावेन सेवन करने में संकोच नहीं।

यद्यपि नवांगों में क्रम का आग्रह नहीं तथापि यौक्तिक क्रम समझा जा सकता है। सेव्य का ज्ञान न हो तो कैसी भी भक्ति असंभव होने से ज्ञान कराने वाला श्रवण प्रथम है। श्रुत का धारण हो इसके लिये कीर्तन है। श्रवण- कीर्तनपूर्वक ही स्मरण हो सकता है। गुणस्मरण कर ही सेवा करने की प्रेरणा होती है। सेवा करने से महत्ता का निकट से अनुभव होने पर अर्चना की इच्छा होती है। अर्चना के साधनों की तुच्छता देख वन्दना में ही प्रवृत्ति होती है। वन्दना करने से अपनी दासरूपता का भान होता है। दासतापूर्वक सामीप्य होने पर मैत्री का उदय होता है तथा अन्त में आत्मार्पण। ऐसा क्रम न्यायरत्नावली (पृ. ३१५ प्र.द्वा.) में बताया है। प्रकृत क्रम में श्रवण (३७) और कीर्तन (४०) के अनन्तर अर्चन (४१) आ गया है। स्मरण तो अभयप्रतिष्ठारूप होने से उत्तर भूमिका है इसलिये बाद में (४४) गिनाया है। सेवन 'उपभोग करना' इस अर्थ से तदनन्तर आया है। वन्दन का साधनरूप अर्चन के अन्तर्गतं समझ लेना चाहिये। सर्वत्र शिवदृष्टि होने से हर प्रवृत्ति वन्दन है इस तात्पर्य से उसे फलरूप से सेवन के साथ रखा। दास्य (४२) व सख्य (४३) यथाक्रम हैं ॥४५॥

अन्तिम अंग आत्मनिवेदन बताते हैं—

आकीर्णे नखराजिकान्तिविभवैरुद्यत्सुधावैभवै-
राधौतेऽपि च पद्मरागललिते हंसव्रजैराश्रिते।
नित्यं भक्तिवधूगणैश्च रहसि स्वेच्छाविहारं कुरु
स्थित्वा मानसराजहंस गिरिजानाथाङ्घ्रिसौधान्तरे ॥४६॥

मानसराजहंस = हे मनरूप श्रेष्ठ हंस ! नखराजिकान्तिविभवैः = नखों की पंक्तियों की कान्ति के वैभव से, आकीर्णे = व्याप्त, अपि = और, उद्यत्सुधावैभवैः = बढ़ते चन्द्रमा की किरणों से, आधौते = उजले, च = तथा, पद्मरागललिते = लाल मणियों से सुशोभित, च = एवम्, हंसव्रजैः = हंससमूहों द्वारा, आश्रिते = आश्रित, गिरिजानाथाङ्घ्रिसौधान्तरे = गिरिजापति के चरणरूप महल में, स्थित्वा = रहकर, नित्यं = सदा, भक्तिवधूगणैः = भक्तिरूप पत्नियों से, रहसि = एकान्त में, स्वेच्छाविहारम् = यथेच्छ विहार, कुरु = करो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मार्पण या आत्मनिवेदन नामक नवम अंग में अपने आपको भगवान् के भरोसे पूरी तरह छोड़ दिया जाता है, अपने जीवन की भी खुद को चिन्ता नहीं रहती: *'यथाविक्रीतस्य गवादेः योगक्षेमचिन्तायामनभिनिवेशः, तथा स्वकीयायां योगक्षेमचिन्तायाम्' (न्या. रत्न. पृ. ३१५ प्र. द्वा)*। अतः यहाँ कहा कि क्योंकि अब और कोई मनोव्यापार रहा नहीं इसलिये '*भक्तिवधूगणैः स्वेच्छाविहारं कुरु*'। बाकी अंगों में कुछ अन्य विचार रह जाते हैं अतः भक्ति में विक्षेपक आना स्वाभाविक है, किंतु इस अवस्था में यह बात नहीं। यद्यपि साधनावस्था में सम्पूर्ण आत्मार्पण असंभव है तथापि इस दृष्टि को अपनाना इस अंग का अभ्यास समझना चाहिये। अपने रहने, खाने, पहनने आदि के विषय में स्वयं कोई विचार न कर, यथोपलब्ध से कार्य चलाते हुए निरन्तर भगवदनुसन्धान में तल्लीन रहने का प्रयास करना आत्मार्पण है। क्योंकि यह अभ्यास भी साधु संन्यासी ही कर सकते है, इसलिये '*हंसव्रजैः*' कहा, हंसपद संन्यासीपरक है। असंन्यासी के लिये पत्नी, पुत्र आदि का भार उपस्थित रहता है अतः उसे अपने लिये न भी करना हो तो उनके लिये कोई अर्थकर उपाय करना पड़ता है। यदि किसी गृहस्थ की भी दृढ निष्ठा हो तो उसे भी इसका अभ्यास करने से रोका नहीं जा सकता। स्थिति की श्रेष्ठता को बताने के लिये ही पक्षी को राजहंस बना दिया गया है व नीड को महल। फल यहाँ नहीं कहा है, वह '*स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः' (ना. सू. ३०)* इस देवर्षिवचन को याद कर स्वेच्छा विहार को ही फल मानकर है। यद्यपि इसे अंगों में गिना है तथापि जैसे क्रियानिर्वृत्ति फलरूप होने पर भी आठ अंगों में गिनी जाती है वैसे इसकी भी गणना समझनी चाहिये। इसी दृष्टि से भक्ति को पुरुषार्थविशेष माना जाता है। परम पुरुपार्थ न होने पर भी पुरुषार्थता स्वीकारना संगत है। '*कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्*' आदि वाक्य इसमें प्रमाण हैं। क्योंकि यह परम पुरुषार्थ नहीं इसलिये आत्मार्पण को भी मोक्ष के उपयोगी रूप में समझना चाहिये। इस प्रकार के आत्मनिवेदन से भगवत्कृपा द्वारा ज्ञान की सुयोग्यता प्राप्त होती है जिससे सकृत् श्रवणमात्र से अखण्डसाक्षात्कार हो जाता है। परमहंस लोग भगवान् के चरणों का आश्रयण लेते हैं ऐसा उद्धव ने भी कहा है—

'अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभिस्त्वन्माययामी विहता न मानिनः' ॥उ.गी. २४.३ ॥

'*सुधावैभवैः*' से सात्त्विकता की और उसके फलभूत ज्ञान व सुख की क्रमशः '*नखराजिकान्तिविभवैः*' व '*पद्मरागललिते*' से सूचना दी है। इस अवस्था में विविध प्रकारों से भक्ति होती है क्योंकि सभी तरह से भक्ति ही की जाती है, अतः '*भक्तिवधूगणैः*' का बहुवचन सार्थक है ॥४६ ॥

नव अंगों का वर्णन कर बगीचे के रूपक से भक्ति के विकसित स्वरूप का वर्णन करते हैं जिससे इन अंगों का अनुष्ठान सार्थक सिद्ध होता है—

शम्भुध्यानवसन्तसङ्गिनि हृदारामेऽघजीर्णच्छदाः
स्रस्ता भक्तिलताच्छटा विलसिताः पुण्यप्रवालश्रिताः।
दीप्यन्ते गुणकोरका जपवचः पुष्पाणि सद्वासना
ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी संवित्फलाभ्युन्नतिः ॥४७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शम्भुध्यानवसन्तसंगिनि= शम्भु के ध्यानरूप वसन्त वाले, **हृदारामे** = (मेरे) हृदयरूप बगीचे में, **अघजीर्णच्छदाः** = पापरूप पुराने पत्ते, **स्रस्ताः** = गिर चुके हैं, **पुण्यप्रवालश्रिताः** = पुण्यरूप नवीन पत्तों वाले, **भक्तिलताच्छटाः** = भक्तिरूप लताओं के समूह, **विलसिताः** = शोभित हो रहे हैं, **गुणकोरकाः** = सद्गुणरूप कलियाँ, **जपवचःपुष्पाणि** = जप करते वचनरूप पुष्प, **सद्वासना** = सत्संस्काररूप सुगन्ध, **ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी** = ज्ञानात्मक सुखलक्षण अमृतरूप पुष्परस का आधिक्य(और), **संवित्फलाभ्युन्नतिः** = ज्ञानरूप फल की बढ़ोतरी, (—ये सब), **दीप्यन्ते** = (सुन्दर ढंगसे) प्रकाशित हो रहे हैं।

हृदय को जब हृद कहा था तब उसमें आनन्दलहरी बतायी थी (२) कुम्भ कहा था तो मुदमृत से पूर्ण बताया था (३६), पुष्कर कहा था तो आनन्दपाथोनिधि का विजृंभण बताया था (३८), और अब आराम कहा है तो *ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी* बतायी है। इससे भक्ति की साध्य अवस्था में आनन्दाधिक्य का वर्णन कर पञ्चम पुरुषार्थता का प्रतिपादन समझना चाहिये। साध्य से साधन का अत्यन्त विरोध न होने से साधनावस्था में भी सुखाधिक्य अर्थसिद्ध है। भक्ति का अनुष्ठान व पर्यवसान दोनों आनन्दपूर्ण हैं अतः सबको इसमें तत्पर हो जाना चाहिये यह तात्पर्य है। कलिकाल के लिये शिवभक्ति ही वह रसायन—औषधि है, जो संसाररोग के भय को हटाती है ऐसा उपमन्युकथन है।

'हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा' ॥ *महाभा. अनु. दान. १४. १८४* ॥

इस रसायन की रसरूपता बताकर इसके सेवन के लिये प्रेरित करना अतिकरुण आचार्यों का ही काम है। भक्तिलता को स्थिरतारूप सहारा चाहिये, यह आगे (४९) बताना है। दीर्घकाल, नैरन्तर्य व सत्कार तीनों अभ्यास को दृढ भूमि प्रदान करते हैं ऐसा पतञ्जलि ऋषि ने भी कहा है। पत्ते वृक्ष या लता के लिये भोजन निर्माण करने वाले अंग हैं, पुण्य भी भक्ति का पाथेय है। '*न चलति निजवर्णधर्मतो यः..... तमवेहि विष्णुभक्तम्' (विष्णुपु. ३.७.२०)* आदि वचन इसमें प्रमाण हैं। इससे, भक्ति मार्ग कर्मनिरपेक्ष है, यह मान्यता निराकृत समझनी चाहिये। सापेक्षता भी सहसमुच्चय से ही है। '*अपि चेत्सुदुराचारः'(गी. ९.३०)* से भी भक्त को पाप करने का अधिकार नहीं मिलता क्योंकि इसी गलती से बचाने के लिये भगवान् ने तुरन्त कह दिया है '*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'(९.३१)*। '*अहिंसा-सत्य-शौच-दया-आस्तिक्यता-आदिचरित्राणि परिपालनीयानि' (ना. सू. ७८)* कहकर देवर्षि ने भी यही कहा है। भक्ति की अभिव्यक्ति- व्यक्तियों के भेद से '*भक्तिलताच्छटाः*' का बहुवचन संगत है। '*सुधासार'(४५)*, '*सुधावैभव'(४६)* और '*सुधामरन्द'* कहकर धर्म, अर्थ व काम की अपेक्षा उत्तमता और संवित्फल कहकर मोक्ष की अपेक्षा अपरमता बतायी ॥४७॥

आनन्दसुधामकरन्दप्राप्त्यर्थ यत्न करने का विधान करते हैं—

नित्यानन्दरसालयं सुरमुनिस्वान्ताम्बुजाताश्रयं
स्वच्छं सद्द्विजसेवितं कलुषहृत्सद्वासनाऽऽविष्कृतम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शम्भुध्यानसरोवरं व्रज मनोहंसावतंस स्थिरं
किं क्षुद्राश्रयपल्वलभ्रमणसंजातश्रमं प्राप्स्यसि ॥४८॥

मनोहंसावतंस= हे मनरूप श्रेष्ठ हंस ! **नित्यानन्दरसालयम्**= नित्य आनन्दरूप जल की अथाह राशि वाले, **सुरमुनिस्वान्ताम्बुजाताश्रयम्**= देवताओं व मुनियों के मनरूप कमलों के आश्रय, **स्वच्छम्**= साफ, **सद्द्विजसेवितम्**= अच्छे द्विजों (पक्षियों व ब्राह्मणों) द्वारा सेवित, **कलुषहृत्सद्वासनाविष्कृतम्**= पापकालुष्य का निवारण करने वाली सुखद सुगन्ध देने वाले, **स्थिरम्**= स्थायी, **शम्भुध्यानसरोवरम्**= शम्भु के ध्यानरूप सरोवर को, **व्रज**= जाओ। (वहाँ चले गये तो), **क्षुद्राश्रयपल्वलभ्रमणसंजातश्रमम्**= तुच्छ आश्रय जो छोटे ताल, उनमें घूमते रहने से होने वाली थकान, **किम्**= क्योंकर, **प्राप्स्यसि**= पाओगे ?

उड़ कर नयी-नयी जगहों को जाने की आदत वाला और रहने के लिये आश्रय चाहने वाला होने से मन को पक्षी (४५), राजहंस (४६), हंस, चातक (५२), कोक व चकोर (५९) कहा गया है। सत्त्वकार्य होने से श्रेष्ठता है। स्वभाव से मन का रुझान श्रेष्ठ की ओर होता है, वासनावशात् उन्मार्ग पर चल देता है, यह अत्यन्त संतोष का विषय है। *'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः'* (गी. ११.५२) कहकर देवों को भी भगवद्-दर्शन सदा अभीप्सित है यह भगवान् ने बताया है। सन्तों का लक्ष्य मैं ही हूँ— ऐसा उद्धवगीता में भी कहा है- *'प्रायणं हि सतामहम्'* (६.४८)। अथवा— स्वान्तरूप अम्बु (जल) से उत्पन्न भक्ति का आश्रय (विषय), यह अर्थ है। या, स्वान्ताम्बुजात जिसका आश्रय है, यह अर्थ समझना चाहिये। *द्विजवरैःसंसेवितम्* पहले भी (४५) कहा था। *कलुषहृत्सद्वासनाविष्कृतम्* का यह भी अर्थ है- कलुषित हृदयों में भी सद्वासना विकसित कर देने वाला। इसमें पूर्वोक्त गीतावचन (९.३०-३१) प्रमाण समझने चाहिये। *स्थिरम्* को क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है- *स्थिरं यथा स्यात्तथा व्रज*। पहले(४७) शम्भुध्यान को वसन्त कहा था क्योंकि जैसे प्रयास के विना वसन्त आता है वैसे ध्यान का होना वहाँ विवक्षित था, यहाँ उसे सरोवर— श्रेष्ठ सर— कहा क्योंकि कर्तव्यता बतानी है। मन भगवान् का दृढ आश्लेष करे यह जैमिनी महर्षि की भी परम अभिलाषा है।

'सुगन्धि सुखसंस्पर्शं कामदं सोमभूषणम्।
गाढमालिंग मच्चेतो योषाजारमिव प्रियम्' । *वेदपाद ८९ ॥४८॥*

आशीर्वाद पूर्वक अंगप्रकरण का उपसंहार करते हैं—

आनन्दामृतपूरिता हरपदाम्भोजालवालोद्यता
स्थैर्योपघ्नमुपेत्य भक्तिलतिका शाखोपशाखान्विता।
उच्चैर्मानसकायमानपटलीमाक्रम्य निष्कल्मषा
नित्याभीष्टफलप्रदा भवतु मे सत्कर्मसंवर्धिता ॥४९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरपदाम्भोजालवालोद्गता= भगवान् हर के चरणकमलरूप क्यारी में उगने वाली, **आनन्दामृतपूरिता** = आनन्दरूप जल से सींची, **सत्कर्मसंवर्धिता**= अच्छे कर्मों से पोषित, **शाखोपशाखान्विता**= शाखा-प्रशाखाओं वाली, **निष्कल्मषा**= दोषरहित, **भक्तिलतिका**= भक्तिरूप लता, **स्थैर्योपघ्नम्**= स्थिरतारूप सहारे को, **उपेत्य**= पाकर, **मानसकायमानपटलीम्**= मन:शरीर के आकार के छप्पर पर, **उच्चैः**= ऊँची, **आक्रम्य**= फैलकर, **मे**= मुझे, **नित्याभीष्टफलप्रदा**= सदा अभीप्सित फल देने वाली, **भवतु**= होवे ।

लता को बहुधा घर के छप्पर पर चढ़ा दिया जाता है जहाँ वह यथेष्ट फलती फैलती रहती है । मन को यहाँ वह छप्पर बताया है जिस पर भक्ति पूरी तरह फैले यह आशा व्यक्त की है । पहले (४७) केवल वसन्त का ही अनुभव था, अब नित्य फल की प्रार्थना है । साधन की साध्याऽविरुद्धता *आनन्दामृतपूरिता* से बतायी । भक्तिसाधना में जबरदस्ती करना अधिक फल देने वाला नहीं होता । यह तो आनन्द की साधना है । क्योंकि भगवान् के प्रति प्रेम है इसलिये उनके लिये कुछ भी करने से कष्ट का अनुभव नहीं । यदि कष्ट होता है तो निश्चय ही प्रेम में कमी है, जिसे श्रवणादि उपायों से दूर करना चाहिये । पूर्व में (४७) पुण्य को पत्ते कहा था, यहाँ पोषकतत्त्व (खाद) कहा है अत: तात्पर्य एक ही है क्योंकि पत्ते भी पोषण ही करते हैं । आर्तभक्ति आदि शाखायें हैं । जब आर्ति हो तब भी भगवान् की ही शरण जाना मन में स्वाभाविक हो *'आर्तानां शरणं त्वहम्' (उ.गी. २१.३३)* । जब जिज्ञासा हो तब भी भगवान् से ही जानना चाहे । जब किसी वस्तु की आवश्यकता हो तब भी उन्हीं से माँगे । यह मनरूप छप्पर पर भक्ति की शाखोपशाखाओं का फैलना है । इसी प्रकार भक्ति की अभिव्यक्ति नाना प्रकार से होनी चाहिये । माता, पिता तथा अन्य श्रेष्ठ लोगों की भगवद्दृष्ट्या सेवा करनी चाहिये, छोटे से भी उसी दृष्टि से वात्सल्य रखना चाहिये, ब्राह्मणों को भगवान् का शरीर मानकर पूजना चाहिये तथा अन्य भी विभिन्न ढंग अपनाने का प्रयास करना चाहिये कि भक्ति प्रकट हो । इसमें सहारा मिलेगा स्थिरता से । धैर्यपूर्वक निरंतर प्रयास, यह स्थिरता का तात्पर्य है ।

साथ ही नियम का ख्याल रखना चाहिये । पूजा, जप आदि को नियम से करने से सफलता जल्दी मिलती है । प्रथमत: समय का नियम रखना चाहिये, रोज उसी समय पूजनादि करना आवश्यक है । स्थान का भी नियम रखना उचित है । यथासम्भव नित्य एक ही स्थान पर पूजन, जप आदि का अनुष्ठान कर्तव्य है । प्रक्रिया का भी नियम रखना चाहिये । जिन मंत्रों से जो द्रव्य चढ़ाये जाते हों, रोज उन्हीं की आवृत्ति करनी चाहिये । नैमित्तिक जप, पूजा आदि करना तो पृथक् है पर नित्य जप, पूजा, ध्यान आदि एक ही ढंग से करना चाहिये । चाहे कम किया जाये किंतु किया नियम से जाये । यह स्थिरता है । इस प्रकार चौदह श्लोकों में श्रवणादि अंगों का और उनसे प्राप्य अवस्था का वर्णन किया ॥४९ ॥

पूर्व में (४४) स्मरण नामक भक्ति-अंग का प्रतिपादन किया था । किन्तु प्रसिद्ध अनुस्मरण— भगवान् को याद करना— भी उपयोगी अंग है । उद्धव को उपदेश देते हुए (उद्ध. गी. ९.२७) कहा है ।

'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते । मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से चित्त विषयों में रम जाता है व भगवान् का बार बार स्मरण करने से उन्हीं में अनुरक्त हो जाता है। यह स्मरण करना ध्यानादिरूप समझना चाहिये क्योंकि सुनकर होने वाली स्मृति तो श्रवण से गतार्थ है। अत एव ब्रह्मानन्द स्वामी ने स्मरण का लक्षण किया है *'तादृशविष्णोः शब्दान्यकरणेन ज्ञानम्, शब्दजन्यतज्ज्ञानस्य श्रवणत्वात्'(न्या. रत्न. पृ. ३१४, प्र.द्वा.)*। अनुस्मरण के उपयोगी कुछ वर्णन यहाँ आचार्यचरण उपस्थित कर रहे हैं, जिनके अनुसार ध्यानादि करना चाहिये। पूर्व में (२७-३५) जो वर्णन थे वे भजनीय स्वरूप को स्पष्टतः व्यक्त करने के लिये थे जबकि अब किये जाने वाले वर्णन अनुस्मरण के शेषरूप से हैं अतः पुनरुक्ति नहीं। आठ श्लोकों द्वारा यह प्रसंग प्रकट किया जा रहा है। सर्वप्रथम दो श्लोकों में मल्लिकार्जुन नामक ज्योतिर्लिंग का स्मरण कर शिववर्णन करते हैं—

सन्ध्यारम्भविजृम्भितं श्रुतिशिरःस्थानान्तराधिष्ठितं
सप्रेमभ्रमराभिराममसकृत्सद्वासनाशोभितम्।
भोगीन्द्राभरणं समस्तसुमनःपूज्यं गुणाविष्कृतम्
सेवे श्रीगिरिमल्लिकार्जुनमहालिङ्गं शिवालिङ्गितम्॥५०॥

सन्ध्यारम्भविजृम्भितम्= सन्ध्या के प्रारंभ में क्रीडा करने वाले, श्रुतिशिरःस्थानान्तराधिष्ठितम्= वेद के उत्तमांग उपनिषत् में प्रतिपादित, सप्रेमभ्रमराभिरामम्= प्रेमयुक्त भ्रमराम्बिका से सुशोभित, असकृत्= निरन्तर, सद्वासनाशोभितम्= उत्तम संस्कार वालों में प्रकाशित होने वाले, भोगीन्द्राभरणम्= सर्पराजरूप गहना धारण किये, समस्तसुमनःपूज्यम्= सभी देवताओं के पूज्य, गुणाविष्कृतम्= गुणों को प्रकट करने वाले, शिवालिंगितम्= शिवा से आलिंगित, श्रीगिरिमल्लिकार्जुनमहालिंगम्= श्रीशैल स्थित मल्लिकार्जुन नामक महान् ज्योतिर्लिङ्ग का, सेवे= (मैं) भजन करता हूँ।

श्रीशैल में देवी का नाम भ्रमराम्बिका है। श्रीशैल में भगवान् भाष्यकार कुछ समय रहे थे ऐसा प्रसिद्ध है तथा जलस्रोत के निकट एक स्थान भी बताया जाता है जहाँ उन्होंने वास किया था। सायंकाल परमेश्वर नृत्य करते हैं यह विदित ही है। वेदान्तों का प्रतिपाद्य *'शिवमद्वैतम्'(माण्डू.७)* ही है इसमें सन्देह नहीं। देवी से भगवान् की शोभा और बढ़ जाती है। अभिरामता की ही व्याख्या है— *शिवालिंगितम्*। अथवा *शिवामालिंगितः* ऐसा समास है। एवं च सप्रेम इत्यादि से शिवा से आलिंगित सूचित कर *शिवालिंगितम्* से शिवा का आलिंगन करने वाले — यह बताया।

इस श्लोक का आध्यात्मिक तात्पर्य यों बताया जाता है— सन्ध्या मिलन-काल है, अध्यास ही वह मिलन है जब से आत्मा क्रीडा करना प्रारंभ करता है। वेदप्रतिप्राद्य तो आत्मतत्त्व है ही। बुद्धि से यह सुशोभित है। सत्संस्कार वालों में ही इसकी वास्तविकता भासती है। शोधित पदार्थों के संस्कार ही सत्संस्कार हैं। भोक्तृत्व आत्मा का अलंकार है क्योंकि इसमें इसकी ज्ञानरूपता खिल उठती है। सभी इंद्रियाँ इसके लिये भेंट लाती हैं। आत्मसम्बंध से ही जड शरीरादि में चैतन्यादि गुण प्रकट होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुद्धि से इसका आलिंगन प्रायः बना रहता है । मल्ल धातु का अर्थ है धारण करना । अर्जुन का अर्थ है सफेद, जो सत्त्वगुण के कार्य ज्ञान का लक्षक है । जगत् की विधृति और ज्ञान ही वे पर्याप्त चिह्न हैं जिनसे आत्मविषयक संशय समाप्त हो जाते हैं ॥५० ॥

एक अन्य श्लोक से वहीं का वर्णन करते हैं—

भृङ्गीच्छानटनोत्कटः करिमदग्राही स्फुरन्माधवा-
ह्लादो नादयुतो महासितवपुः पञ्चेषुणा चादृतः ।
सत्पक्षः सुमनोवनेषु स पुनः साक्षान्मदीये मनो-
राजीवे भ्रमराधिपो विहरतां श्रीशैलवासी प्रभुः ॥५१ ॥

भृङ्गीच्छानटनोत्कटः = भृंगी ऋषि की इच्छानुसार प्रशस्त नृत्य करने वाले, **करिमदग्राही** = गजासुर का मद निवृत्त करने वाले, **स्फुरन्माधवाह्लादः** = शोभित होते महाविष्णु से आह्लाद पाने वाले, **नादयुतः** = प्रणव निनाद करने वाले, **महासितवपुः** = कर्पूरगौर वर्ण के महान् शरीर वाले, **पञ्चेषुणा** = कामदेव द्वारा, **आदृतः** = आश्रित, **च** = और, **सत्पक्षः** = सत्पुरुषों के पक्षधर, **श्रीशैलवासी** = श्रीशैल में रहने वाले, **भ्रमराधिपः** = भ्रमराम्बिका के अधीश्वर, **सः** = वे (प्रसिद्ध दयालु), **प्रभुः**= सर्वशासक, **सुमनोवनेषु** = संस्कृत मनरूप जंगलों में, **पुनः** = और, **मदीये** = मेरे, **मनोराजीवे** = मनरूप कमल में, **साक्षात्** = स्वयम्, **विहरताम्** = विहार करें ।

यहाँ भ्रमर-अन्योक्ति है । भृंगीच्छेत्यादि विशेषण भ्रमरपरक भी लगा लेने चाहिये । भ्रमरी को भृंगी कहा है । हाथी के मद का भ्रमर पान करते ही हैं । माधव अर्थात् वसन्त से भ्रमर खुश हो यह उचित ही है क्योंकि शिशिर में प्रायः सब वृक्ष निष्पुष्प हो जाते हैं । भ्रमर का गुंजन प्रसिद्ध है । *असितवपुः* ऐसा छेद करना चाहिये । कामदेव भ्रमर को आदर देता है क्योंकि भ्रमर उद्दीपक माना गया है । सत् अर्थात् विद्यमान जो कोई भी उसके अगल-बगल मंडराना उसका काम है । सुमन अर्थात् पुष्पों के वन में विहार करना भ्रमर का स्वभाव है । ऐसे भ्रमरों के राजा को अपने मनःसरोज में आने के लिये आमन्त्रित किया है ।

भ्रमर अपनी अस्थिरता के लिये प्रसिद्ध है ।

'नीरजान्यपि निषेव्य निर्भरं नीरसानि कुटजानि वाञ्छसि ।
चंचलत्वमिह चंचरीक ते साहसं कथमिदं विमोक्ष्यसि' ॥

भगवान् को उलहाना दिया जा रहा है कि आप भी कभी समाधि आदि शान्त काल में मुझे दर्शन देकर फिर विक्षेपावस्था में चले जाते हैं यह उचित नहीं । उत्पलदेव ने भी कहा है कि या तो अनुग्रह कर सदा मेरे सम्मुख रहिये और या निग्रह कर मुझे सर्वथा दर्शन लाभ से वंचित रखिये, कभी निग्रह कभी अनुग्रह की लुकाछिपी कर मुझे और अधिक क्यों कष्ट देते हैं ?—

'हृदि ते न तु विद्यतेऽन्यदन्यद्वचने कर्मणि चान्यदेव शंभो ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमार्थसतोप्यनुग्रहो वा यदि वा निग्रह एक एव कार्यः' ॥११.७ ॥

दूसरी विशेषता है सारज्ञता की ।

'आनम्राः स्तबकभरेण पल्लविन्यः शोभन्ते कति न लताः परागपूर्णाः ।

आमोदे मधुनि च मार्दवे च तासां यो भेदः स खलु मधुव्रतैकवेद्यः' ॥

यह सन्तोष व्यक्त किया जा रहा है कि आप में परखने की अचूक सामर्थ्य होने से यदि मैं योग्य हो जाऊँ तो आपका आना निश्चित है ॥५१ ॥

किन्तु प्रथमतः तो मुझमें योग्यता आना ही असंभव है, और कथंचित् आयी भी तो वह इतनी कम होगी कि उसके अनुपात से यदि अनुग्रह हुआ तो संसारदावानल क्योंकर शान्त होगा ? इस द्विविध चिन्ता को मेघ-अन्योक्ति से हटाते हैं—

कारुण्यामृतवर्षिणं घनविपद्ग्रीष्मच्छिदाकर्मठं
विद्यासस्यफलोदयाय सुमनःसंसेव्यमिच्छाकृतिम् ।
नृत्यद्भक्तमयूरमद्रिनिलयं चञ्चज्जटामण्डलं
शम्भो वाञ्छति नीलकन्धर सदा त्वां मे मनश्चातकः ॥५२ ॥

शम्भो = हे शम्भो ! नीलकन्धर = हे नीलकण्ठ ! कारुण्यामृतवर्षिणम् = करुणामृत बरसाने वाले, घनविपद्ग्रीष्मच्छिदाकर्मठम् = घोर तिपत्तिरूप गर्मी को हटाने में चतुर, विद्यासस्यफलोदयाय = ज्ञानरूप खेती के पकने के लिये, सुमनःसंसेव्यम् = शुद्ध चित्त वालों द्वारा भली प्रकार सेवित, इच्छाकृतिम् = स्वेच्छा से (या भक्तेच्छा से) नाना आकृतियाँ लेने वाले, नृत्यद्भक्तमयूरम् = नाचते हुए भक्त रूप मोरों से घिरे, अद्रिनिलयम् = पहाड़ पर रहने वाले, चंचज्जटामंडलम् = हिलती जटा वाले, त्वाम् = आपको, मे = मेरा, मनश्चातकः = मनरूप चातक, सदा = हमेशा, वाञ्छति = चाहता है ।

इस श्लोक को मेघपरक भी समझना चाहिये । कल्याण करने वाला होने से वह शम्भु है । नीले जल को धारण करने वाला नीलकन्धर है । करुणापूर्वक जब बरसाता है तब गर्मी, जो स्वयं एक विपत्ति है उसे हटाता है । भले किसान अच्छी खेती के लिये उससे प्रार्थना करते ही हैं । इच्छानुसार मेघ अपनी आकृतियाँ बदलता रहता है । भक्त की तरह मोर उसे देख नाचते हैं । ऊँचा होने से मानो वह पर्वतों पर टिका रहता है । बादल के उत्तमांग जटा की तरह हिलते प्रतीत होते हैं । चातक बादल की आस लगाये रहता है यह प्रसिद्ध ही है । मेघ की विशेषता है कि यह योग्यता देख कर नहीं बरसता, योग्य अयोग्य सभी स्थानों पर निष्पक्ष होकर बरस जाता है । ऐसे ही भगवान् हमारी योग्यता की अपेक्षा किये बिना हम पर कृपा करें, यह तात्पर्य है । दूसरी विशेषता बादल की है कि चाहने वाले के हिसाब से यह जल नहीं बरसाता, अपने ही हिसाब से बरसा देता है ।

'चातकः स्वानुमानेन जलं प्रार्थयतेऽम्बुदात्। स स्वौदार्यतया सर्वां प्लावयत्यम्बुना महीम्' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे ही भगवान् की कृपा से संसाररोग की निवृत्ति के लिये पर्याप्त औषधि प्राप्त हो जाती है, हमारे पास सामर्थ्य हो, चाहे न हो। भक्ति मार्ग पर चलने के दो ढंग बताये गये हैं, एक बन्दर की तरह और दूसरा बिल्ली की तरह। बन्दर का बच्चा खुद अपनी माता से चिपकता है जबकि बिल्ली का बच्चा खुद कुछ नहीं करता, अपनी माता को ही सब करने देता है, बिल्ली अपने बच्चे को मुँह में पकड़ कर इधर-उधर रखती है। इसी प्रकार भक्ति करने का एक तरीका है— हम प्रयास करें, योग्य बनें। इसे तो पूर्व श्लोक में ध्वनित किया था।

दूसरा तरीका है— भगवान् के ही आसरे रहें। यह इस श्लोक में सूचित है। किंतु इस प्रकार में जो दृढता चाहिये वह चातक के रूपक से बतायी। चातक चाहे प्यासा मर जाये लेकिन वह बादल से गिरता हुआ पानी ही पीता है, ऐसी कविप्रसिद्धि है। हम भी आमरण दृढता से केवल भगवान् को चाहें, और कुछ हमारी इच्छा का विषय न बने, तब हम इस ढंग को अपना सकते हैं। अपनी मानसिकता के अनुसार चुनाव करना चाहिये। स्वयं अपने को धोखा देंगे तो हमें ही नुकसान होगा यह समझ लेना चाहिये। चातक तो प्यास लगने पर ही मेघ को चाहता है पर भक्त का मनश्चातक तो *सदा वाञ्छति* यह विशेष है। इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिये कि आचार्य बता रहे हैं कि बादल, भ्रमर, मयूर आदि को देखकर हमें परमात्मा की याद आनी चाहिये, तब अनुस्मरण का अभ्यास होगा ॥५२॥

बादल का तो कोई निश्चय नहीं कब आये, भवदुःख तो अभी साक्षात् सता रहा है, अतः कोई स्फुट उपाय होना चाहिये— यह आकांक्षा होने पर स्वयं रहस्य दर्शा देने वाले मयूर के रूप में भगवान् का वर्णन करते हैं—

आकाशेन शिखी समस्तफणिनां नेत्रा कलापी नता-
नुग्राहिप्रणवोपदेशनिनदैः केकीति यो गीयते।
श्यामां शैलसमुद्भवां घनरुचिं दृष्ट्वा नटन्तं मुदा
वेदान्तोपवने विहाररसिकं तं नीलकण्ठं भजे ॥५३॥

तम् = उस, **नीलकण्ठम्** = नीलकण्ठ का (भगवान् व मोर का), **भजे** = भजन करता हूँ, **यः** = जो, **आकाशेन** = आकाश से, **शिखी** = कलगी वाला है (आकाश ही जिसकी कलगी है), **समस्तफणिनाम्** = सभी साँपों के, **नेत्रा** = राजा से, **कलापी** = भूषण वाला है (परों वाला है), **नतानुग्राहिप्रणवोपदेशनिनदैः** = प्रणत भक्तों पर अनुग्रह करने वाले प्रणव के उपदेशरूप शब्दों से, **यः** = जो, **केकीति** = 'के-का'-ऐसी आवाज वाले के रूप से, **गीयते** = प्रशंसित होता है, **घनरुचिम्** = बादल-सी छवि वाली, **शैलसमुद्भवाम्** = पर्वतपुत्री, **श्यामाम्** = श्यामा पार्वती को, **दृष्ट्वा** = देखकर, **मुदा** = आनन्द से, **नटन्तम्** = नाचता है (और), **वेदान्तोपवने** = वेदान्तरूप बगीचे में, **विहाररसिकम्** = विहार करने का रसिक है।

इस श्लोक में भगवान् को दिव्य मयूर बताया है। कलगी, पर, केका-ध्वनि, बादल देखकर नाचना व बगीचों में विहार करना मोरों में स्वाभाविक है। यह सब विशिष्ट ढंग से महादेव में भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अग्निर्मूर्धा' (मुं. २.१.४),

'द्यौर्मूर्धानं यस्य विप्रा स्तुवन्ति खन्नाभिं वै चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।

दिशः श्रोत्रे चरणौ चास्य भूमिः सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रसूतिः' ॥ (वायुपु. ९.११२) ॥

आदि श्रुति-स्मृति में जैसे पुमाकार वर्णन, '*अन्तरिक्षमपूपः' (छा. ३.१.१)* आदि में मधुमखियों के छत्ते के आकार का वर्णन, '*उषा वा*' (बृ. १.१) आदि में घोड़े के आकार का वर्णन है, वैसे यहाँ मोर के आकार का वर्णन है । इसे उपासनार्थ भी समझना चाहिये ।

मोर की एक विलक्षण विशेषता है: अत्यधिक लम्बे व भार से झुके पंख होने से मोर का गुदारूप गुह्यस्थान दीखना कठिन है पर बादल की आवाज से प्रसन्न हो जब वह नाचता है तो अनायास ही उसे वह खुद दिखा देता है—

'यत्नादपि कः पश्यति शिखिनामाहारनिर्गमस्थानम् ।

यदि जलदनिनदमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः' ॥ पंच. १.४४१ ॥

यही स्थिति करुणामय श्रीमहेश्वर की है । उनकी गुह्य स्थिति— हृदय गुहा में स्थिति— हम युक्ति या किसी भी प्रकार से जान नहीं सकते । वे ही अपनी करुणाशक्ति के कारण वेदान्तों में प्रत्यक्षर विहार करते और महावाक्यों में नाचकर उसे दिखा देते हैं । अतः बादल का भरोसा कर इन्तजार भारी लगे तो वेदान्तोपवन में चले जाना चाहिये जहाँ नाचते हुए नीलकण्ठ के कारण अक्षय शान्ति यों ही उपलब्ध है ॥५३ ॥

मोर भी गर्मी की समाप्ति पर, वर्षा आने पर नाचता है । इस अलौकिक मोर को नाचने के लिये कैसी ऋतु चाहिये , यह बताते हुए इसका नृत्य प्रतिदिन होता है अतः अधिक प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं, यह बताते हैं—

सन्ध्या घर्मदिनात्ययो हरिकराघातप्रभूतानक-

ध्वानो वारिदगर्जितं दिविषदां दृष्टिच्छटा चंचला ।

भक्तानां परितोषबाष्पविततिर्वृष्टिर्मयूरी शिवा

यस्मिन्नुज्ज्वलताण्डवं विजयते तं नीलकण्ठं भजे ॥५४ ॥

तम् = उन, **नीलकण्ठम्** = नीलकण्ठ का, **भजे** = (मैं) भजन करता हूँ, **(यस्य** = जिनका), **उज्ज्वलताण्डवम्** = प्रशस्त ताण्डव नृत्त, **विजयते** = सर्वोत्कृष्ट है, **यस्मिन्** = जिस (ताण्डव) में, **सन्ध्या** = सन्ध्या वेला, **घर्मदिनात्ययः** = गर्मी के दिनों की समाप्ति है, **हरिकराघातप्रभूतानकध्वानः** = विष्णु के हाथ की थाप से होने वाली ढोल की तेज आवाज, **वारिदगर्जितम्** = बादलों का गर्जन है, **दिविषदाम्** = देवताओं की, **दृष्टिच्छटा** = नेत्रों की पंक्ति, **चञ्चला** = (चमकती) बिजली है, **भक्तानाम्** = भक्तों के, **परितोषबाष्पविततिः** = सन्तोष के आँसुओं की भरमार, **वृष्टिः** = बरसात है (और), **शिवा** = भगवती पार्वती, **मयूरी** = मोरनी है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उमारमण के नृत्य के लिये आवश्यक वातावरण यहाँ बताया है। नित्य प्रदोष काल में नटराज का नृत्य होता है यह प्रसिद्ध है। अपने अहंकार के सूर्य के अस्त होने की ही प्रतीक्षा है, उस सायंसन्ध्या में ही भगवान् का आनन्द ताण्डव होगा। अपने कर्तृत्व का तालमेल भगवान् के पदचापों से मिलाना ही *हरिकराघातप्रभूतानवध्वान* है। नर्तक काअनुसरण ढोल वाला किया करता है। अभी हम भगवल्लीला में बेताला ढोल बजाते फिरते हैं जिससे कष्ट भी हमें ही है। हमारा कुछ भी करना तभी सफल होता है जब चाहकर या अनुमान से वह भगवदिच्छा के अनुकूल पड़ जाये। अभ्यास करना है कि हम भगवान् की इच्छा के अनुसार ही करें। तब ढोल की संगत ठीक होगी। श्रुति-स्मृति में भगवान् की इच्छाएँ प्रकाशित ही हैं। सभी इन्द्रियों से इस नृत्य को देखना है। मोरनी के लिये मोर नाचता है। भगवान् भी करुणा के लिये ही नाचते हैं। अतः हमें निःसंदेह परितोष मिल सकता है। प्रदोष काल भगवान् का प्रिय काल है अतः उस समय अवश्य पंचाक्षर जप आदि भजन करना चाहिये। उक्त अहंकारनिवृत्ति आदि के लिये प्रयास करना चाहिये तथा इस ढंग से नाचते हुए भगवान् के मोररूप का ध्यान करना चाहिये। मोर देखकर भगवान् का अनुस्मरण हो यह तो इष्ट ही है ॥५४॥

अव रूपक, अन्योक्ति को छोड़ सीधे ही भगवत्स्वरूप का दो श्लोकों में वर्णन अनुस्मरणार्थ करते हैं—

आद्यायामिततेजसे श्रुतिपदैर्वेद्याय साध्याय ते
विद्यानन्दमयात्मने त्रिजगतः संरक्षणोद्योगिने।
ध्येयायाखिलयोगिभिः सुरगणैर्गेयाय मायाविने
सम्यक्ताण्डवसम्भ्रमाय जटिने सेयं नतिः शम्भवे ॥५५॥

आद्याय = सबके कारण, **अमिततेजसे** = असीम तेज वाले, **श्रुतिपदैः** = श्रुति के शब्दों द्वारा, **वेद्याय** = ज्ञेय, **साध्याय** = साधना द्वारा पाने योग्य, **विद्यानन्दमयात्मने** = ज्ञान व आनन्द स्वरूप वाले, **त्रिजगतः** = तीनों लोकों के, **संरक्षणोद्योगिने** = संरक्षण के लिये प्रयासशील, **अखिलयोगिभिः** = सब योगियों द्वारा, **ध्येयाय** = ध्येय, **सुरगणैः** = देवताओं द्वारा, **गेयाय** = जिनकी कीर्ति का गान किया जाता है, **मायाविने** = माया के अधिष्ठाता, **सम्यक्ताण्डवसंभ्रमाय** = ठीक तरह ताण्डव करने में उत्साह वाले, **जटिने** = जटाधारी, **ते** = आप, **शम्भवे** = शम्भु के लिये, **सा** = वह (सत्संस्कार उदय होने पर संभव), **इयम्** = यह (मुझ अलब्धाधिकार द्वारा किया जाता), **नतिः** = नमस्कार है।

अमिततेज से अविषयीकृत ज्ञान समझना चाहिये। अथवा *आद्याय* से जन्मकारण, *संरक्षणोद्योगिने* से स्थितिकारण और *अमिततेजसे* से लयकारण समझना चाहिये। सारे संसार के लय के लिये आवश्यक तेज भगवान् का ही है। क्योंकि परमेश्वर सिद्ध है इसलिये *साध्याय* की व्याख्या के लिये भी *ज्ञेयाय* समझना चाहिये। *विद्यानन्दमयात्मने* से स्वरूप लक्षण बताया है। यहाँ मयट् स्वार्थक ही है। *अखिलयोगिभिः* से कहा कि जो अन्यों का ध्यान करते हैं वे भी अज्ञान पूर्वक भगवान् का ही ध्यान करते हैं। इसमें '*येप्यन्यदेवताभक्ता.... मामेव.... यजन्त्यविधिपूर्वकम्*' (*गी. ९.२३*) इस स्मृति को प्रमाण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानना चाहिये। *सुरगणैः* आदि से देवाधिदेवरूपता बतायी। इसमें *'भीषास्माद्वातः पवते'* (*तै. २.८*) आदि वाक्य प्रमाण हैं। माया का नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर हैं यह *'ईक्षतेर्नाशब्दम्'* (*ब्र.सू. १.१.५*) आदि शास्त्रप्रसंग में निर्धारित है। सांख्यवाद की तरह माया कोई स्वतन्त्र तत्त्व भाष्यकारीय तन्त्र में नही माना गया है। *'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय'* (*गी. ४.६*) आदि वाक्य इसमें प्रमाण है। लोकसंग्रहार्थ की गयी भगवल्लीला भी ठीक तरह ही की जाती है। जट् धातु जुड़ना अर्थ वाला है। जुड़े होने पर ही बालों को जटा कहते हैं। जटा वाला जटी कहाता है। माया से जुड़ा रूप भी भगवान् का है यह तात्पर्य है। पर व अपर दो ब्रह्म नहीं हैं। प्रकृत प्रसंग में जीव-ब्रह्म की एकता का विषय न होने से श्रुति-वाक्यों को छोड़कर श्रुतिपदों का संग्रह किया है। यह ज्ञात ही है कि अभेद वाक्यार्थ है, पदार्थ नहीं। *'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'* (*गी. १५.१५*) आदि स्मार्तवचन व *'तत्तु समन्वयात्'* (*ब्र.सू. १.१.४*) आदि सूत्र इसमें प्रमाण हैं। समस्त वेद भगवदेकपरक हैं इसे नीलकण्ठ दीक्षित ने विलक्षण ढंग से कहा है—

'मन्त्रे वा क्वचिदर्थवादशकले दिष्ट्या गृहीते सकृत्
स्वे नाम्नि त्रिदशा वहन्ति महतीं कीर्तिं यदीयोक्तिषु।
श्वानस्ते निगमा यदीयभवनद्वारे चरन्ति स्वतः
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नाऽपि नाम्नायते'॥*शिवोत्कर्षमंजरी ८*॥

योगी भगवान् का ध्यान करते हैं यह बताकर योग का भक्तिमार्ग में स्थान है यह सूचित किया है। शाण्डिल्य महर्षि ने भी कहा है कि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग ज्ञान और भक्ति दोनों का उपकारक है:—*'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत्'* (*शां. सू. १९*)॥५५॥

अनुस्मरण बार-बार करना चाहिये यह उपदेश देने के लिये तथा दूरस्थ भगवान् के वर्णन का उपसंहार करने के लिये पुनः भगवान् का निर्व्याज वर्णन करते हैं—

नित्याय त्रिगुणात्मने पुरजिते कात्यायनीश्रेयसे
सत्यायादिकुटुम्बिने मुनिमनःप्रत्यक्षचिन्मूर्तये।
मायासृष्टजगत्त्रयाय सकलाम्नायान्तसंचारिणे
सायन्ताण्डवसम्भ्रमाय जटिने सेयं नतिः शम्भवे॥५६॥

नित्याय = आदि- अन्त रहित, त्रिगुणात्मने = तीनों गुणों के अधिष्ठान, कात्यायनीश्रेयसे = भगवती पार्वती के लिये परम कल्याण (मंगल) रूप, सत्याय = सदा अबाध्य, आदिकुटुम्बिने = (जगत्पिता होने से) प्रथम गृहस्थ, मुनिमनःप्रत्यक्षचिन्मूर्तये = चिन्मात्र रूपसे मुनियों को मन के द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष, मायासृष्टजगत्त्रयाय = माया से त्रिलोकी को उत्पन्न कर चुके, सकलाम्नायान्तसंचारिणे = समस्त वेदान्तों के प्रतिपाद्य, सायन्ताण्डवसम्भ्रमाय = शाम को ताण्डव करने के प्रति उत्साह वाले, जटिने = जटाधारी (आप), शम्भवे = शम्भु के लिये, सा = वह (महत्फल वाला), इयम् = यह (बार-बार किया जाता)। नतिः = नमस्कार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्वादि तीनों गुण महेश्वर में ही अध्यस्त हैं । अत एव तत्तद्गुण के प्राधान्य से प्रसिद्ध त्रिमूर्ति भी भगवान् की ही है । बाण ने मंगलाचरण किया है—

'रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये स्थितौ, प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।

अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' ॥ कादं ॥

पुष्पदन्ताचार्य ने '*बहुलरजसे.... निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः*' में यही कहा है । वेदसारशिवस्तोत्र में भी—

'त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ ।

त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश लिंगात्मके हर चराचर विश्वरूपिन्' ॥(स्तुतिकदंब पृ. ५६)

इसे बताया है । '*यतो वा इमानि*'(तै. ३.१)आदि श्रुति व '*जन्माद्यस्य यतः*'(१.१.२) आदि सूत्र स्पष्ट ही जन्मादि तीनों का कारण एक है यह बताते हैं । शक्तिरूप भगवती के लिये शक्तिमान् शिव ही मंगल हैं । सारे संसार के माता पिता होने से शिव पार्वती ही प्रथम दम्पती है । इससे यह बताया कि हम सब भगवान् के ही कुटुम्बी हैं अतः आपसी वैर आदि नहीं रखना चाहिये । '*कुटुम्बं त्रैलोक्यम्*' (आनन्दलहरी १५) आदि अन्यत्र भी कहा है । मन की अपेक्षा भी प्रत्यक्ष हैं यह तात्पर्य है । अन्यत्र की अपेक्षा उपनिषदों में अधिक स्पष्ट भगवत्प्रतिपादन होने से पहले (५५) *श्रुतिपदैः* कहकर अब *आम्नायान्त* कहा है । स्मरण, नमन आदि का अभ्यास कर्तव्य है ॥ ५६ ॥

अनुस्मरणार्थ किये अब तक के वर्णन में अपने से दूर ही भगवान् का चित्रण किया । अब अपने अतिनिकट अंतर्यामी रूप का वर्णन करते हैं जिसका अनुस्मरण आलम्बनान्तर की अपेक्षा के बिना ही संभव है—

नित्यं स्वोदरपूरणाय सकलानुद्दिश्य वित्ताशया
व्यर्थं पर्यटनं करोमि भवतः सेवां न जाने विभो ।
मज्जन्मान्तरपुण्यपाकबलतस्त्वं शर्व सर्वान्तर-
स्तिष्ठस्येव हि तेन वा पशुपते ते रक्षणीयोस्म्यहम् ॥५७ ॥

विभो = हे व्यापक नियन्ता ! **शर्व** = हे लयकर्ता ! **पशुपते** = हे सर्वजीव-पालनकर्ता ! **स्वोदरपूरणाय** = अपना पेट भरने के लिये, **वित्ताशया** = धन प्राप्ति की आशा से, **सकलान्** = सभी से, **उद्दिश्य** = माँगने के उद्देश्य से, **व्यर्थम्** = निष्फल ही, **नित्यम्** = हमेशा, **पर्यटनम्** = भ्रमण, **करोमि** = करता रहता हूँ । **भवतः** = आपकी, **सेवाम्** = सेवा को, **जाने** = कोई महत्त्व देने के प्रति, **न** = जागरूक नहीं हूँ । **मज्जन्मान्तरपुण्यपाकबलतः** = (मानो) पूर्व जन्मों में किये मेरे पुण्यों के फलित होने की अवस्था में आ चुकने के कारण (अर्थात् मेरे सौभाग्य से), **हि** = क्योंकि, **त्वम्** = आप, **सर्वान्तरः** = सबके अन्दर (अतः मुझ में भी), **तिष्ठसि** = रहते हैं, **एव** = ही, **तेन** = इसलिये, **वा** = भी (मेरे प्रयास न करने पर भी), **ते** = आप द्वारा, **अहम्** = मैं, **रक्षणीयः** = बचाने योग्य, **अस्मि** = हूँ ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि आप पालनकर्ता हैं और सबको शासित रखते हैं तथा संसारसमाप्ति कर सकते हैं इसलिये मेरा ऐसा पालन कीजिये कि आपकी आज्ञानुसार दुःख मेरे पास न आये और मेरा भवरोग समाप्त हो जाये, यह सम्बोधनों का तात्पर्य है। हमारी स्थिति तो यह है कि भस्मक रोग से पीड़ित होने से हमारी भूख मिटने का नाम नहीं लेती जिससे सदा विषय से सुख की भीख माँगते रहते हैं। कोई टुकड़ा डाल देता है कोई धत्ता बता देता है, पर अब तक कोई दानवीर नहीं मिला, जिसने पेट भर दिया हो। अतः अब तक घूमना व्यर्थ ही हुआ, जिसके फलस्वरूप जब तक सार्थक न होगा, तब तक माँगते रहेंगे और संसार का स्वरूप ऐसा है कि हमें नित्य ही भटकना पड़ेगा। जैसे विषयों से भीख माँगते हैं वैसे शरीर व इंद्रियों से भी— कर्तृत्त्व व भोक्तृत्व पाने के लिये द्विविध शरीर से याचना करते हैं: आँख मुझे द्रष्टृत्व दे दे, पैर गन्तृत्व दे इत्यादि। इस उधार को चुकाने के लिये विषयों से सुख का उधार लेते हैं और फिर उस उधार को चुकाने के लिये कर्तृत्वादि का उधार ले लेते हैं। यह व्यापार कभी समाप्त होने का नहीं। हाँ, एक ही तरीका है, दोनों देनदारों को आपस में मिला दें— वे दोनों आपंस में निर्णय कर लें और हम पल्ला झाड़ लें—'*गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्त्वा*' (गी.३.२८)। किंतु जब तक यह हिम्मत न हो तब तक अन्तर्यामी की सेवा के लिये फुरसत नहीं मिलती। पर एक आशा अवश्य है कि भगवान् मेरे अंदर स्थित हैं, वे सारा उधार चुका देंगे। यद्यपि भगवान् करुणास्वभाव से ही हमारे अंदर बैठे हैं तथापि लेनदेन के व्यवहार में लिप्त होने से मुझे लगता है वे भी किसी पुण्यवश वहाँ आये हैं। जो हो, अब उन्हीं का भरोसा है। यहाँ यह समझना चाहिये कि जब हम कोई वैषयिक व्यवहार करें तब 'मैं भिखमंगा बन रहा हूँ', ऐसी दृष्टि कर अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा का अनुस्मरण करना चाहिये— यह बताया जा रहा है। व्यवहार हमेशा रहेगा। अतः इस अनुस्मरण में बादल या मोर देखने की प्रतीक्षा नहीं और अपने निकटतमरूप से भगवान् को याद किया जायेगा। *तिष्ठस्येव* से ध्वनित किया कि आप मुझ में रहते हैं तो कुछ तो किराया दीजिये, अधिक नहीं माँगता, बस दोनों उधार उतर जायें इतना ही दे दीजिये। तात्पर्य है कि अपनी साक्षिता के प्रति हम जागरूक हों तो भीख माँगनी नहीं पड़ेगी। यहाँ *सर्वान्तरः* कहकर शिवभक्ति में सबका अधिकार है यह बता दिया। इसमें ये सौर पुराण वचन (१२.७१, ६४.१५) प्रमाण हैं—

'ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चान्ये च संकराः। मद्भक्तिभावनापूता यान्ति मत्परमं पदम् ॥

म्लेच्छोऽपि वा यदि भवेद्भवभक्तिसमन्वितः। न तत्समश्चतुर्वेदी नाग्निष्टोमादियज्ञकृत्' ॥

स्त्रियों को भी शिवभक्ति में रुकावट नहीं: '*ब्रह्मक्षत्रविशःशूद्राः स्त्रियश्चात्राधिकारिणः*' (शिवगी.१६.२)। अनुपनीत भी नामसंकीर्तनादि कर सकता है '*नामसंकीर्तने ध्याने सर्व एवाधिकारिणः*' (शिवगी. १६.११)। भस्म व रुद्राक्ष सभी धारण कर सकते हैं '*सर्वेण सर्वदा कार्यं भूतिरुद्राक्षधारणम्*' (वहीं २०)। शिवसर्वस्व भविष्य पुराण में (द्र. निर्णयसि. पृ. २४१) कहा है—

'यस्तु पूजयते लिङ्गं देवादिं मां जगत्पतिम्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मत्परायणः ॥

तस्य प्रीतः प्रदास्यामि शुभाँल्लोकाननुत्तमान्' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्कन्दपुराण का वचन है—

'शूद्रः कर्माणि यो नित्यं स्वीयानि कुरुते प्रिये ।तस्याहमर्चां गृह्णामि चन्द्रखण्डविभूषिते' ॥

किंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि जिन स्थानों पर मर्यादित धर्माचरण करने वालों द्वारा पूजा करने का अधिकार सीमित किया है, उनमें जबरदस्ती पूजनार्थ प्रयास दोष का ही कारण है क्योंकि वह भक्ति से प्रेरित नहीं है । भक्ति से प्रेरित व्यक्ति इष्टस्थान के नियमों का उल्लंघन करना चाहे यह असंभव है । ऐसे ही प्रतिष्ठा करने में कुछ को शास्त्र ने अनधिकारी बताया है । उन्हें प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिये, जिन लिंगों में पूजा करने का अधिकार है वहाँ पूजा कर लेनी चाहिये । यदि कोई ऐसा देवालय न मिले तो बेल के वृक्ष अथवा फल में ही शिवपूजा कर लेनी चाहिये ।कहा गया है (शि. गी. १६.३१)—

'बिल्ववृक्षे तत्फले वा यो मां पूजयते नरः। परां श्रियमभिप्राप्य मम लोके महीयते' ॥

बिना शिवाराधना किये किसी भी परिस्थिति में भोजन नहीं करना चाहिये ।

'न चैवापूज्य भुञ्जीत शिवलिंगे महेश्वरम् ।सूतके मृतके चैव न त्याज्यम् शिवपूजनम्' ॥

(निर्णयसि. पृ. २४४) ।

अन्यत्र रुकावटे हों तो स्वयं में शिवदृष्टि करना रूप सर्वोत्तम पूजा सबके लिये सुलभ है । शिवगीता में (१६. ३८) कहा है—

'आत्मपूजासमा नास्ति पूजा रघुकुलोद्भव । सत्सायुज्यमवाप्नोति चण्डालोप्यात्मपूजया' ॥

द्रव्यादि न हों तो मानस पूजा ही कर लेनी चाहिये । तात्पर्य है कि जाति, लिंग आदि के कारण शिवभक्ति के मार्ग पर चलने में कोई रुकावट नहीं । इतना अवश्य है कि सब के लिये निर्धारित मार्ग (lanes) हैं जिन पर चलें तो टक्कर हुए बिना शिवभक्तिरूप घण्टापथ पर सब चल सकते हैं ॥५७ ॥

जैसे अंगप्रकरण को प्रार्थना से समाप्त किया था (४९) वैसे इस अनुस्मरणशेषतया भगवद्वर्णन-प्रकरण को प्रार्थना द्वारा समाप्त करते हैं—

एको वारिजबान्धवः क्षितिनभोव्याप्तं तमोमण्डलं
भित्त्वा लोचनगोचरोऽपि भवति त्वं कोटिसूर्यप्रभः ।
वेद्यः किं न भवस्यहो घनतरं कीदृग्भवेन्मत्तम-
स्तत् सर्वं व्यपनीय मे पशुपते साक्षात्प्रसन्नो भव ॥५८ ॥

पशुपते = हे पशुपति !, वारिजबान्धवः = सूर्य, एकः = एक ही है, अपि = फिर भी, क्षितिनभोव्याप्तम् = पृथिवी से आकाश तक फैले, तमोमण्डलम् = अन्धकाररूप पिण्ड को, भित्त्वा = नष्ट कर, लोचनगोचरः = दृष्टिगोचर, भवति = हो जाता है । त्वम् = आप (तो), कोटिसूर्यप्रभः = करोड़ों सूर्यों की प्रभावाले हैं, (फिर), किम् = क्यों, न = नहीं, वेद्यः = (मेरे लिये आप)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञेय, भवसि = हो जाते ? अहो = आह, मत्तमः = मेरा अज्ञानान्धकार, कीदृक् = कैसा, घनतरम् = अत्यधिक गहरा है ! तत् = उस, सर्वम् = सारे अन्धेरे को, व्यपनीय = हटाकर, साक्षात् = (आप) स्वयम्, मे = मुझ पर, प्रसन्नः = प्रसन्न, भव = होइये ।

पूर्वश्लोक में भगवान् को सर्वान्तर कहा था । सर्वान्तर हैं तो सर्ववेद्य होने चाहिये पर हैं नहीं, अतः किसी अंधेरे ने उन्हें ढक रखा है । उन्हें क्या ढाँकेगा, हमें उनसे ढाँके रखा है । अतः उनसे प्रार्थना है कि उस अन्धकार को वे ही निवृत्त करें । *प्रसन्नो भव* की ही व्याख्या *साक्षाद्भव* है ऐसा समझना चाहिये । अविद्यनिवृत्त्युपलक्षित चित् ही भगवान् की प्रसन्न अवस्था है । *व्यपनीय साक्षाद्भव* का तात्पर्य है कि आप तो अभी भी साक्षात् हैं पर तम के कारण मुझे समझ नहीं आ रहा है, तमोनिवृत्ति ही प्रार्थनीय है, आप तो साक्षात् हैं ही । अन्धकार के दृष्टान्त से और तरप्प्रयोग से अज्ञान की भावरूपता बतायी । भट्टजगद्धर ने (स्तु. कु. १०.६५-६६) भी ऐसा भाव एक युग्म में प्रकट किया है

'चिन्तामणिः स्फटिकजातिरचेतनोऽपि कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितोऽपि ।

तिर्यग्दशामपि गता किल कामधेनुर्भाग्यैरभीष्टफलदाः कृतिनां भवन्ति ॥

त्वं तु प्रभो त्रिभुवनैकमहेश्वरोऽपि पर्याप्तशक्तिरपि पूर्णकृपार्णवोऽपि ।

आक्रन्दतोऽपि करुणं विधिवंचितस्य त्यक्तादरोऽसि मम दर्शनमात्रकेऽपि' ॥

ऐसे ही उन्होंने अन्यत्र (३३.२४) भी अपने भाग्य को कोसा है । काश्मीर के ही भक्त कवि उत्पलदेव ने भी अपनी स्थिति पर आश्चर्य व्यक्त किया है—

'तत्किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान् निर्मातृतामश्नुते

भावः स्यात्किमु तस्य चेतनवतो नाशास्ति यं शंकरः ।

इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः

संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम्' ॥स्तो. ११.१२ ॥

यहाँ तक अनुस्मरण वर्णित हुआ ॥५८ ॥

भक्तिस्वरूप की चर्चा उपोद्घात में की जा चुकी है । परम प्रेम की अभिव्यक्ति को भक्ति समझना चाहिये । किन्तु भगवद्विषयकतामात्र से प्रेम की भक्तिता स्वीकार ली जाती है; परमता न होने पर भी यदि भगवान् से प्रेम है व उसे प्रकट किया जाये तो भी कहा जाता है 'यह भक्ति कर रहा है' । अतः भक्ति के अनेक प्रकार सम्भव हो जाते हैं, प्राकट्यवैविध्य से ही नहीं, प्रेमवैविध्य से भी । प्राकट्यवैविध्य श्रवणादिभेद से व शरणागतिभेद से पहले बताया जा चुका है । अब अपरवैविध्य सोलह दृष्टान्तों से तीन श्लोकों में प्रतिपादित किया जा रहा है । तृतीय श्लोक में उदात्तस्वरूप को बतायेंगे, पहले सामान्य रूपों को बताते हैं:—

हंसः पद्मवनं समिच्छति यथा नीलाम्बुदं चातकः

कोकः कोकनदप्रियं प्रतिदिनं चन्द्रं चकोरस्तथा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतो वाञ्छति मामकं पशुपते चिन्मार्गमृग्यं विभो
गौरीनाथ भवत्पदाब्जयुगलं कैवल्यसौख्यप्रदम् ॥५९॥

पशुपते = हे पशुपति !, **विभो** = हे व्यापक परमेश्वर !, **गौरीनाथ** = हे गिरिजाधीश !, **यथा** = जैसे, **हंसः** = हंस, **पद्मवनम्** = कमलसमूह की, **चातकः** = चातक पक्षी, **नीलाम्बुदम्** = श्यामवर्ण मेघ की, **कोकः** = चक्रवाक पक्षी, **कोकनदप्रियम्** = कमल के प्रिय सूर्य की, **चकोरः** = चकोर पक्षी, **चन्द्रम्** = चन्द्र की, **प्रतिदिनम्** = रोज, **समिच्छति** = उत्कट इच्छा रखता है, **तथा** = वैसे, **मामकम्** = मेरा, **चेतः** = हृदय, **चिन्मार्गमृग्यम्** = ज्ञानरूप मार्ग से ढूँढे जा सकने वाले, **कैवल्यसौख्यप्रदम्** = मोक्षरूप सुख देने वाले, **भवत्पदाब्जयुगलम्** = आपके चरणकमलद्वय की, (**प्रतिदिनम्** = निरन्तर), **वाञ्छति** = उत्कट इच्छा करता है ।

यहाँ कुछ कविप्रसिद्धियों का सहारा लिया गया है । हंस कमल खाता है, वही उसका भोजन है यह माना जाता है । चातक बादल से गिरता पानी ही पीता है, अन्य पानी नहीं । चक्रवाकों का जोड़ा सूर्य के रहते साथ रहता है, सूर्य डूब जाने पर बिछुड़ जाता है । चकोर का आहार चन्द्रज्योत्स्ना है । इन्हीं पक्षियों की तरह नाना अधिकारी भगवान् को चाहते हैं । हंस पद्म चाहता है पर कोई निश्चित पद्म इसकी इच्छा का विषय नहीं । साथ ही एक पद्म से इसे तृप्ति भी नहीं, पद्मवन चाहिये । वैसे कुछ लोग परमेश्वर को चाहते हैं पर इनको किसी निश्चित स्वरूप की इच्छा नहीं । जब जैसा स्वरूप प्रतीत हुआ या किसी ने समझा दिया तब वैसे स्वरूप की ही इच्छा कर ली । साथ ही इन्हें एक परमात्मा से सन्तोष नहीं होता— विश्वास नहीं होता कि एक परमात्मा ही सर्वसमर्थ है । ये नाना देवताओं की सेवा में लगे रहते हैं । संसार से उत्कृष्ट तत्त्वविषयक होने से यह भी है भक्ति ही, पर निकृष्ट भक्ति ही है । चातक की कामना बादल से मिलने वाले पानी की हैः वह बादल को चाहता हो ऐसा नहीं, उससे प्राप्य पानी को चाहता है । इस प्रकार अन्य लोग किसी आवश्यक वस्तु की प्राप्ति के लिये परमात्मा को चाहते हैं । उनका वास्तविक प्रिय परमेश्वर नहीं, उससे मिलने वाली वह वस्तुविशेष है । क्योंकि अन्य आश्रयों को छोड़ परमेश्वर से माँगने का भाव है अतः यह भी भक्ति है । इतना समझना चाहिये कि ये लोग सभी कुछ परमात्मा से माँगने वाले नहीं, कुछ वस्तुविशेषों को ही उनसे चाहते हैं । किंतु चाहते उनसे ही हैं । जैसे चातक अन्यत्र उपलभ्य जल भी नहीं चाहता वैसे ये भी उन वस्तुओं को परमशिव से ही चाहते हैं । चक्रवाक चाहता है चक्रवाकी को पर सूर्य के होने पर ही वह उसे मिलेगी इसलिये उसे सूर्य चाहिये । उसे सूर्य से कोई प्रेम नहीं । यह '*कोकनदप्रियम्*' कहकर सूचित किया । लालकमल को कोकनद कहते हैं । उसे खिलाने वाला होने से उसका प्रिय सूर्य है । प्रिय तो वह कमल का है, चाह उसे चक्रवाक रहा है । ऐसे ही कुछ सांसारिक व्यक्ति भगवान् को चाहते हैं । अभिलाषा तो उन्हें धन, यश आदि सर्वथा अन्य वस्तुओं की है पर भगवान् के कारण वे वस्तुएँ मिल जाती हैंअतः वे भगवान् की इच्छा कर लेते हैं । किंतु चातक की तरह ये अकेले भगवान् पर निर्भर नहीं, यह विशेष है । अपनी इच्छा को कथंचिद् भगवदभिमुख किया, अतः ये भी भक्त ही हैं । चकोर चन्द्र को चाहता है पर चन्द्र से प्रेम है इसलिये नहीं किन्तु इसलिये कि वह उसका भोजन है । ऐसे ही कुछ लोग धन्धा आदि के कारण भगवान् से सम्बन्ध रखते हैं, प्रेम के कारण नहीं । अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सांसारिक सम्बन्धों से भगवत्सम्बन्ध श्रेष्ठ ही है अतः यह भी भक्ति का ही एक निकृष्ट प्रकार है । चकोर की चन्द्रप्रीति जगद्धर भट्ट ने भी दृष्टान्तरूप में ग्रहण की है ।

'ज्योत्स्नाच्छटाभिरिव देव चकोरकस्य भास्वत्प्रभाभिरिव पंकजकोरकस्य ।

दैवीभिरद्भिरिव बर्हिकिशोरकस्य प्रीतिर्न ते नुतिकथाभिरघोर कस्य' ॥स्तु. कु. ९.४९ ॥

(बर्हिकिशोरक = मयूर) । इन चारों विधाओं में समानता है *प्रतिदिनम्* और *समिच्छति* की । इनके बिना ये सम्बन्ध, ये इच्छाएँ भक्ति नहीं हो पायेंगी । क्योंकि प्रकृत सब भक्त बाह्य ही किसी विषय को इष्ट बनाने वाले हैं इसलिये उन्हें उद्बोधित करते हुए आचार्य ने कहा कि वस्तुतः अपनाने योग्य तो 'चिन्मार्ग' है । हम ही चित् हैं । अतः अपने को रास्ता बनाकर जब चलेंगे, प्रत्यक् की वास्तविकता खोजेंगे तब विभु महेश्वर मिलेंगे ॥५९ ॥

सात और दृष्टान्तों से अन्य प्रकार की भक्तिप्रवृत्तियाँ बताते हैं—

रोधस्तोयहृतः श्रमेण पथिकश्छायां तरोर्वृष्टितो

भीतः स्वस्थगृहं गृहस्थमतिथिर्दीनः प्रभुं धार्मिकम् ।

दीपं सन्तमसाकुलश्च शिखिनं शीतावृतस्त्वं तथा

चेतः ! सर्वभयापहं व्रज सुखं शम्भोः पदाम्भोरुहम् ॥६० ॥

(यथा = जैसे), तोयहृतः = जल द्वारा बहाकर ले जाया गया व्यक्ति, रोधः = किनारे की ओर (जाता है), श्रमेण = परिश्रम से (थका), पथिकः = यात्री, तरोः = पेड़ की, छायाम् = छाया में (जाता है), वृष्टितः = बरसात से, भीतः = डरा व्यक्ति, स्वस्थगृहम् = पक्के मकान में (जाता है), अतिथिः = सदा पर्यटन करने वाला, गृहस्थम् = सद्गृहस्थ के पास (जाता है), दीनः = गरीब आदमी, धार्मिकम् = धर्मभीरु, प्रभुम् = दानवीर के पास (जाता है), सन्तमसा = घने अंधेरे से, आकुलः = परेशान व्यक्ति, दीपम् = दीपक के पास (जाता है), च = और, शीतावृतः = ठण्ड से पीडित व्यक्ति, शिखिनम् = आग के पास (जाता है), तथा = ऐसे ही, चेतः = हे मन ! त्वम् = तुम, सर्वभयापहम् = सब भयों का अपहरण करने वाले, शम्भोः = शम्भु के, पदाम्भोरुहम् = चरण कमल को, सुखम् = आराम से (निश्चिन्त होकर), व्रज = जाओ ।

मरते समय या ऐसे ही अत्यन्त कष्ट के काल में होने वाला भगवान् के प्रति प्रेम प्रथम दृष्टान्त से बताया है । दैवात् बचने पर वह किनारे का सहारा लिये ही रहता है । ऐसे ही इस प्रकार का भक्त यदि तात्कालिक भक्तिवशात् उस परेशानी से उबर जाये तो भक्ति को अपनाये ही रखता है । यात्री पेड़ की छाया में कुछ देर सुस्ताना भर चाहता है, वहीं रुक नहीं जाता । इस तरह कुछ लोग भगवान् को चाहते तो हैं पर केवल संसार के झमेले से परेशान मन को बहलाने के लिये । कथा प्रवचन आदि में भी अनेक श्रोता केवल इसीलिये पहुँचते हैं कि चार गंभीर, चार हल्की अच्छी तरह कही बातों से मन बहल जायेगा । क्योंकि मन बहलाने के अन्य नाटक, काव्य आदि साधनों को छोड़ कर भगवत्कथा में वे रुचि लेते हैं या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसी प्रयोजन से अन्य तरह से भगवत्सम्बन्ध रखते हैं अतः भक्त उन्हें भी मानना ही चाहिये। बरसात से बचाव चाहने वाले का भाव होता है— पक्का मकान मिल जाये तो बेहतर है, नहीं मिला तो भी काम चलेगा। वह अपना रास्ता छोड़कर पक्का मकान ढूँढ़ने नहीं चल देता। रास्ते पर ही अगल-बगल देखता रहता है। कुछेक भक्तों की यही स्थिति हैः सांसारिक व्यवहार के चलते कुछ परेशानी है पर वह अत्यन्त असह्य नहीं। यदि व्यवहार चलता रहे और परमात्मा का सहारा लेने से परेशानी हट जाये तो परमेश्वर की छत्रछाया में पहुँच जायेंगे पर व्यवहार छोड़कर उसे पाने के लिये ही उस तक जाने वाले नहीं। थके यात्री को तो छाया न मिलने से तड़प होती रहती है, लेकिन गाँव पहुँचना आवश्यक होने से कुछ आराम मिलते ही फिर चल देता है, पर वर्षा से डरा व्यक्ति ऐसी तड़प का अनुभव नहीं करता। किंच यात्री थकान मिटा कर बढ़ जाता है पर भीगा व्यक्ति पक्के मकान में पहुँचता है और अभी कपड़े सूख भी नहीं पाते कि देखता है वर्षा थमी तथा चल देता है। भक्तों में भी कुछ तो यात्री की तरह तड़प मिटाने के लिये भगवान् से सम्बन्ध करते और बहुत कुछ उसे मिटा कर पुनः व्यवहार में लगते हैं। अन्य वे हैं जो सम्बन्ध स्थापित करते तो हैं पर उस समय भी व्यवहार की पीड़ा कुछ न कुछ बनी रहती है। दोनों की तीव्रता में अन्तर है और उसका कारण है कि दोनों जिसके कारण प्रवृत्त हुए हैं उसमें भेद है। अतिथि गृहस्थ के घर जाता है तो भिखमंगे की तरह नहीं क्योंकि वह जानता है कि मेरी सेवा से गृहस्थ का भी स्वधर्म निभ रहा है। अतः जैसे गृहस्थ मेरा, वैसे मैं उसका उपकार कर रहा हूँ। कुछ महानुभाव इसी तरह भगवान् से हिसाब रखते हैं—भगवान् ने हमारे लिये इतना किया इसलिये हम उनका भजन करें। प्रेम का प्रसंग नहीं। जब उन्हें लगे कि भगवान् ने हित करना छोड़ दिया है, तब उनका भजन भी बन्द हो जाता है। मनौती मानना भी इसी ढंग की निकृष्ट भक्ति समझनी चाहिये। भिखारी अर्थार्थी भक्त का दृष्टान्त है। चातक तो केवल जल चाहता है पर भिखारी सभी कुछ चाहता है। यह भेद है। अंधेरे से परेशान व्यक्ति आर्त का उदाहरण है किंतु यात्री आदि से वैलक्षण्य यह है कि यह ठोकर आदि खाते हुए भी दीपक की ओर बढ़ता है और पर्याप्त मात्रा में अपना रास्ता भी बदल लेता है। आर्त भक्त भी कष्ट झेलते हुए, उनके कारण विमुख न होते हुए, सांसारिक व्यवहार को कुछ सीमा तक छोड़ कर भी भगवत्सेवा करते हैं। आग चाहने वाला तो तत्काल लाभ चाहने वाले का प्रतीक है। ऐसे भक्त अतिप्रसिद्ध हैं ही। चित्त को कहा है कि इनमें से किसी भी भाव से सही, पर भगवान् में लगे। शिवगीता में (१.२१) कहा है—

'अनादरेण शाठ्येन परिहासेन मायया। शिवभक्तिरतश्चेत्स्याद् अन्त्यजोऽपि विमुच्यते'॥

भगवत्सम्बन्ध की विशेषता है कि वह स्वयं कुछ न कुछ प्रगति कराता है। आवश्यक नहीं कि नाना व्यक्तियों का ही यह वर्णन हो, एक व्यक्ति भी विभिन्न अवस्थाओं में, विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भक्ति करता है। यह भी सूचित किया कि ऐसी सब अवस्थाओं में भगवत्प्रवणता का प्रयास करें। यह सत्य है कि प्रेम निर्देशानुसार नहीं होता किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि निरन्तर व लम्बा सम्बन्ध रहे तो सम्बन्धियों में प्रेम हो ही जाता है। दम्पति का प्रेम काल से बढ़ता है ऐसा देखा जाता है। भगवान् से भी यदि हम बार-बार हर तरह का सम्बन्ध रखना प्रारंभ करें तो संदेह नहीं कि हमारा उनसे प्रेम होगा। जिसे प्रेम हो गया वह तो सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से ही रखता है। जिसे अभी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगता नहीं कि उसे भगवान् से प्रेम है, उसे भी हर तरह से उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये, यह उपाय है । इसीलिये पूर्व श्लोक में *वाञ्छति* कह कर इस श्लोक में *व्रज* कहा है । भक्ति का क्रियापक्ष किसी तरह गौण समझना खतरनाक इसलिये होता है क्योंकि साधक उसकी उपेक्षा कर बैठता है । जहाँ उसकी निम्नकोटिता कही जाती है वह सिद्ध की दृष्टि से बतायी जाती है, साधक के लिये तो वह कर्तव्यकोटि में ही है । वस्तुतस्तु सिद्ध की भी सेव्यानुकूलतार्थ क्रिया रहती ही है, अतः यहाँ गौणता का भ्रम नहीं करना चाहिये । *सर्वभयापहम्* कहकर इहलौकिक, पारलौकिक व अलौकिक तीनों तरह के फल चाहने वालों द्वारा शम्भु के चरणकमल आश्रयणीय हैं यह स्पष्ट कर दिया ॥६० ॥

पाँच अन्य उदाहरणों से भक्तिभाव स्पष्ट करते हैं—

अङ्कोलं निजबीजसन्ततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम् ।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते ॥६१ ॥

यथा= जैसे, **इह**= संसार में, **निजबीजसन्ततिः**= (उसके) अपने बीजों की शृंखला, **अङ्कोलम्**= अंकोलवृक्ष को, **सूचिका** = सुई, **अयस्कान्तोपलम्** =चुम्बक पत्थर को, **साध्वी** =पतिव्रता स्त्री, **नैजविभुम्**=अपने पति को, **लता**=लता, **क्षितिरुहम्**=वृक्ष को, **सिन्धुः**= नदी **सरिद्वल्लभम्**= समुद्र को, **प्राप्नोति**= प्राप्त होती है, **तथा**= वैसे, **चेतोवृत्तिः**= चित का समस्त व्यापार, **पशुपतेः**= पशुपति के, **पादारविन्दद्वयम्**= चरणकमलयुगल को, **उपेत्य**= प्राप्त कर, **सदा**= हमेशा (वहीं), **तिष्ठति**= रहे, **सा**= वह, **भक्तिः** = भक्ति, **इति**= इस शब्द से, **उच्यते**= कहा जाता है ।

अङ्कोलवृक्ष के बीज गिर कर उसी वृक्ष के मूल पर संलग्न हो जाते हैं । यह उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया है । ऐसे ही बहुतेरों को स्वभाव से ही भगवान् से प्रेम होता है । बचपन में ही दीखता है कि इसे भगवान् में रुचि है । सोच विचार कर या अनुकरण कर नहीं, स्वयं ही जो भगवत्परता होती है उसमें प्रथम दृष्टान्त है । यह पूर्वकृत सुकृत का फल होता है । पूर्व में (१७) भी निसर्गजा भक्ति का प्रसंग आ चुका है । इसके दो भेद जानने चाहिये । प्रथम तो वे होते हैं जो पूर्वजन्म में भक्तिमार्ग पर बढ़ रहे थे व फल पाने योग्य होने से पूर्व मर गये । वे तो *'यतते च ततो भूयः संसिद्धौ' (गी. ६.४३)* नियम से नैसर्गिक भक्ति पाकर उसी में प्रगति कर जाते हैं । दूसरे वे होते हैं जिनके कर्म, संस्कार आदि तो उत्कृष्ट रहे पर भक्तिमार्ग में वे विशेष प्रवृत्त नहीं थे । वे उत्पन्न होते हैं तो चित सात्त्विकतर होने से भगवत्प्रवण होता है, किंतु उन्हें उसे उस ओर लगाने के लिये प्रयास करना पड़ता है, अन्यथा वह प्रावण्य शिथिल पड़ जाता है । ऐसे व्यक्तियों को संग आदि ठीक मिले तो जल्दी उन्नति कर जाते हैं, कुसंग मिले तो उस मार्ग को छोड़कर संसार में ही प्रवृत्त हो जाते हैं । इस भक्ति की स्वाभाविकता से श्रेष्ठता भी है पर अविचारितता से दुर्बलता भी, यह ध्यान रखना चाहिये । वस्तुतस्तु सभी जीव स्वभाव से यत्किंचित् परमेश्वरपरक होते हैं । नास्तिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने के लिये बुद्धि लगानी पड़ती है। और नास्तिक भी स्वात्मरूप परमेश्वर से तो प्रेम करता ही है। नीलकण्ठ दीक्षित ने (आनन्द सागर. २२) कहा है—

'भक्तिस्तु का? यदि भवेद्रतिभावभेदस्तत्केवलान्वयितया विफलैव भक्तिः।
प्रीतिस्त्वयि त्रिजगदात्मनि कस्य नास्ति स्वात्मद्रुहो न खलु सन्ति जनाखिलोक्याम्'॥

विफलैव इसलिये कि स्वात्मा परेश है ऐसा बोध नहीं, अन्यथा तो सफल ही है। सर्वथापि, भगवान् में कुछ न कुछ प्रेम हम सब को है किंतु संसारप्रेम से वह ढँक जाता है। वह आवरण हटे— संसारप्रेम कम हो— तो वह नैसर्गिक प्रेम बढ़ाया जा सकता है। जयमङ्गलादि आधुनिक आचार्यों ने इसी दृष्टि से प्रेमावरण माना है— *'प्रेमवृद्धिस्तथा प्रेमावरणक्रमभंगतः'— (ना.भ.सू. वार्तिक. २. १८९)*। यद्यपि उक्त वार्तिककार भक्ति को भगवत्स्वरूप मानकर प्रेमावरण आदि व्यवस्था बनाते हैं जबकि प्रकृत प्रसंग में, जैसा कि उपोद्घात में कहा जा चुका है, भावपूर्ण अभिव्यक्ति को भगवत्प्रेम या भक्ति माना जा रहा है तथापि इतना समान है कि जीवमात्र में परमेश्वर से प्रेम व उसे प्रकट करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है तथा विषयासक्तिप्रधान आवरण से ढँकी रहती है। पूर्व में (श्लोक १३) भी यह तथ्य इंगित हो चुका है। अतः भगवत्प्रेम की 'उत्पत्ति' अर्थात् अभिव्यक्ति के लिये आवरण— जिसका विषयासक्तिरूप ही प्रधान है— निवृत्त करना ही पर्याप्त है, हाँ, उसकी वृद्धि के लिये साधानाभ्यास अवश्य आवश्यक है। जैसे राख से ढँकी आँच 'पैदा' तो राख हटने से हो जाती है पर बढ़ती यत्नान्तर से है, वैसे समझना चाहिये। यत्नान्तर आवश्यक होने की दृष्टि से प्रेमावरण का परित्याग उपोद्घात में है। विषयासक्त्यादिरूप आवरण व उक्त प्रकार से परमात्मप्रावण्य की स्वाभाविकता तो स्वीकार्य ही है।

सूई चुम्बक से चिपकती है पर तब जब चुम्बक के कारण सुई में कुछ परिवर्तन आ चुकता है— वह स्वयं हल्का चुम्बक बन जाती है। इसी प्रकार भगवान् के कारण कुछ परिवर्तन हममें आता है जिससे हमारी भगवदभिमुखता होती है। भगवान् के प्रति प्रेम वाला होने के लिये व्यक्ति कोई निजी प्रयास नहीं करता, पर उसके लिये अज्ञेय कारणवश ही उसमें वह उत्पन्न होता है। ऐसी भक्ति को दूसरी उपमा से व्यक्त किया। इसे यहाँ गिनने का प्रयोजन यह है कि ऐसी भक्ति अपने प्रयास से की गयी न होने से हमारे द्वारा उपेक्षित न हो जाये। कदाचित् उत्पन्न ऐसे भाव को यह चंचल भावमात्र है, ऐसा मानकर हम भुला न दें बल्कि उसे बढ़ाने की कोशिश करें यह अभिप्राय है। चुम्बक से भी पहले सूई में परिवर्तन आता है व तदनन्तर वह चुम्बक की ओर बढ़ती है। पत्नी का पति के प्रति सोचा समझा प्रेम होता है। ऐसा प्रेम स्थायी व दृढ होता है। रूप, स्वभाव आदि निमित्तक प्रेम तो *'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः'* की श्रेणी का होता है, चाहे तीव्र जितना भी हो। विचारपूर्वक किया प्रेम ऐसा नहीं होता। ऐसे ही हमें भगवान् से प्रेम करना चाहिये। वस्तुतः साधना-भक्ति का प्रारंभ इस दृष्टान्त से है। लता हर प्रकार से वृक्षाश्रित होती है। ऐसे ही हमें शरणागति ग्रहण करनी चाहिये। अपना एकमात्र व सम्पूर्ण सहारा भगवान् ही रहे। यह भेदभक्ति की पराकाष्ठा है। नदी तो समुद्र से अत्यन्त अभेद पाती है। यह अभेदभक्ति को बताने वाला उदाहरण है। इस अभेदभावनात्मिका भक्ति का शिवगीता में वर्णन है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

*'कर्तापि सर्वलोकानां अक्षय्यैश्वर्यवानपि। शिवः शिवोहमस्मीति वादिनं यं च कंचन।
आत्मना सह तादात्म्यभागिनं कुरुते भृशम्'* ॥१.३४,३५॥

देवीभागवत में भी *'स्वाऽभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः'* (७.३७.१५) को परमभक्ति कहा है। *'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'* (गी. १३.१०) का ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्यान है— *'अनन्ययोगेनापृथक्समाधिना— अहमेव भगवान् वासुदेव इति निश्चयेन, अत एव स्वात्मभूते मयि अव्यभिचारिण्येकान्तिकी भक्तिः'*। यह भावना *सिन्धुः सरिद्वल्लभम्* में समझ लेनी चाहिये। चेतोवृत्ति से चित्त के समस्त व्यापार कहे हैं अतः इन्द्रियव्यापार भी समझ लेने चाहिये। *चेतोवृत्तिः तिष्ठति* कहकर प्रेम की आत्मस्वरूपता अनभिप्रेत बता दी है। चेतोवृत्ति क्रियात्मक है इसमें संदेह नहीं। अतएव चेतोवृत्तिरूप ऋगादिमंत्रों की आवृत्ति भाष्यकार ने सिद्ध की है।

इस प्रकार पर व अपर सब प्रकार की भक्ति का संग्रह इन सोलह दृष्टान्तों में हो गया है। अपनी स्थिति पहचान कर भक्ति में प्रगति प्रारंभ कर देनी चाहिये व *प्रतिदिनम्* (५९) तथा *सदा* से कहे नैरन्तर्य के लिये प्रयासशील होते हुए अभेदानुसन्धान रूप परमभक्ति को आदर्श रखना चाहिये यह तात्पर्य है। ॥६१॥

पूर्वोक्त विचार से भक्ति को एक भावमात्र न समझ लिया जाये इसलिये सात्त्विक भावों को सूचित करते हुए भक्ति की अभिव्यक्ति बताते हैं—

**आनन्दाश्रुभिरातनोति पुलकं नैर्मल्यतश्छादनं
वाचा शंखमुखे स्थितैश्च जठरापूर्तिं चरित्रामृतैः।
रुद्राक्षैर्भसितेन देव वपुषो रक्षां भवद्भावना-
पर्यङ्के विनिवेश्य भक्तिजननी भक्तार्भकं रक्षति ॥६२॥**

देव = हे महादेव! भक्तिजननी = भक्तिरूप माता, आनन्दाश्रुभिः = आनन्द के आँसुओं से, पुलकम् = खुशी की सिहरन, नैर्मल्यतः = निर्मलता (रूप वस्त्र) से, छादनम् = आच्छादन, वाचा = वाणीरूप, शंखमुखे = शंख के अगले हिस्से में, स्थितैः = रखे, चरित्रामृतैः = आपकी कथारूप अमृतराशिओं द्वारा, जठरापूर्तिम् = पेट भरना, च = और, रुद्राक्षैः = रुद्राक्ष के दानों द्वारा (व), भसितेन = भस्मोद्धूलन द्वारा, वपुषः = शरीर की, रक्षाम् = रक्षा, आतनोति = करती है (एवम्), भवद्भावनापर्यंके = आपका ध्यान करना रूप पलंग पर, विनिवेश्य = लिटा कर, भक्तार्भकम् = भक्तरूप बच्चे को, रक्षति = सँभालती है।

'भक्तिर्मातेति गीयते' (बृहन्नारदीय. पु. ४.२९) कहकर पुराणकार ने ही भक्ति की माता रूप में कल्पना पुरस्कृत की है। उसी को दृष्टि में रख प्रकृत पद्य में रूपक का विस्तार किया है। आँसू आदि सात्त्विक भाव हैं जिन्हें आगे (६७) बताया जाना है। यहाँ इतना ही विवक्षित है कि भक्ति के कारण अश्रुपातादि बाह्य विक्रिया होती है। ऐसी ही बाह्य व आभ्यन्तर निर्मलता भी भक्तिवशात् जीवन में आती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है । गीता में भी शौच को (१३.८) भगवत्प्राप्ति के साधनों में गिना है । जैसे आजकल बोतल से बच्चे को दूध पिलाते हैं, वैसे पहले शंख में दूध डाल कर उसके अग्रभाग द्वारा बच्चे को दूध आदि पिलाया जाता था । भक्ति के कारण कथा श्रवण में प्रवृत्ति होती है यह तात्पर्य है । शिवभक्ति में भस्मधारण की बड़ी महिमा है। शिवगीता में (१५.३-४) कहा है—

'नर्यभस्म समादाय विशुद्धं श्रोत्रियालयात् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैरभिमन्त्र्य यथाविधि ॥

उद्धूलयति गात्राणि तेन चार्चति मामपि। तस्मात्परतरा भक्तिर्मम राम न विद्यते' ॥

नर्यभस्म अर्थात् गार्हपत्याग्नि की भस्म । रुद्राक्षधारण का भी माहात्म्य है, (वहीं १५.५)—

'सर्वदा शिरसा कण्ठे रुद्राक्षान्धारयेत्तु यः । पंचाक्षरीजपपरः स मे भक्तः स मे प्रियः' ॥

चारों वर्णों वाले रुद्राक्षधारण में अधिकृत हैं । भस्मधारण में भी सबका अधिकार है ।

'ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरपि च संकरैः ।

अपभ्रंशैर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना' ॥सू. सं. ४.३०.४९ ॥ इतना भेद ध्यान रखना चाहिये कि श्रौत व स्मार्त भस्म का मंत्रपूर्वक धारण द्विजों के लिये व अन्यों के लिये लौकिक भस्म का विना मंत्र के धारण विहित है (सूत सं. ४.३०.१५, १७)—

'श्रौतं भस्म तथा स्मार्तं द्विजानामेव कीर्तितम्।अन्येषामपि सर्वेषामपरं भस्म लौकिकम् ॥

धारणं मन्त्रतः प्रोक्तं द्विजानां मुनिपुंगवैः। केवलं धारणं विप्रा अन्येषामपि कीर्तितम्' ॥

'अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । जलमिति भस्म । स्थलमिति भस्म । व्योमेति भस्म । सर्वं ह वा इदं भस्म । मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि' । इन सात मंत्रों से जलयुक्त भस्म से उद्धूलन करना चाहिये । भगवान् का ध्यान करना भी भक्त के लिये आवश्यक है । पूजाङ्गभूत ध्यान से पृथक् भी ध्यान करना चाहिये ॥६२ ॥

भक्तिपूर्वक पूजादि करनी चाहिये इसे एक भक्त के चरित्र का स्मरण करते हुए बताते हैं—

मार्गावर्तितपादुका पशुपतेरङ्गस्य कूर्चायते
गण्डूषाम्बुनिषेचनं पुररिपोर्दिव्याभिषेकायते ।
किञ्चिद्भक्षितमांसशेषकवलं नव्योपहारायते
भक्तिः किं न करोत्यहो वनचरो भक्तावतंसायते ॥६३ ॥

अहो = आश्चर्य है ! मार्गावर्तितपादुका = जिसे पहन रास्तों पर चला जा चुका है ऐसा जूता, पशुपतेः = पशुपति के, अंगस्य = शरीर को (पोंछने की), कूर्चायते = कूची बन जाता है ।गण्डूषाम्बुनिषेचनम् = कुल्ले के पाने को उगलना, पुररिपोः = त्रिपुरारि का, दिव्याभिषेकायते = अलौकिक अभिषेक हो जाता है । किंचिद्भक्षितमांसशेषकवलम् = थोड़ा खाकर बचा हुआ मुट्ठीभर मांस,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नव्योपहारायते = नवीन भेंट बन जाता हैं । भक्तिः = भक्ति, किम् = क्या, न = नहीं, करोति = कर देती ? वनचरः = जंगली व्यक्ति, भक्तावतंसायते = श्रेष्ठ भक्त बन जाता है ।

सुवर्णमुखरी नदी के तट पर 'दक्षिण कैलास' कहाने वाला श्रीकालहस्तीश्वर स्थान है । कण्णप्पा नामक वनवासी ने वहाँ भक्तिपूर्वक महादेव की नियमतः पूजा की । किंतु जंगली होने से पात्रादि तो उसके पास थे नहीं । जानवर मारता और चखकर देखता कि मांस भगवान् के लायक है या नहीं । ठीक होने पर हाथ में जूठा—चखा जा चुका—मांस ले आता । मुँह में पानी भर लाता, उसे ही भगवद्विग्रह पर उगल देता । हाथ में तो मांस रहता अतः जूता पहने पैर से ही शिवलिंग को पोंछ कर नैवेद्य अर्पित कर देता था । एक बार श्रीविग्रह के नेत्रस्थान से उसे रक्त निकलता दीखा । उसे एक उपाय मालूम था— यदि आँख फूट जावे तो उस पर दूसरी आँख रखने से ठीक हो जाती है । उसने तुरंत अपनी एक आँख निकाल कर भगवान् के नेत्रस्थान पर लगा दी । वहाँ से खून बन्द हो गया पर दूसरी आँख से खून निकलने लगा । कण्णप्पा को सन्तोष था कि उपचार मालूम है । किंतु समस्या थी कि जब वह अपनी दूसरी आँख भी निकाल देगा तो यह कैसे जानेगा कि उसे लगाना कहाँ है ? पर तुरन्त उसे उपाय सूझा । उसने अपने पैर का अंगूठा लिंग पर उस जगह टिका दिया जहाँ से खून निकल रहा था । अब आँख कहाँ रखनी है पता चल जायेगा । यों सब तैयार कर वह अपनी दूसरी आँख निकालने को उद्यत हुआ । तभी भगवान् प्रकट हुए और उसे दिव्यता प्रदान की । इस कथा की ओर यहाँ संकेत है । शिवगीता में (१२.७) कहा है

'विधिनाऽविधिना वापि भक्त्या ये मामुपासते ।तेभ्यः फलं प्रयच्छामि प्रसन्नोऽहं न संशयः ॥

अतः विधिरहित भी भक्तिपूर्वक किया आराधन सफल होता है । यह आराधना की प्रशंसा है । भक्ति से पूजनादि करना चाहिये । इस कथा का यह तात्पर्य नहीं कि अविधिपूर्वक ही उसे किया जाये बल्कि यह है कि भक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥६३ ॥

शिव हमेशा चित्त में उपस्थित बने रहें यह भी भक्ति के स्वरूप में निविष्ट है । भक्ति केवल कुछ देर करने का कार्य नहीं । इसे सूचित करते हैं—

वक्षस्ताडनमन्तकस्य कठिनापस्मारसंमर्दनं
भूभृत्पर्यटनं नमत्सुरशिरःकोटीरसंघर्षणम् ।
कर्मेदं मृदुलस्य तावकपदद्वन्द्वस्य किं वोचितं
मच्चेतोमणिपादुकाविहरणं शम्भो सदाऽङ्गीकुरु ॥६४ ॥

शम्भो = हे शम्भो ! अन्तकस्य = यम की, वक्षस्ताडनम् = छाती पर चोट करना, कठिनापस्मारसम्मर्दनम् = कड़े शरीर वाले अपस्मार राक्षस को दबाना, भूभृत्पर्यटनम् = पर्वतों पर घूमना, नमत्सुरशिरःकोटीरसंघर्षणम् = नमस्कार करते देवताओं के शिरःस्थित मुकुटों से रगड़ खाना, मृदुलस्य = कोमल, तावकपदद्वन्द्वस्य = आपके चरण-युगल का इदम् = यह सब, कर्म = काम,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किम् = क्या, **वा** = बिल्कुल भी, **उचितम्** = उचित है? **मच्चेतोमणिपादुकाविहरणम्** = मेरे मनरूप मणि से बनी पादुका पहन कर घूमना, (व अन्य कार्य करना), **सदा** = सदा के लिये, **अंगीकुरु** = स्वीकार कीजिये ।

मार्कण्डेय की रक्षा के समय यमराज की छाती पर लात मारी थी । अपस्मार पर दक्षिणामूर्ति का पैर पड़ा ही है । हिमालय की शृंखलाओं पर भगवान् शंकर घूमते रहते हैं । देवता उनके चरणों पर माथा रगड़ते हैं तो उनके मुकुटों की रगड़ भगवान् के चरणों पर पड़ती है । इन सब कार्यों को करने वाले पैर को एक जूता अवश्य चाहिये अतः अपने मन को जूतारूप से उन्हें भेंट किया जा रहा है । मनरूप जूते में हमेशा भगवान् का चरण बना रहे, यह भाव है । साधकजीवन में काम्य धार्मिक प्रवृत्तियों से विमुख होना यम की छाती पर लात मारना है । दुष्प्रवृत्तियों को न उठने देना अपस्मार को दबाये रखना है । अध्यात्म मार्ग पर चलना भूभृत्पर्यटन है । इसे कवियों ने दुर्गम पथ कहा ही है (कठ. ३.१४) । प्रलोभनों से बचने का प्रयास कोटीर-संघर्षण है । यह सब तभी सदा किया जा सकता है जब सदैव मन में भगवान् के पादारविन्द रहें । अतः यही यहाँ उपदेश है ॥६४॥

भक्ति की महत्फलता बताते हुए इस (५९ से चले) भक्तिस्वरूप-प्रसंग को समाप्त करते हैं—

वक्षस्ताडनशंकया विचलितो वैवस्वतो निर्जराः
कोटीरोज्ज्वलरत्नदीपकलिकानीराजनं कुर्वते ।
दृष्ट्वा मुक्तिवधूस्तनोति निभृताश्लेषं भवानीपते
यच्चेतस्तव पादपद्मभजनं तस्येह किं दुर्लभम् ॥६५॥

भवानीपते = हे भवानीपति ! **यच्चेतः** = जिसका चित्त, **तव** = आपके, **पादपद्मभजनम्** = चरणकमल के भजन में लगा है, **तस्य** = उसके लिये, **इह** = संसार में, **दुर्लभम्** = दुर्लभ, **किम्** = क्या है?, **वक्षस्ताडनशंकया** = छाती पर चोट पड़ेगी इस डर से, **वैवस्वतः** = यम, **विचलितः** = डरा रहता है (अतः उसे नहीं छूता) । **निर्जराः** = देवता, **कोटीरोज्ज्वलरत्नदीपकलिकानीराजनम्** = मुकुटस्थ चमकते रत्नरूप दीपों की पंक्तियों से आरती, **कुर्वते** = करते हैं । **दृष्ट्वा** = (उसे) देखने मात्र से, **मुक्तिवधूः** = मुक्तिरूप पत्नी, **निभृताश्लेषम्** = गाढ आलिंगन को, **तनोति** = स्थिर कर देती है ।

कर्त्रर्थक ल्युट् मानकर भजनशब्द समझना चाहिये । भक्ति मोक्षका साधन है इसे स्पष्ट किया । स्वयं भक्ति ही परम पुरुषार्थ नहीं । भक्ति से पावित चित्त में अखण्ड बोध स्थिर होता है— विज्ञान, निदिध्यासन होता है, अतः उत्तम भक्त को अत्यल्प यत्न करना पड़ता है इसे *दृष्ट्वा* से कहा । क्योंकि भक्त अपने कल्याण के प्रति निःशंक बना रहता है इसलिये उसे मृत्यु डराती नहीं । इंद्रियाँ भगवदर्चनादि में ही लगी रहती हैं अतः उसकी मंगलकामना करते हुए उसे सुख ही देती हैं । एवं च जीवित रहते भी भक्त निडर सुखी है व मरकर भी उसे दुर्गति की चिन्ता नहीं तथा बहुधा तो वह यहीं ज्ञान पाकर मुक्त हो जाता है । अतः सबको ऐहिक व आमुष्मिक सुखप्राप्ति के लिये यथासम्भव प्रकारों से सर्वाङ्गोपेत भगवद्भक्ति करनी चाहिये, यही प्रकरणार्थ है ॥६५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति हमारा कर्तव्य है क्योंकि भगवान् से हमारी विमुखता हो रखी है। यह हुई ही क्यों? यह प्रश्न पूर्व में (१५) उठा था। इसका उत्तर देते हैं—

क्रीडार्थं सृजसि प्रपंचमखिलं क्रीडामृगास्ते जना
यत्कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्।
शम्भो स्वस्य कुतूहलस्य करणं मच्चेष्टितं निश्चितं
तस्मान्मामकरक्षणं पशुपते कर्तव्यमेव त्वया ॥६६॥

शम्भो = हे शम्भु !, पशुपते = हे पशुपति ! (आप), क्रीडार्थम् = खेल के लिये, अखिलम् = समस्त, प्रपंचम् = संसार को, सृजसि = उत्पन्न करते हैं। जनाः = जीव, ते = आपके, क्रीडामृगाः = आमोदार्थ पशु हैं। च = अतः, मया = मेरे द्वारा, यत् = जो, कर्म = कर्म, आचरितम् = किया जाता है, तत् = वह, भवतः = आपकी, प्रीत्यै = प्रसन्नता के लिये, एव = ही, भवति = होता है। स्वस्य = अपने, कुतूहलस्य = मनोरंजन के, करणम् = साधनरूपसे, मच्चेष्टितम् = मेरी सब चेष्टाएँ (आपके द्वारा), निश्चितम् = निश्चित की गयी हैं। तस्मात् = (क्योंकि मैं जो, जैसा व जो कुछ करते हुए हूँ उसके लिये मैं जिम्मेदार नहीं) इसलिये, मामकरक्षणम् = मेरी रक्षा, त्वया = आपके द्वारा, एव = ही, कर्तव्यम् = की जानी चाहिये।

प्रपंच शिवक्रीडा मात्र ही है। अकेले रमण न होने से बहुभवन हुआ ऐसा श्रौतनिर्देश होने से रमणार्थ सृष्टि मानना संगत है। क्रीडा भी कोई प्रयोजन नहीं इस दृष्टि से क्रीडार्थसृष्टिपक्ष का अन्यत्र निराकरण है किन्तु '*लीलाकैवल्यम्*' आदि बादरायणोक्ति के अर्थ में क्रीडार्थता स्वीकार्य है।

'स्वतःसिद्धं पतित्त्वं मे युष्माकं पशुताऽपि च। तदेव दर्शयाम्यद्य पणबन्धविनोदतः' ॥

आदि पुराणवचन अनुसन्धेय हैं। आत्मार्पणस्तुति में इस खेल के लिये किये बटवारे का उल्लेख करते हुए दीक्षित जी ने कहा है, '*भुंक्षे गुप्तं दत सुखनिधिं तात साधारणं त्वं . . . मायया मां विभज्य*' (३५)। विमुखता तो खेल के लिये है। हम खेल की भावना भूल गये और इसे सत्य मानकर रोने लगे यही हमारी मूर्खता है। खेलरूपता समझ आ जाये— प्रपंच के मिथ्यात्व का बोध हो— इसके लिये भक्ति कर्तव्य हो गयी। भगवान् ने हमारी उपेक्षा की ऐसी कोई बात नहीं, खेल के लिये पति और पशु का विभाजन है, हमें दुःख हो इसलिये तो नहीं। क्योंकि '*तदेवानु प्राविशत्*' (*तै. २.६*) '*सः . . .आपद्यत*' (*ऐ १.३.१२*) '*सः . . प्रविष्टः*' (*बृ. १.४.७*) आदि वचनों से परमात्मा ही जीव है, अपने से भिन्न किसी को संसार में उसने नहीं छोड़ा है, इसलिये संसार खेल के लिये ही संभव है। स्मर्तव्य है कि यह विमुखता अनादि है जिसे पुराण ने '*स्वतःसिद्धम्*' कहा। हम जो कुछ भी करते हैं उसका एकमात्र प्रयोजन है शिवप्रसन्नता, किंतु भ्रमवश हम इस तथ्य को भूल जाते हैं और व्यर्थ दुःख पाते हैं। और शिव भी कोई दूर हिमगिरि पर विराजमान नहीं, हमारा अपना आत्मा ही है। इसी से उत्पलदेव ने कहा है '*मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः*'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२०.१२)। उद्धव से भगवान् ने भी कहा है *'मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः'* (उ.गी. ९.१३)। आचार्य ने भी अन्यत्र कहा है *'सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं...'* (धन्याष्टक १)। अतः संसार की दुःखमयता अज्ञानवश ही है।

इस अज्ञान को मिटाने के लिये भक्ति उत्तम उपाय है अतः हमारा कर्तव्य बन जाती है। हम शिवप्रीत्यर्थ ही अपनी सब चेष्टाएँ कर दें तो वे हमारी रक्षा करने को तैय्यार हैं यह बताया *मत्कर्म भवतः प्रीत्यै भवति, त्वया मामकरक्षणं कर्तव्यम्* कह कर। भृत्यवद् याचना नहीं क्योंकि शिवाऽभेद का निश्चय है। क्रीडार्थ कहने से प्रपंच की मायामयता स्पष्ट की। दीक्षितश्लोक में तो *'मायया विभज्य'* स्पष्ट ही कहा है। *अखिलम्* कह कर अमायिक, अक्रीडार्थ, दिव्य लोकादि के भ्रम का वारण किया। रुद्रलोकादि की दिव्यता में, श्रेष्ठता में, प्राप्तव्यता में कोई सन्देह नहीं किंतु हैं वे भी सब क्रीडार्थ, मायिक हैं यह तात्पर्य है। *सृजसि* से अन्त्यकार्यपर्यन्त शिवहेतुकता प्रकट की व जीवेश्वर भेद किसी काल से प्रारंभ हुआ है यह भ्रांति हटाई। *जनाः* कहकर जन्म लेने वाला— अहंकारादि—क्रीडामृग है यह स्पष्ट किया। *जनाः* का *मया* से परामर्श कर उस अहंकारादि में तादात्म्यबुद्धि को अनर्थनिदान बताया। *स्वस्य* और *मच्चेष्टितम्* द्वारा अपनी शिवाभिन्नता ध्वनित कर दी है। इर प्रकार संक्षेप में सृष्टिरहस्य और उसमें अनुभूयमान दुःख की निवृत्ति का उपाय इस श्लोक द्वारा बता दिया है ॥६६ ॥

अब तक भक्त, भगवान् और भक्ति का वर्णन किया और प्रपंच की क्रीडार्थता बताई जिससे हम व्यर्थ कष्ट से बचने का उपाय कर सकें। अव भक्ति का ही और विस्तार किया जा रहा है। अनुष्ठेयतया विधेय होने से प्रधान होने के कारण उसका पुनरपि प्रतिपादन अभीष्ट है। पूर्व में (६२) सूचित सात्त्विक भावों को भक्तिसहचर के रूप में बताते हैं—

वहुविधपरितोषबाष्पपूरस्फुटपुलकांकितचारुभोगभूमिम्।
चिरपदकांक्षिसेव्यमानां परमसदाशिवभावनां प्रपद्ये ॥६७॥

बहुविधपरितोषबाष्पपूरस्फुटपुलकांकितचारुभोगभूमिम् = हर तरह के सन्तोष से जन्य आनन्दाश्रुओं से भरपूर प्रफुल्लित रोमांच जिसका गुण है ऐसे सर्वाधिक सुन्दर आनन्दभोग की भूमिरूप, चिरपदकांक्षिसेव्यमानाम् = नित्य परमपदरूप फल चाहने वाले जिसका सेवन करते हैं (उस) परमसदाशिवभावनाम् = परात्पर भगवान् सदाशिव के ध्यान की, प्रपद्ये = मैं शरण लेता हूँ।

शिवध्यान की महत्ता यहाँ प्रकट की है।

'स्तम्भः स्वेदोऽथरोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' ॥

ये सात्त्विक भाव कहाते (भक्तिर. पू.६२) हैं। अन्तःस्थ भावना के ये बाह्य चिह्न हैं। देह व मन का भावोद्रेक से अवरुद्ध हो जाना स्तम्भ है। पसीने को स्वेद कहते हैं। भावप्रकर्ष से कदाचित् पसीना निकलता है। रोंगटे खड़े हो जाना रोमांच है जो हर्ष, आश्चर्य आदि से हो जाता है। गला भर आने का नाम स्वरभंग और सिहरन का नाम वेपथु है। कृशता, पीला पड़ना आदि वैवर्ण्य है जो विरहकष्ट आदि से होता है। आँसू गिरना अश्रुप्रलय है। क्योंकि भावना की अधिकता से ये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब होते है, इसलिये भक्तिभाव से भी इनका सम्बन्ध है। जब अपने में शिवसम्बन्धितत्तद्भावनावशात् ततत् लक्षण प्रकट हो तब पता चलता है कि भावना सचमुच प्रकृष्ट हुई। इन चिन्हों को नाटक की तरह प्रकट करना तो व्यर्थ है। स्वाभाविक रूप से इन्हें प्रकट होना चाहिये। इनके प्राकट्य से परितोष होता है क्योंकि भावाधिक्य का निश्चय होता है। ध्यान करते हुए ये चिह्न भी प्रकट होते हैं अतः भावना का इन्हें विशेषण बताया है। योगमार्ग की दृष्टि से ध्यानकाल में ऐसे भाव प्रकट होना अभीष्ट नहीं पर भक्तिमार्ग में अभीष्ट समझना चाहिये। शिवभावना से परमपद प्राप्त होता है। निदिध्यासनरूप से यह भावना की जाती है। अथवा 'मैं शिव हूँ, सब कुछ शिव है'ऐसा ध्यान समझना चाहिये। *परम* इतना पृथक् सम्बोधन पद भी सम्भव है। *शिवभावनां सदा प्रपद्ये* ऐसा अन्वय भी समझा जा सकता है ॥६७॥

शिवभावना की शरण लेना भगवान् के सहारे ही संभव है। उत्पलदेव (स्तो. १६.२१) कहते हैं—

'त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्। तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्' ॥

अतः भगवान से प्रार्थना करते हैं—

अमितमुदमृतं मुहर्दुहन्तीं विमलभवत्पदगोष्ठमावसन्तीम्।

सदय पशुपते सुपुण्यपाकां मम परिपालय भक्तिधेनुमेकाम् ॥६८॥

सदय = हे दयालु !, पशुपते = हे पशुपति !, सुपुण्यपाकाम् = महत् पुण्य परिपाक से प्राप्त, विमलभवत्पदगोष्ठम् = आपके निर्मल चरणरूप बाड़े में, आवसन्तीम् = रहने वाली, मुहुः = बार-बार, अमितमुदमृतम् = निःसीम आनन्दरूप दूध, दुहन्तीम् = देने वाली, मम = मेरी, एकाम् = अकेली (असहाय), भक्तिधेनुम् = भक्तिरूप गाय का, परिपालय = (आप) हर तरह से पालन कीजिये।

भक्ति को गाय की उपमा से बृहन्नारदीयपुराण में (पू. ४.१२) भी देखा जा सकता है।

'हरिभक्तिः परा नृणां कामधेनूपमा स्मृता।

तस्यां सन्त्यां पिबन्त्यज्ञाः संसारगरलं ह्यहो' ॥

पशुपति सम्बोधन सप्रयोजन है। यद्यपि भक्ति को पुण्य का फल कहना विवक्षित नहीं तथापि भक्ति हो सकी इसके लिये मिलने वाली अनुकूल परिस्थितियों को पुण्य का फल मानना ही होगा अतः भक्ति पुण्यप्रयुक्त है यह विवक्षित है। अथवा सुख देने वाली होने से भक्ति को पुण्यहेतु कहा समझना चाहिये। *एकाम्* से एकनिष्ठता सूचित की। *मुहुः* से अनुष्ठानकाल और फलकाल समझने चाहिये। अपनी भक्ति पर अधिक विश्वास होने से उपेक्षा कर सकते हैं। अतः चाहे वह *अमितमुदमृतं दुहन्तीम्* हो चुकी हो फिर भी उसके परिपालन के लिये भगवान् से प्रार्थना करते रहना चाहिये। भगवदनुकम्पा से ही भक्ति उपजती, रहती तथा बढ़ती है ॥६८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि अपनी असामर्थ्य का बोध भक्ति के लिये आवश्यक है यह पूर्व में (५ आदि) कहा गया है तथापि उसका स्वरूप किसी प्रकार की हीनभावना नहीं बल्कि अपनी वास्तविक स्थिति की पहचान है यह द्योतित करते हैं—

जडता पशुता कलंकिता कुटिलचरत्वं च नास्ति मयि देव ।
अस्ति यदि राजमौले भवदाभरणस्य नास्मि किं पात्रम् ॥६९ ॥

देव = हे महादेव !, राजमौले = हे राजेश्वर !, मयि = मुझमें, जडता = अचेतनता (या नितान्त मूर्खता), पशुता = पशुरूपता, कलंकिता = किसी कलंक वाला होना, च = और, कुटिलचरत्वम् = आचरण में कुटिलता, नास्ति = नहीं है । यदि = अगर, अस्ति = है (भी, तो), किम् = क्या, भवदाभरणस्य = आपका आभूषण बनने, पात्रम् = योग्य, न = नहीं, अस्मि = हूँ ?

जड चर्म, पशु मृग, कलंकी चन्द्र और चलने की वक्रता वाले साँप भगवान् के आभरण हैं अतःऐसा कहा है । यहाँ पशुता से पाशव प्रवृत्ति वाला होना समझना चाहिये । पूर्वोक्त पशुता को यहाँ नहीं कहा जा रहा है । अन्यथा *पशुं माम्* (५) से विरोध होगा । अतः तात्पर्य है कि भक्ति का अनुष्ठान करने वाला आत्मसंयम आदि से जडतादि का परित्याग कर चुका है जिससे उसे अपने में कोई हीनदृष्टि नहीं करनी चाहिये । मैं पापी हूँ, आदि यदि पुनः-पुनः विचार किया जाये तो सचमुच ही पापी बनने की प्रवृत्ति होगी ऐसा मनोवैज्ञानिकों का मानना है । इसलिये ऐसा नहीं सोचना चाहिये । मैं जैसा हूँ वैसा भगवान् के योग्य हूँ, यह सोचना चाहिये । इसे संभव बनाने के लिये ही करुणामय परमेश्वर ने जड आदि वस्तुओं को प्रेम से अपना रखा है । उन्हें देख हमें ढाँढस बँधता है कि हम परमात्मा के अयोग्य नहीं । इससे यह विपरीत बुद्धि न हो जाये कि हमें शुद्धि आदि लाने की जरूरत नहीं, इसलिये पहले कहा कि मुझमें जडता आदि नहीं है । अतः प्रयासपूर्वक जडतादि की निवृत्ति भी अभिप्रेत है । शिवभुजंग स्तोत्र में (स्तुतिकदम्ब पृ. २६) भी कहा है—

'पशुं वेत्सि चेन्मां तमेवाधिरूढः कलंकीति वा मूर्ध्नि धत्से तमेव ।
द्विजिह्वः पुनः सोऽपि ते कण्ठभूषा त्वदंगीकृताः शर्व सर्वेऽपि धन्याः ' ॥१२ ॥

उपमन्युमुनि भी शिवस्तोत्र में (स्तुतिकदंब पृ. १८) कहते हैं—

'अशुचिं यदि माऽनुमन्यसे किमिदं मूर्ध्नि कपालदाम ते' (१४) । जगद्धर भट्ट ने दीनाक्रन्दन नामक स्तोत्र में (११.३९.-६१) अत्यन्त विस्तार से इस भाव को प्रकट किया है । गंगा, सूर्य, अग्नि, नन्दी, पिनाक, त्रिशूल आदि को भगवान् ग्रहण करते हैं तो मुझे भी ग्रहण कर सकते हैं ऐसा बड़ा मार्मिक वर्णन कवि ने वहाँ किया है ॥ ६९ ॥

भक्त को प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों स्थितियों में भगवान् के साहचर्य के प्रति जागरूक रहना उचित है यह बताते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अरहसि रहसि स्वतन्त्रबुद्ध्या वरिवसितुं सुलभः प्रसन्नमूर्तिः ।

अगणितफलदायकः प्रभुर्मे जगदधिको हृदि राजशेखरोऽस्ति ॥७० ॥

स्वतन्त्रबुद्ध्या = विषयपारतन्त्र्यरहित बुद्धि से, रहसि = एकान्त में (तथा) अरहसि = व्यवहारभूमि में (जिनके साथ), वरिवसितुम् = भली प्रकार से रहना, सुलभः = सहज है। अगणितफलदायकः = अनगिनत फल देने वाले, प्रसन्नमूर्तिः = प्रसन्न स्वरूप वाले, राजेशेखरः = राजाओं के सिरमौर, जगदधिकः = संसार से अतीत, प्रभुः = परमेश्वर, मे = मेरे, हृदि = हृदय में, अस्ति = हैं।

भगवान् के साथ एकान्त में व जब एकान्त नहीं है तब, रहना अवश्य है क्योंकि वे हृदय में हैं ही। किन्तु इस मौके का ठीक फायदा उठाने के लिये स्वतन्त्र बुद्धि चाहिये। अन्यथा साथ रहते परमेश्वर से हमारा विवाद चलता रहेगा और हम निरन्तर कष्ट पायेंगे। उस हृदयस्थ देव से हमारा अविवाद हो जाये तो अनगिनत फल मिलता हैं क्योंकि अपनी शान्ति बनी रहती है। कहीं कहा गया है

'यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। सह तेनाऽविवादस्ते मा गङ्गान् मा कुरून् गमः' ॥

प्रभुः व *हृदि अस्ति* कहकर ईश्वर व साक्षी का अभेद सूचित किया। यही रूप ऐसा है जिससे हर अवस्था में सम्बन्ध रह सकता है। अतः भक्ति के अभ्यास के लिये अन्तर्यामी परमात्मा का चिन्तन सुलभ व आवश्यक उपाय है ॥७० ॥

यह चिन्तन स्मरण के सहारे व जप के सहारे किया जा सकता है अतः इन्हें क्रमशः बताते हैं—

आरूढभक्तिगुणकुंचितभावचाप-

युक्तैः शिवस्मरणबाणगणैरमोघैः ।

निर्जित्य किल्बिषरिपून् विजयी सुधीन्द्रः

सानन्दमावहति सुस्थिरराजलक्ष्मीम् ॥७१ ॥

आरूढभक्तिगुणकुंचितभावचापयुक्तैः = भक्तिरूप प्रत्यंचा जिस पर चढ़ी है और उसी से जो खिंचा हुआ है ऐसे भावना (ध्यान) रूप धनुष पर तैयार रखे, अमोघैः = अमोघ (व्यर्थ न जाने वाले), शिवस्मरणबाणगणैः = शिव का स्मरणरूप वाण समूहों द्वारा, सुधीन्द्रः = बुद्धिमानों में श्रेष्ठ व्यक्ति, किल्बिषरिपून् = पापरूप शत्रुओं को, निर्जित्य = सर्वथा जीत कर, विजयी = (उन पर) विजयी हुआ, सुस्थिरराजलक्ष्मीम् = कभी न छूटने वाली परम स्वाराज्यरूपमोक्षलक्ष्मी को, सानन्दम् = आनन्द से, आवहति = पाता है (अपने पास ले जाता है)।

भक्तिपूर्वक किया ध्यान अत्यधिक बलवान् होता है। योगियों का भी ध्येय समाधिप्राप्ति होने से उनके लिये भी भक्ति से ईश्वरप्रणिधान ही उत्तम उपाय है। भक्ति के बिना भी तत्तत्स्थलादि में किया ध्यान सिद्धि आदि व कथंचित् समाधि में फलीभूत हो सकता है, पर उसके साथ किया ध्यान समाधिलाभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लिये अधिक सशक्त है। प्रकृत ध्यान में ईश्वर स्मरण की ही आवृत्ति करनी चाहिये। अनुस्मरण-प्रकरण में इसके उपाय बताये जा चुके हैं। इससे पापसंस्कार क्षीण होते हैं तथा पापप्रवृत्ति स्वयमेव कुण्ठित होती है। कामना को श्रीकृष्ण ने वैरी बताया है। अतः यहाँ भी किल्बिष से पापहेतु काम भी समझा जा सकता है। क्रोधादि स्वरूपों की दृष्टि से बहुवचन अथवा विषयबहुत्व से बहुवचन संगत है। ईश्वरध्यान से सांसारिक कामना क्षीण होती है यह अपने ध्यान की सफलता नापने का मापदण्ड समझ लेना चाहिये। *निर्जित्य* से कहा कि कामनाओं की स्वच्छन्द प्रवृत्ति रुक जाती है और *विजयी* से कहा कि उन्हें अपने अनुकूल प्रवृत्त किया जा सकता है। अभी हम कामना के अनुकूल चलते हैं। शिवध्यान के माहात्म्य से हम उन्हें अपने अनुसार चला पाते हैं। इस सारी लड़ाई में जोर-जबरदस्ती की जगह धैर्य व उपाय से काम लेना चाहिये यह *सानन्दम्* से कहा। शांकरमार्ग भी कष्ट का नहीं और इससे जहाँ पहुँचना है वह भी कष्ट नहीं। अनुस्मृति सहकृत कहकर चित्त को निर्वृत्तिक कर देना आदि ध्यान यहाँ उपाय के रूप में नहीं बताया जा रहा यह स्पष्ट किया। अनुस्मरण सविशेष व निर्विशेष दोनों का हो सकता है यह कहने के लिये *शिव* शब्द का प्रयोग किया। पंचमुखी महादेव तथा प्रपंचोपशम — दोनों अर्थ *शिव*शब्द से पता चल जाते हैं। '*अप्रमतेन*'(मुं. २.२.४) श्रुति के स्मारणार्थ *सुधीन्द्रः* कहा है। किन्तु श्रुतिप्रोक्त उपासना से प्रकृत उपासना का ऐक्य नहीं ॥७१ ॥

अब क्रमप्राप्त जपसहकृत ध्यान का प्रतिपादन करते हैं—

ध्यानांजनेन समवेक्ष्य तमःप्रदेशं
भित्त्वा महाबलिभिरीश्वरनाममन्त्रैः ।
दिव्याश्रितं भुजगभूषणमुद्वहन्ति
ये पादपद्ममिह ते शिव ते कृतार्थाः ॥७२ ॥

शिव = हे शिव ! ये = जो, ध्यानांजनेन = ध्यानरूप काजल लगी आँख से, तमःप्रदेशम् = अज्ञानरूप स्थान की (भूमि की), समवेक्ष्य = अच्छी तरह परीक्षा कर, उसे, महाबलिभिः = अत्यधिक बलशाली, ईश्वरनाममन्त्रैः = भगवान् के नाममन्त्ररूप (कुदाली) से, भित्त्वा = खोद कर, दिव्याश्रितम् = देवता (भी) जिसका आश्रयण लेते हैं उस, ते = आपके, पादपद्मम् = चरणकमलरूप खजाने को, भुजगभूषणम् = जो कि साँपों से भूषित (रक्षित) है, उद्वहन्ति = पा लेते हैं, ते = वे, इह = इस संसार में, कृतार्थाः = कृतकृत्य हैं।

भूमि में गड़े खजाने को निकालने के प्रयत्न के रूपक का प्रयोग है। नामजप और ध्यान का साहचर्य विवक्षित है। जप के साथ अर्थभावना भी करनी चाहिये ऐसा पतंजलि महर्षि ने भी बताया है। जैसे भूमि खजाने और हमारे बीच व्यवधान बनती है ऐसे अज्ञान शिव और जीव के मध्य का व्यवधान है, जिसे खोद डालने से खजाना मिल जायेगा। मिला हुआ होने पर भी न मिले हुए की तरह है अतः न मिले होने की निवृत्ति हो जायेगी यह अर्थ है। शिव की दबे खजाने से तुल्यता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छान्दोग्य श्रुति में प्रसिद्ध ही है, *'यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः '(छा. ८.३.२)*। नाममन्त्र से प्रणव समझना चाहिये जो महावाक्यरूप होने से अज्ञाननाशक है ही। अथवा अन्य नामों को समझना चाहिये जिनके प्रताप से चित्त शुद्ध होकर अज्ञान-निवृत्ति हो सके। ध्यान अंजन और मन आँख जाननी चाहिये। *'मनोऽस्य दैवं चक्षुः' (छां. ८.१२.५)* ऐसी श्रुति भी है। भगवन्नाम का कुठार के रूप में वर्णन शिवपुराण में (वि. २३.३०) है—

'संसारमूलभूतानां पातकानां महामुने। शिवनाभकुठारेण विनाशो जायते ध्रुवम्'॥

भक्त को नित्य शिवसहस्रनाम का जप करना चाहिये। न हो सके तो शिवाष्टोत्तरशतनाम का जप करना चाहिये। शिवरहस्य में (७.१३) कहा है—

'एतानि दिव्यानि नामानि... बहून्यपि ततस्तेषामावृत्तिरतिदुर्लभा॥

अस्ति गुह्यतमं देवि नाम्नामष्टोत्तरं शतम्। शम्भोरहं प्रवक्ष्यामि पठतां शीघ्रकामदम्' ॥

यदि यह भी असंभव हो तो *'शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः'* आदि रूप से इन आठ नामों का जप करना चाहिय जैसा शिवपुराण में (शतरु. २.३-४) बताया है

'शर्वो भवस्तथा रुद्र उग्रो भीमः पशोःपतिः। ईशानश्च महादेवो मूर्तयश्चाष्ट विश्रुताः॥
भूम्यम्भोग्निमरुद्व्योमक्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः। अधिष्ठिताश्च शर्वाद्यैरष्टरूपैः शिवस्य हि' ॥

इसमें भी अशक्त को शिव इस द्व्यक्षर नाम का ही जप कर लेना चाहिये। शिवोपनिषत् में (१.२०) कहा है

'नामसंकीर्तनादेव शिवस्याशेषपातकैः। यतः प्रमुच्यते क्षिप्रं मन्त्रोऽयं द्व्यक्षरः परः '॥

शंकरसंहिता में इस नाम का माहात्म्य इसी से बताया है कि यह वेद के मध्य में स्थित है—

'सर्वासामपि विद्यानामुत्कृष्टा श्रुतिरुच्यते। चतुर्णामपि वेदानां यजुर्वेदो विशिष्यते॥
यजुर्वेदे चतुष्काण्डः श्रीरुद्रस्तत्र, तत्र च। नमः सोमाय चेत्यत्र वरा पंचाक्षरी मता'॥
तन्मध्ये जीवरत्नं स्यात् शिव इत्यक्षरद्वयम्॥

अधिकारी के लिये तो एकाक्षर-जप ही सर्वोत्तम है। सर्वथापि नामजपसहकृत ध्यान के विधान में तात्पर्य है। शिवलाभ ही कृत्य—करने योग्य—है। उसके अतिरिक्त कोई कृत्य नहीं ॥७२॥

शिवलाभार्थ व्यापार ही कृत्य है इसे प्रकट करते हैं—

भूदारतामुदवहद्यदपेक्षया श्री-
भूदार एव किमतः सुमते लभस्व।
केदारमाकलितमुक्तिमहौषधीनां
पादारविन्दभजनं परमेश्वरस्य ॥७३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुमते = हे सद्बुद्धि !, आकलितमुक्तिमहौषधीनाम् = मुक्ति की प्रसिद्ध महान् औषधियों के, केदारम् = खेत रूप, परमेश्वरस्य = भगवान् के, पादारविन्दभजनम् = चरणकमल का भजन, लभस्व = कर, यदपेक्षया = जिसके लिये, श्रीभूदारः = श्रीदेवी व भूदेवी जिनकी पत्नियाँ हैं उन महाविष्णु ने, एव = भी, भूदारताम् = वराहरूपता (तक), उद्वहत् = ग्रहण की थी ।अतः = इससे (वेहतर और), किम् = क्या (कार्य हो सकता है) ?

चरणकमल का भजन वह खेत है जिसमें मोक्षप्रद औषधियाँ उगती हैं । ज्योतिर्लिंग के चरण को ढूँढने के लिये ही विष्णु ने वराहरूप लिया था यह प्रसिद्ध है । भट्ट जगद्धर ने नतोपदेश नामक स्तोत्र में '*विभुं भजध्वं गिरिजाभुजंगम्, व्रजत . . . . शरणं तुषारकिरणाभरणम्, श्रयत विभुं हतकल्मषजालम्, भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम्, प्रणमतपुरहरमशरणशरणम्*', आदि कहकर हमें यही उपदेश दिया है कि भगवान् का भजन ही एकमात्र कर्तव्य है । यद्यपि अन्य काम भी कर लेने चाहिये अन्यथा व्यवहार न चलने से शिवभजन न हो सकेगा तथापि कर्तव्यबुद्धि परमेश्वर के भजन में ही रखनी चाहिये । अन्य काम इसीलिये हैं कि उनसे सब व्यवस्थित रहे और हम अधिक से अधिक शिवभावना में लीन रहें । वे काम ही प्रमुख बन जाने नहीं चाहिये । *श्रीभूदार* कहकर सूचित किया कि सांसारिक समृद्धि को भजन का फल नहीं समझना चाहिये । यदि वही फल होता तो उसे पा चुके महाविष्णु क्योंकर चरणानुसन्धान में प्रवृत्त होते ? साथ ही शिवाराधना के लिये चाहे जितना नीचा झुकना पड़े, झुक लेना चाहिये, विष्णु तो सूअर तक बन गये थे । अर्थात् वृथा अभिमान की रक्षा के पीछे भजन का मौका नहीं छोड़ना चाहिये ॥७३ ॥

शिवचरणसेवा से लौकिक सम्पत्ति नहीं तो किसकी आशा करें ? यह वताते हैं—

आशापाशक्लेशदुर्वासनादि-
भेदोद्युक्तैर्दिव्यगन्धैरमन्दैः ।
आशाशाटीकस्य पादारविन्दं
चेतःपेटीं वासितां मे तनोतु ॥७४ ॥

आशाशाटीकस्य = दिगम्बर भगवान् शंकर के, पादारविन्दम् = चरणकमल, आशापाशक्लेशदुर्वासनादिभेदोद्युक्तैः = कामना, कर्मादि पाश, अविद्यादि क्लेश, कुसंस्कार आदि को निवृत करने में उद्यत, अमन्दैः = अति समर्थ, दिव्यगन्धैः = अलौकिक सुगन्धों से, मे = मेरे, चेतःपेटीम् = चित्तरूप डिब्बे को, वासिताम् = सुगन्धित, तनोतु = करें ।

अनुभूतिप्रकाश में (१२.३०-३४) विद्यारण्यमुनि ने चार पाश बताये हैं—

'पाशाश्चतुर्विधाः शैवशास्त्रेषु प्रतिपादिताः ॥

मलो माया कर्म तत्त्वतिरोधानं च ते मताः। मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छादको दोष इष्यते ।

रागादिहेतुर्मायोक्ता कर्म पुण्यं च पातकम् मूढैस्तत्त्वतिरोधानं सर्वैरप्यनुभूयते' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिवतत्त्व को न जानना, रागादि की कारणभूत माया, कर्म तथा ज्ञान व क्रियाशक्ति के अभिभावक दोष— ये पाश हैं। *'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः'* ये पाँच क्लेश योगसूत्र में (२.३) वर्णित हैं। विपर्यय ज्ञान अविद्या है। अनित्य को नित्य समझना, बीभत्स को शुद्ध समझना, दुःख को सुख समझना, और अनात्मा को आत्मा समझना— यही चतुष्पदा अविद्या है। बुद्धि आदि को आत्मा से भिन्न न समझना तो अविद्या है और उसे आत्मा ही समझ लेना तथा बुद्धिगुणों को अपना ही मानना अस्मिता है। विज्ञानभिक्षु ने कहा है *'सामान्यतोऽहंबुद्धिः .... भेदाभेदेनाप्युपपद्यते, अत्यन्ताऽभेदाऽग्रहणात्, सैव अविद्या; न तु तदुत्तरकालीनः पुरुषे बुद्ध्यादिगुणदोषारोपः 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' त्यादिरूपः... अस्मिता त्वेतदुभयरूपिणी। भमत्त्वाऽविशेषेऽपि कार्यकारणरूपाऽवान्तरविशेषाद् अविद्याऽस्मितयोर्भेदेनोपन्यासः'* (२.६)। सुख को याद कर उसकी तथा उसके साधन की तृष्णा राग है। दुःख को याद कर उसके व उसके साधन के प्रति क्रोध— यह न हो ऐसी इच्छा— द्वेष है। मैं बना रहूँ, यह आशा अभिनिवेश है। सन्मार्ग में प्रवृत्ति रोकने वाले तथा असन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले संस्कार कुसंस्कार हैं। इन सबकी निवृत्ति की आशा भगवच्चरणकमलपरिमल से करनी चाहिये। केवल इनकी निवृत्ति ही नहीं, सत्संस्कारादि के उदय की भी प्रार्थना है यह *दिव्यगन्धैः वासिताम्* से कहा। पटकुटी (२१), कुम्भ (३६), दुर्ग (४२), कुहर (४४) आदि की शृखंला में पेटी का भी मन के लिये विलक्षण रूपक रखा गया है ॥७४॥

पुनः-पुनः करने से वासना बनती है अतः अपनी कर्मेन्द्रियाँ भगवत्परक करनी चाहिये यह उपदेश देते हैं—

कल्याणिनं सरसचित्रगतिं सवेगं
सर्वेङ्गितज्ञमनघं ध्रुवलक्षणाढ्यम्।
चेतस्तुरंगमधिरुह्य चर स्मरारे
नेतः समस्तजगतां वृषभाधिरूढ ॥७५॥

स्मरारे = हे कामशत्रु!, **समस्तजगताम्** = (हे) समस्त संसार के, **नेतः** = नेता!, **वृषभाधिरूढ** = हे वृषभ (साँड) पर चढ़ने वाले! आप, **कल्याणिनम्** = सौभाग्यवान्, **सरसचित्रगतिम्** = पसीने से तर होने पर भी नाना प्रकार की चाल से चलने वाले, **सवेगम्** = तेज गति वाले, **सर्वेङ्गितज्ञम्** = सब इशारों को समझने वाले, **अनघम्** = निर्दोष, **ध्रुवलक्षणाढ्यम्** = स्थायी विशेषताओं वाले, **चेतस्तुरङ्गम्** = (मेरे) मन रूप घोड़े पर, **अधिरुह्य** = चढ़कर, **चर** = विचरण कीजिये

यद्यपि चेतस्तुरंग कहा है तथापि *'कर्मेन्द्रियाणि अस्य हयाः' (मैत्रायण्युप. २.६)* श्रुति के आधार पर यहाँ चेतःशब्द से कर्मेन्द्रियाँ लक्षित समझनी चाहिये। साँड से घोड़े पर आने का तात्पर्य है कि शास्त्रप्रोक्त धर्म करना आवश्यक है, किये विना धर्म नहीं होता। वस्तुतः यज्ञादि क्रिया ही धर्म है। *'अयजन्त देवास्तानि धर्माणि' (पुरुषसूक्त)* श्रुति इसमें प्रमाण है। *स्मरारे* से स्पष्ट किया कि निष्काम व्यक्ति ही धर्म कर व करा सकता है। कामनाप्रयुक्त प्रायशः अधर्म ही होता है। *नेतः* से कहा कि हमें रास्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बताकर उस पर ले चलनेवाले महादेव ही हैं अत: हमें उनकी आज्ञा का पालन करना है, उन्हें हम अपने अनुसार चलाने की इच्छा न करें। खञ्ज आदि को कर्मानधिकार होने से अविकलेन्द्रियत्व स्वयं सौभाग्यवत्व होने से इन्द्रियों को सौभाग्य कहा है। थकानशील भी धर्माचरण ठीक से कर पाये यह असंभव होने से *सरसचित्रगतिम्* कहा। हमें आसन, व्यायाम आदि से अपनी क्रियासामर्थ्य इस योग्य बनानी चाहिये कि शैवमार्ग पर चलते समय झट से थकान न आवे। निरुत्साह मन्दगति होता है। साधक को उत्साही अतः सवेग होना चाहिये। जीवन का कोई ठिकाना नहीं कब तक रहे, अतः शीघ्रातिशीघ्र लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयासरूप साधनानुष्ठान करना आवश्यक है। धर्म यद्यपि अनेक छोटी-छोटी बातों को स्पष्ट करता है तथापि नित नवीन संसार में प्रतिदिन ऐसी अनेक स्थितियाँ आती हैं जब पुस्तक से यह पता नहीं चलता कि क्या करना उचित है। इसलिये धर्म का संकेत समझना पड़ता है जिससे ऐसे संशयों को काटा जा सके। अथवा, अन्तर्यामी के इशारे को समझने वाली इंद्रियाँ विवक्षित हैं। मन यदि अंतर्यामी से विरुद्ध प्रेरणा दे तो इंद्रिय में यह सामर्थ्य होनी चाहिये कि अंतर्यामी की आज्ञा का ही अनुसरण करे। यह योग्यता अभ्याससाध्य है। यदि हम बार-बार इंद्रियों से वही करें जो उचित है न कि जो मन को इच्छित है तो इंद्रियों में यह ताकत आ जाती है। इंद्रियाँ खुद रागहीन हों यह उनका निर्दोषत्व है। *'हरन्ति प्रसभं मनः'(गी. २.६०)* से माना जा सकता है कि इंद्रियाँ भी सराग होती हैं, अंत: उसे हटाना चाहिये। ये सब विशेषताएँ कदाचित् व पर्याय से प्राय: सब में मिल जाती हैं पर उससे यहाँ काम नहीं चलना इसलिये *ध्रुवलक्षणाढ्यम्* कहा। श्लोक का तात्पर्य यही है कि इन विशेषताओं को अपने में लाकर शिवधर्म का अनुष्ठान कर शिवभावना को अपने में स्थायी बना लेवे ॥७५॥

भक्तिपथिक के लिये सन्तोषी होना बहुत आवश्यक है यह बताते हैं—

भक्तिर्महेशपदपुष्करमावसन्ती
कादम्बिनीव कुरुते परितोषवर्षम्।
सम्पूरितो भवति यस्य मनस्तटाकः
तज्जन्मसस्यमखिलं सफलं च नान्यत् ॥७६॥

महेशपदपुष्करम् = भगवान् शंकर के चरण रूप आकाश में, **आवसन्ती** = रहती हुई, **भक्तिः** = भक्ति, **कादम्बिनी** = मेघ-पंक्तियों की, **इव** = तरह, **परितोषवर्षम्** = सन्तोषरूप जल की वर्षा, **कुरुते** = करती है। **यस्य** = जिस व्यक्ति का, **मनस्तटाकः** = मनरूप तालाब (उस वर्षा से), **सम्पूरितः** = भर जाता, **भवति** = है, **तज्जन्मसस्यम्** = उसकी जन्मरूप खेती, **अखिलम्** = पूरी, **च** = ही, **सफलम्** = सफल है, **अन्यत्** = उससे अन्य की जन्मरूप खेती, **न** = (सफल) नहीं।

भक्ति का साधन तथा साध्य सन्तोष है। *'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः'(२.४२)* यह योगसूत्र है। इसकी व्याख्या के लिये वाचस्पति मिश्र ने विष्णु[illegible] (४.१०.२६) श्लोक उद्धृत किया है—

'या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्। तां तृष्णां सन्त्यजन्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते'॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीर्यताम् — बूढ़े होते हुओं की भी तृष्णा स्वयमेव जीर्ण नहीं होती, उसके त्याग के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये यह तात्पर्य है। साधनामार्ग सांसारिक प्रगति नहीं होने देता जिससे लौकिक वस्तुओं की कमी रहना अपरिहार्य है। सन्तोष होगा तो कमी में जीवनयापन कर व्यक्ति साधना में लगा रहेगा, अन्यथा कमी पूरी करने के असम्भव प्रयास में लग जाएगा। साधनावस्था की तरह सिद्धावस्था भी सन्तोषपूर्ण है। अंतर यह है कि साधक को सायास सन्तोष का अभ्यास करना होगा जबकि सिद्ध नित्यसन्तुष्ट रहेगा। सन्तोष की प्रमुखता से ही इसे भगवान् ने दो बार साधनरूप से गिन दिया है *'सन्तुष्टः सततम्'* व *'सन्तुष्टो येन केनचित्' (गी.१२.१४,४१)*। भक्ति के कारण सन्तोष मिलता है अतः अपनी भक्तिसम्बन्धी बढ़ोतरी को सन्तोष के अनुपात से मापा जा सकता है। किसी भी परिस्थिति में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये, ऐसा निश्चय बना रहना ही सन्तोष है। किन्तु यह सन्तोष संसार के विषय में ही करना चाहिये, कल्याण के उपाय भक्ति-अनुष्ठान में तो माघकवि की बात माननी चाहिये *'श्रेयसि केन तृप्यते'* ॥७६॥

अब तक मन को कमल, कपि, तम्बू, किला, हंस, बगीचा, पादुका आदि नाना प्रतीकों द्वारा द्योतित कर भगवदर्पण करने की प्रेरणा दी। मधुसूदनाचार्य ने बताया है, *'शृङ्गारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः' (भक्तिर पृ १५१)* अर्थात् कामादि से मिश्रित होने पर भी शृंगार सबसे बलवान् रस है। स्मार्त मार्ग की मर्यादा के अनुकूल होने से इस शृंगार के प्रयोग भी सीमित ही संभव हैं। जैसे सखिसम्प्रदाय आदि में सम्भोगशृंगार के द्वारा भक्तिभाव का प्रकर्ष अभीष्ट होता है, वैसा यहाँ स्वीकार्य नहीं। विप्रलम्भ शृंगार का मर्यादित प्रयोग संभव होने से उसे दो श्लोकों द्वारा सूचित करते हैं। बुद्धि को वधू की उपमा देकर शृंगार की सूचना है। पहले विरह व्याकुलता का वर्णन करते हैं—

बुद्धिः स्थिरा भवितुमीश्वरपादपद्म-
सक्ता वधूर्विरहिणीव सदा स्मरन्ती।
सद्भावनास्मरणदर्शनकीर्तनादि
संमोहितेव शिवमन्त्रजपेन विन्ते ॥७७॥

ईश्वरपादपद्मसक्ता = महादेव के चरणकमलों में आसक्त, बुद्धिः = बुद्धि, स्थिरा = (वहाँ) स्थिर, भवितुम् = होने के लिये, विरहिणी = विरहातुर, वधूः = पत्नी, इव = की तरह, सदा = हमेशा (उन्हें), स्मरन्ती = याद करती हुई (रहती है)। शिवमन्त्रजपेन = 'शिव' इस मन्त्र के जप से, इव = मानों, सम्मोहिता = सम्मोहनग्रस्त हो (वह), सद्भावनास्मरणदर्शनकीर्तनादि = शिवविचार, शिवस्मृति, शिवदर्शन, शिवकीर्तन आदि को ही, विन्ते = (सब कुछ) समझती है।

विरह को प्रेम पकाने वाला माना जाता है। संयोग न होने का दुःख और संयोग की कामना—दोनों होने से इसकी तीव्रतरता है। जैसे लौकिक विरहिणी को कान्तचिन्तन से भिन्न कुछ रुचता नहीं और चाहे जो व्यवहार करते हुए उसका मन प्रिय में ही लगा रहता है वैसे भक्त भी भगवत्परायण होना चाहिये। भट्ट जगद्धर ने कहा है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'आदौ भक्तिवयस्यया परिचयान्नीतोन्मुखत्वं शनै-

रारूढा विषमेषुवर्त्मसु चिरं भ्रान्ताऽथ तान्तेः पदम् ।

दूतीकृत्य नवानवद्यवचसं देवीं पुरो भारती-

पेषा त्वामुपगन्तुमिच्छति पतिं प्रोद्दामकामा मतिः ' ॥३३.२० ॥

बाला पहले किसी सखी द्वारा प्रेममार्ग का परिचय पाती है । धीरे-धीरे उसे प्रिय को मिलने की उत्कण्ठा होती है । कामदेव के निर्देशानुसार भटकती हुई (*तान्ति अर्थात्*) खेद पाती है । फिर किसी को दूती बनाकर प्रिय को सूचना भेज कर उससे मिलना चाहती है । ऐसे बुद्धि भक्तिरूप सखी द्वारा भगवत्प्राप्ति के मार्ग का परिचय पाकर भगवान् से मिलने को उत्कण्ठित होती है । कठिन मार्ग पर चलती हुई बहुत देर तक भगवान् को न पाकर खिन्न हो जाती है । फिर स्तुतिरूप वाणी को दूती बनाती है और अत्यधिक कामना वाली हुई भगवान् के पास जाना चाहती है । स्वयं को विरहाकुल संयोगेच्छुक तरुणी की तरह समझ शिवचिन्तनादि में एकचित्त रहना चाहिये यह तात्पर्य है ॥७७ ॥

अब भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि इस विरहिणी का उद्धार कीजिये—

सदुपचारविधिष्वनुबोधितां सविनयां सुहृदं समुपाश्रिताम् ।

मम समुद्धर बुद्धिमिमां प्रभो वरगुणेन नवोढवधूमिव ॥७८ ॥

प्रभो = हे प्रभु !, सदुपचारविधिषु = भली प्रकार सेवा करने की विधियाँ, अनुबोधिताम् = जिसे समझा दी गयी हैं, सविनयाम् = (जो) विनययुक्त (है), (और), सुहृदम् = मुझ अपने सज्जन बन्धुपर, समुपाश्रिताम् = आश्रित है, (उस), इमाम् = इस, मम = मेरी, बुद्धिम् = बुद्धि को (वैसे ही), समुद्धर = अपने पास ले जाइये, इव = जैसे, नवोढवधूम् = नवविवाहिता स्त्री को, वरगुणेन = उसके श्रेष्ठ गुणों के कारण (उसका पति जल्दी ही ले जाता है) ।

अत्यन्त प्रेमासक्त होने से निश्चय है कि बुद्धिवधू का अन्यत्र परिणय होना नहीं । अब तो भगवान् ही इसे अपना लें । वे अपनायें इसके योग्य इसे मैंने — जो कि इसका संरक्षक हूँ — बना दिया है । यदि इसके प्रेम की गणना न भी करें तो इसके गुणों के कारण ही इसे ले जाइये । अब क्योंकि यह आपकी हो गयी है अतः इसे मैं ही पालता रहूँ यह उचित नहीं । भट्ट जगद्धर ने भी कहा है

'प्रियतमोऽपि मते र्मम सा पुन र्न गुणवत्यपि ते हृदयंगमा ।

इति महेश भवद्विरहातुरा भजति कामपि कामकदर्थनाम्' ॥१०.५३ ॥

सद्गुण-सम्पन्न और शंकर को ही प्राणप्रिय समझने वाली होने पर भी जो यह विरहातुर हो असंख्य कष्ट पा रही है उसका यही कारण समझ आता है कि परशम्भु को यह मेरी बुद्धि प्रिय नहीं है । तात्पर्य है कि भगवत्प्रेम उत्पन्न हो चुकने पर अन्यत्र रति की आशा भी छोड़ अपने चित्त को सर्वथा भगवदर्पण करना चाहिये । प्रायः यही भाव उत्पलदेव ने अन्य प्रकार से व्यक्त किया है

'भगवन् भवदिच्छयैव दासस्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्तिः ।

कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत्' ॥१२.२६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे भगवान् ! मैं आपकी इच्छा से ही आपका दास बना हूँ क्योंकि यह संभव नहीं कि आपकी इच्छा न हो और मैं आपका दास बन जाऊँ । किन्तु आश्चर्य यह है कि आपकी इच्छानुसार आपका सेवक बनने पर भी अब तक आपका दर्शन भी नहीं कर पाया ! ॥७८ ॥

यद्यपि शृंगारसम्बन्धी संयोग अनभीप्सित है तथापि सेव्यसेवकभाव से वह इष्ट ही है यह सूचित करते है —

नित्यं योगिमनःसरोजदलसंचारक्षमस्त्वत्क्रमः
शम्भो तेन कथं कठोरयमराड्वक्षःकवाटक्षतिः ।
अत्यन्तं मृदुलं त्वदङ्घ्रियुगलं हा मे मनश्चिन्तय-
त्येतल्लोचनगोचरं कुरु विभो हस्तेन संवाहये ॥७९ ॥

शम्भो = हे शम्भु !, विभो = हे व्यापक परमेश्वर !, त्वत्क्रमः = आपका पैर, नित्यम् = सदा, योगिमनःसरोजदलसञ्चारक्षमः = योगियों के मनरूप कमलदल पर घूमने की क्षमता वाला है, तेन = उससे, कठोरयमराड्वक्षःकवाटक्षतिः = कठोर देह वाले यमराजकी छाती रूप दरवाजे का तोड़ना, कथम् = कैसे (किया होगा) ? हा = हाय !, त्वदङ्घ्रियुगलम् = आपके दोनों पैर तो, अत्यन्तम् = अत्यन्त, मृदुलम् = कोमल हैं । मे = मेरा, मनः = मन, चिन्तयति = चिन्तित है(क्या हाल होगा उन पैरों का ?), एतत् = अपने चरणयुगल को, लोचनगोचरम् = (मेरे) दृष्टिगोचर, कुरु = कीजिये । हस्तेन = अपने हाथ से (उन्हें), संवाहये = सहला (मालिश कर) दूँ ।

पूर्व में (६४) कठिन कार्यों के लिये अपने मन को भगवच्चरणों के लिये पादुका रूप में अर्पित किया था । यदि महादेव ने स्वीकार कर लिया होता तब कोई कठिनाई नहीं थी, किंतु उन्होंने ऐसा किया नहीं अतएव चिन्ता है कि मृदु सुमनविस्तर पर संचरण करने वाले श्रीचरणों को कठोर स्पर्श से असुविधा अवश्य हुई होगी और सेवा की आवश्यकता होगी । तात्पर्य है कि यदि साधनारंभ में ही मैं शिवसंकल्प बन गया होता तो उसी के आधार पर संसार-तापों से बच जाता, पर वैसा हुआ नहीं और जैसे तैसे मैंने भक्ति का आश्रयण लिया जिससे मुझ अयोग्य के भी कष्ट भगवान् ने दूर कर दिये अतः अब और भी अधिक तत्परता से शिवसेवा मुझे करनी चाहिये । लौकिक शान्ति आदि मिलने से यह समझ नहीं लेना चाहिये कि हमारी स्थिति अच्छी हो गयी है, बल्कि यह जानना चाहिये कि यह शान्ति आदि केवल शिवकृपा से मिली है जिससे और अधिक भक्ति की जाये । साथ ही भगवान् के घूमने लायक स्थल कमल सदृश मन बताया । अतः अपने मन को वैसा बनाना चाहिये । निर्मलता, वैराग्य और कड़ा न होना — इन कमल में प्रसिद्ध गुणों को स्वयं में आहित करने का प्रयास कर्तव्य है । पादसेवा भक्ति का ही अंग है । यहाँ अजहल्लक्षणा से सभी अंग समझने चाहिये । उत्पलदेव ने भी भगवान् की चरणसेवा की उत्कण्ठा प्रकट की है—

'दासधाम्नि विनियोजितोप्यहं स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया ।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः पादसंवहनकर्मणापि वा' ॥१३.१० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं आपकी चरणसेवा करूँ इसके योग्य नहीं, दर्शन करूँ इसके योग्य नहीं तो आखिर आपने अपनी इच्छा से मुझे अपना दास बनाया किसलिये ? ॥७९ ॥

'यदि पद्मसदृश मन वाले योगियों में ही भगवान् का रमण है तो मुझ सरीखे कठोरचित्त में वे क्योंकर होंगे ? अतः मुझे मनःस्थतया शिवाराधन में अधिकार नहीं;' — यह भ्रम न हो जाये इसलिये '*प्राणिमात्रस्य भक्तावधिकारः*' (*भक्ति. पृ. २५*) वताने के लिये कहते हैं —

> एष्यत्येष जनिं मनोऽस्य कठिनं तस्मिन्नटानीति म-
>
> द्रक्षायै गिरिसीम्नि कोमलपदन्यासः पुराभ्यासितः ।
>
> नो चेद् दिव्यगृहान्तरेषु सुमनस्तल्पेषु वेद्यादिषु
>
> प्रायः सत्सु शिलातलेषु नटनं शम्भो किमर्थं तव ॥८० ॥

शम्भो = हे शम्भु !, एषः = 'यह, जनिम् = जन्म, एष्यति = लेगा, अस्य = इसका, मनः = मन, कठिनम् = कठोर (होगा और), तस्मिन् = उसमें, अटानि = मुझे संचरण करना होगा', इति = (ऐसा सोचकर) इस कारण से, मद्रक्षायै = मेरी रक्षा करने के लिये, गिरिसीम्नि = पहाड़ों की कठोर चोटियों पर, कोमलपदन्यासः = अपने कोमल चरणों को पड़ने का, पुरा = (आपने) पहले ही, अभ्यासितः = अभ्यास डाल दिया है । चेत्=यदि (ऐसा), नो = न (होता तो), दिव्यगृहान्तरेषु = अलौकिक घरों के भीतरी भाग में स्थित, वेद्यादिषु = सहन आदि में, सुमनस्तल्पेषु = पुष्पचर्चित तख्तों के, प्रायः = बहुतायत से (सुलभ), सत्सु = होते हुए, शिलातलेषु = पत्थरों के तलों पर, तव = आपका, नटनम् = नाचना, किमर्थम् = किसलिये ?

ऊबड़ खाबड़ पहाड़ी इलाके में घूमने का अभ्यास महादेव इसीलिये कर लेते हैं कि मुझ जैसों के बेढब मनों में संचरण करना मुश्किल न हो । अतः यह भय व्यर्थ है कि योगियों को ही निकटतया भगवान् उपलब्ध हैं, हमें नहीं । वे हम सब को उपलब्ध हैं । हाँ यह हमारा काम है कि हम उनके चलने लायक अपने मन को यथासंभव बनायें जिससे उन्हें कष्ट न हो । अपने सांसारिक अनुभवों से परमात्मपथ पर बढ़ने को सहारा देना चाहिये । लौकिक व्यवहार में बहुधा हम अनेक दुर्वचन सुन लेते हैं । उससे हममें जो गाली सहने की क्षमता आयी उसे प्रयुक्त करना चाहिये जब अध्यात्ममार्ग पर चलते हुए गाली सुननी पड़े । प्रायः हम संसार के लाभों के लिये तो गाली सुनना, मार खाना आदि सह लेते हैं पर परमेश्वर की अर्चना में इन्ही अड़चनों से रुक जाते हैं । अतः आचार्य ध्वनित कर रहे हैं कि संसार के लिये किये अभ्यास से परमार्थमार्ग पर चलने का प्रयास उचित है ।

ज्ञानरूप सरल मार्ग के रहते भक्तिरूप कठिन मार्ग भगवान् ने इसलिये बनाया कि हमारा मन कठिन है — इस आग्रह वाला है कि कठिनता से प्राप्त वस्तु ही महान् होती है । अतः कठिनता-सरलता का अंतर मार्ग में है — ऋजुता व कुटिलता का भेद है — नटराज में भेद नहीं । ज्ञानद्वारकता ही कठिनता या कुटिलता समझनी चाहिये ॥८० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि सबको अधिकार है और भगवान् की सर्वसुलभता समान है इसलिये श्रेयइच्छुक को हर तरह से भगवद्भजन में प्रवृत्त होना चाहिये । यह प्रवृत्ति साधन भी है और भगवद्धर्मनिष्ठारूप फलभूत भूमिका भी —

कंचित्कालमुमामहेश भवतः पादारविन्दार्चनैः
कंचिद्ध्यानसमाधिभिश्च नतिभिः कंचित्कथाकर्णनैः ।
कंचित्कंचिदवेक्षणैश्च नुतिभिः कंचिद् दशामीदृशीं
यः प्राप्नोति मुदा त्वदर्पितमना जीवन्स मुक्तः खलु ॥८१ ॥

उमामहेश = हे उमापति !, यः = जो, त्वदर्पितमनाः = आपको अपना मन अर्पित करने वाला, ईदृशीम् = ऐसी, दशाम् = अवस्था, मुदा = सहर्ष (अनायास), प्राप्नोति = पाता है (जिसमें), कंचित् = कुछ, कालम् = समय, भवतः = आपके, पादारविन्दार्चनैः = चरण कमलों की पूजा करने से, कंचित् = कुछ, नतिभिः = नमस्कार करने से, च = व, कंचित् = कुछ, ध्यानसमाधिभिः = सविशेष तथा निर्विशेष स्वरूपों के चिन्तन से, कंचित् = कुछ, कथाकर्णनैः = (आपकी) कथा सुनने से, कंचित् = आपके, अवेक्षणैः = दर्शन करने से, च = एवम्, कंचित् = कुछ, नुतिभिः = गुणगान करने से (व्यतीत होता है), खलु = यह निश्चित है कि, सः = वह, जीवन् = जीवित रहते हुए, मुक्तः = मोक्ष पा चुका है ।

जीवन का प्रत्येक क्षण शिवसंगति वाला हो, यही भक्त की परम इच्छा है । सर्वत्र ब्रह्म जानता हुआ मुक्त भी प्रतिवोधविदित् शिव का अभिन्न साहचर्य पाता है । अतः सदा भगवद्भजन में अनुरक्त और सिद्ध में थोड़ा ही फरक है । वह उत्तम साधक मोक्ष पाने ही वाला है अतः मुक्त ही समझा जाना चाहिये । इस स्थिति का सबसे प्रमुख व प्रथम उपाय है मन को भगवदर्पण करना । इसके विना सार्वकालिक भक्ति असंभव है । फिर यह सारा प्रयास भय आदि प्रयुक्त नहीं, सहर्ष होना चाहिये । साथ ही इस प्रकार सब तरह हर समय भगवदेकपरायण होना तभी हो सकता है जब हमारी दृष्टि कुछ बँधे प्रतीकों में रुकी न रहे । यदि पूजा के लिये शिवलिंग व पंचपात्र ही चाहिये तो निश्चय ही कभी पूजा में व्यवधान आयेगा । यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि प्रकृत साधक को मूर्ति व अन्य द्रव्य नहीं चाहिये, या वह मंदिर आदि में प्रतिमा आदि का पूजन नहीं करेगा; यहाँ तो यह तात्पर्य है कि साधक शिवलिंगादि सामने न देखते हुए भी शिवपूजा करता रहेगा । स्कन्दपुराण में कहा है

'पुष्पाणि सन्तु तव देव ममेन्द्रियाणि धूपोऽगरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः ।
प्राणा हवींषि करणानि तवाक्षताश्च पूजाफलं व्रजतु साम्प्रतमेष जीवः' ॥

इस दृष्टि को अपनाने से ही उक्त स्थिति लभ्य है । शिवभक्त उत्पलदेव ने भी यही अभिलाषा प्रकट की है

'तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः' ॥१३.८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब इंद्रियरूप मुखों से, सब पदार्थरूप पात्रों से निरन्तर शिवार्चनरूप मदिरा से सनातन उन्माद अभीप्सित है । यह उन्माद, यह आवेश ही जीवन्मुक्ति है । मदमस्त को कहीं भी अपना अभीष्ट ही दीखता है, खम्बा भी प्रेयसी दीखती है । मुक्त भी सर्वत्र एक अखण्ड शिव ही देखता है, और तो और स्वयं को भी शिव ही जानता है ! ॥८१ ॥

हर तरह से शिवप्रीत्यर्थ व्यवहार करना श्रेष्ठगति का साधन है यह बताते हुए शिवैकनिष्ठा देवतान्तरों के अनादर का कारण न बने, उनकी भी शिवपरायणता से महत्ता ज्ञात कराने वाली बने यह कहते हैं—

बाणत्वं वृषभत्वमर्धवपुषा भार्यात्वमार्यापते
घोणित्वं सखिता मृदंगवहता चेत्यादिरूपं दधौ ।
त्वत्पादे नयनार्पणं च कृतवांस्त्वद्देहभागो हरिः
पूज्यात्पूज्यतरः स एव हि न चेत्को वा तदन्योऽधिकः ॥८२ ॥

आर्यापाते = हे पार्वतीपति !, हरिः = विष्णु ने, बाणत्वम् = बाणरूपता, वृषभत्वम् = साँडरूपता, अर्धवपुषा = (आपका) आधा शरीर होकर, भार्यात्वम् = पत्नीरूपता, घोणित्वम् = सुअररूपता, सखिता = सखीरूपता, च = तथा, मृदंगवहता = मार्दंगिकरूपता, इत्यादि = और ऐसे अनेक, रूपम् = रूप, दधौ = धरे; च = एवम्, त्वत्पादे = आपके चरण पर, नयनार्पणम् = अपनी आँख को अर्पित, कृतवान् = किया; त्वद्देहभागः = आपके शरीर का हिस्सा, सः = वे विष्णु, एव = ही, चेत् = यदि, पूज्यात् = पूज्यसे, पूज्यतरः = और अधिक पूज्य, न = न हों (तो), हि = आखिर, तदन्यः = उनसे अतिरिक्त, अधिकः = श्रेष्ठ(और), कः = कौन(होगा) ?, वा = विचार तो करो ।

त्रिपुरसंहारार्थ भगवान् शंकर ने महान् आडम्बर से तैयारी की थी । पृथ्वी रथ बनी, ब्रह्मा सारथि, मेरुपर्वत धनुष, चंद्र व सूर्य रथ के पहिये बने । विष्णु बाण बने थे — '*इषुर्विष्णु र्महातेजाः*' (*शिवपु. रुद्रसं.* ८.२६) ।स्कन्दपुराण में (मा. कौ. खं. ३३.२५) भी कहा है —

'क्षोणी रथो विधिर्यन्ता शरोऽहं मन्दरो धनुः ।रथांगे चापि चन्द्रार्कौ युद्धे यस्य च त्रैपुरे' ॥

उसी युद्ध में जब वेदरूप घोड़ों से रथ संभला नहीं तो विष्णु ने सांडरूप होकर रथ को सहारा दिया था । यह लिंगपुराण में (१.७२.२९-३१) वर्णित है—

'तस्मिन्नारोहति रथं कल्पितं लोकसंभृतम् ।शिरोभिः पतिता भूमौ तुरंगा वेदरूपिणः ॥

अथाधस्ताद्रथस्यास्य भगवान् धरणीधरः । वृषेन्द्ररूपी चोत्थाय स्थापयामास वै क्षणम्' ॥

देवी भगवती विष्णु का रुप हैं, क्योंकि हरिवंश में कहा है

'प्रकृत्याः प्रथमो भाग उमा देवी यशस्विनी । व्यक्तः सर्वमयो विष्णुः स्त्रीसंज्ञा लोकभावनः' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अर्धनारीश्वरो भूत्वा ययौ देवः स्वयं हरः' ॥ *शिवपु. वायुसं. पूर्व. १५.९* ॥ आदि स्थलों पर आधा शरीर होकर पत्नीरूपता प्रसिद्ध है । अथवा वामनपुराण (अध्याय ५९) में वर्णित हरिहरमूर्ति की ओर संकेत समझना चाहिये—

'सार्धं त्रिनेत्रं कमलाहिकुण्डलं जटामहाभारशिरोजमण्डितम् ।

हरिं हरं चैव नगेन्द्रभूषणं पीताजिनाच्छन्नकटिप्रदेशकम् ॥

चक्रासिहस्तं धनुःशार्ङ्गपाणिं पिनाकशूलाजगवान्वितं च ।

कन्दर्पखट्वाङ्गकपालघण्टासशंखचक्राब्जधरं महर्षे ॥

दृष्ट्वैव देवा हरिशंकरं तं नमोस्तु ते सर्वगताव्ययेति'।

इत्यादि वहां वर्णित है ।

शिवचरणों का पता लगाने के लिये विष्णु का सुअर रूप *'इत्युक्त्वा सूकरतनुर्विष्णुस्तस्यादिमीयिवान्' (शिवपु. विद्ये. ७.१६)* आदि में प्रसिद्ध है । मोहिनी रूप में विष्णु शिव की सखी बने थे । *'ददर्श मोहिनीरूपं विष्णोः स हि वसद्गुणः' (शिवपु. शतरुद्र २०.३)* आदि में यह लीला वर्णित है । स्कन्दपुराण के प्रदोषस्तोत्र में (५) बताया है कि नटराज के नाचते समय विष्णु मृदंग बजाते हैं—

'वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणुं दधत्पद्मजस्तालोन्निद्रकरो रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता ।

विष्णुः सान्द्रमृदंगवादनपटु र्देवाः समन्तात् स्थिताः सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम्' ॥

पूर्व में (श्लोक ५४) भी आचार्य ने इस तथ्य को सूचित किया था । आदि पद से कृष्णादि रूपों को समझना चाहिये जिनमें विष्णुभगवान् ने शिवाराधना की ।

अपनी आँख अर्पित भगवान् विष्णु ने तब की जब सहस्रकमलार्चन करते हुए एक कमल कम पड़ गया था— *'तदप्राप्य विशुद्धात्मा नेत्रमेकमुदाहरत्'* ॥ *शिवपु कोटिरु. ३४.२२* ॥ स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड में अरुणाचलमाहात्म्य में भी यह प्रसंग आया है ।

हरि शिव के शरीर के बायें हिस्से हैं यह *'वामपार्श्वाच्च विष्णुस्त्वं समुत्पन्नः परात्मनः'* ॥ *शिवपु. रुद्रसं ९.१७* ॥ आदि से प्रमित होता है । इस प्रकार पुराणों में वर्णित विष्णुचरित्र को सुन्दर रीति से आचार्य ने इस श्लोक में यों संग्रथित किया है कि उनकी शिवपरायणता प्रकट हो तथा हमें प्रथमतः यह शिक्षा मिले कि भक्ति के लिये किस प्रकार सर्वविध व्यापार भजनीयपरक करने चाहिये और दूसरी यह कि यद्यपि शरण हम एकमात्र परमेश्वर की लें तथापि अन्य देवताओं के प्रति आदर रखें क्योंकि वे भी अत्युत्तम शिवभक्त हैं । जैसा यहाँ विष्णु के लिये कहा है वैसा अन्य भी देवताओं के विषय में समझ लेना चाहिये ।

'बाणत्वम्' से साधुपरित्राण दुष्कृतविनाशात्मक शिवकर्म में सहायक बनने को कहा है । *'वृषभत्वम्'* से धर्मानुष्ठान में निरत होना कर्तव्य बताया । *'अर्धवपुषा भार्यात्वम्'* से सूचित किया कि बुद्धि शिवमयी बनानी चाहिये । *'घोणित्वम्'* से कहा कि अधिष्ठान के प्रति जिज्ञासु होना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'*सखित्वम्*' का तात्पर्य है कि भगवान् से कुछ गुप्त रखने का विचार न रखें। '*मृदंगवहता*' से बताया कि प्रपंचरूप शिवताण्डव में हम शिवेच्छानुकूल व्यवहार करें, प्रतिकूल नहीं। '*नयनार्पणम्*' तो शिवज्ञान-प्राप्ति का स्पष्ट उपदेश है। '*देहभागता*' से शिवाभेदरूप फल कहा है। एवं च इन साधनों का अनुष्ठान करते हुए भक्ति को करना चाहिये ॥८२॥

सर्वपूज्य विष्णु का अनुकरण कर अन्य आलम्बनों को छोड़ उमापति की ही शरण लेनी उचित है यह बताते हैं—

> जननमृतियुतानां सेवया देवतानां
> न भवति सुखलेशः संशयो नास्ति तत्र।
> अजनिममृतरूपं साम्बमीशं भजन्ते
> य इह परमसौख्यं ते हि धन्या लभन्ते ॥८३॥

जननमृतियुतानाम्= जन्म-मृत्यु-युक्त, देवतानाम्= देवताओं की, सेवया= सेवा से, सुखलेशः= थोड़ा भी सुख, न= नहीं, भवति= होता, तत्र= इस विषय में, संशयः= कोई सन्देह, न= नहीं, अस्ति= है। अजनिम्= जन्म रहित व, अमृतरूपम्= अमृतरूप, साम्बम्= उमा-सहित, ईशम्= महेश्वर का, ये= जो, भजन्ते= भजन करते हैं, ते= वे, धन्याः= धन्य हैं, हि= क्योंकि, इह= जीवित रहते हुए ही, परमसौख्यम्= परमसुख, लभन्ते= पा जाते हैं।

'*लभन्ते तत्र संशयो न*' ऐसा दहलीदीपन्याय से समझना चाहिये। स्वयं जो अनित्य हो वह दूसरे को कैसे नित्य बना सकता है? अतः अनित्यों की सेवा अनित्य फल ही देती है। केवल महादेव, जिनमें निरुपपद ईश्वर पद रूढ है, हमें अपने से अभिन्न कर नित्य बनाते हैं। नीलकण्ठदीक्षित ने दक्षाध्वरनाश से यही शिक्षा पायी है कि महादेव से अन्य सभी सेव्यतम नहीं—

> *'क्रत्वात्मा पुरुषः क्रतुः क्रतुभुजो वक्ता क्रतूनां क्रतो—*
> *राधारः क्रतुकालकल्पनपरौ सर्वेऽप्यमी संहताः।*
> *यस्यातिक्रमतः सह क्रतुकृता भ्रष्टाश्च नष्टाः क्षणात्*
> *स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नापि नाम्नायते'* ॥ शिवोत्कर्ष. १३ ॥

भास्करराय शिवनामकल्पलतालवाल में नौ कारणों से शम्भु ही सेवनीय हैं यह स्थापित करते हैं—

> *'आनन्त्यौदार्यसत्यादृतिमृतिहृतिभिः स्वल्पसेवातितोषात्*
> *संकष्टोच्छित्त्युपेक्षाभयहितवचनैरुत्तमत्वाच्च शम्भुः।*
> *सेव्यो विष्णूपमन्युद्रुहिणमुनिसुतश्रीदमन्थेच्छुदेवै-*
> *र्दक्षश्रीरामवेदैरशिशुपशुवधूराक्षसैः साक्षिभि र्नः'* ॥२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१) अनन्त होने से शम्भु सेव्य हैं। उनकी अनन्तता में विष्णु साक्षी हैं, वे ही ज्योतिर्लिंग का अन्त पाने गये थे और पा न सके। विष्णु ने जिसका अन्त नहीं पाया वह निःसंशय अनन्त है। (२) उदार होने से शम्भु सेव्य हैं। उदारता में उपमन्यु साक्षी हैं जिन्होंने मांगा पीने के लिये दूध था और पाया क्षीरार्णव। (३) सत्य का आदर करने वाले होने से शम्भु सेव्य हैं। इसमें शापग्रस्त ब्रह्मा साक्षी हैं जिन्होंने 'ज्योतिर्लिंग का अन्त पा लिया' ऐसा झूठ बोला और भगवान् से अभिशप्त हो उसका फल पा लिया। (४) मृत्यु को निवृत्त करने वाले होने से शंभु सेव्य हैं। इसमें मुनिसुत मार्कण्डेय साक्षी प्रसिद्ध हैं। (५) थोड़ी सेवा करने से भी प्रसन्न होने वाले होने से शम्भु सेव्य हैं। इसमें श्रीद कुबेर साक्षी हैं : काशीखण्ड में कथा है कि किसी ब्राह्मणकुमार ने अपने कपड़े को बत्ती बना कर महादेव के मंदिर में जलते दीपक को बढ़ाया था और इतनी सी सेवा के फलस्वरूप भगवान् ने उसे कुबेर बना दिया। (६) संकट निवृत्त करने वाले होने से शम्भु सेव्य हैं। इसमें अमृतार्थ सागर का मंथन करने वाले देवता साक्षी हैं। कालकूटरूप संकट परमेश्वर से अतिरिक्त कौन दूर कर पाया? (७) यदि उनकी उपेक्षा की जाये तो डराकर पुनः सन्मार्ग पर ले आते हैं इसलिये शम्भु सेव्य हैं। इसमें दक्ष साक्षी हैं। दक्ष ने महादेव की उपेक्षा की तो उन्हें अत्यधिक डरा कर पुनरुज्जीवित कर सही रास्ते लगाया। (८) हित का उपदेश देने वाले होने से शम्भु सेव्य हैं। इसमें श्रीराम प्रमाण हैं जिन्होंने उनसे मोक्षशास्त्र का उपदेश पाया। यह उपदेश पद्मपुराणान्तर्गत है और शिवगीता नाम से जाना जाता है। (९) उत्तम होने से शम्भु सेव्य हैं। शम्भु की उत्तमता में तो वेद ही प्रमाण है : *'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः' (श्वे. ३.४), 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वे. ६.७), 'तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतमुमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्' (कै. १.७), 'ईशानं भूतभव्यस्य' (कठ. २.१.५)* आदि सहस्रशः वेदवाक्य शम्भु की उत्तमता में साक्षी हैं। शंका होती है कि प्रह्लाद, विभीषण, गजेन्द्र, द्रौपदी आदि तो इसमें साक्षी हैं कि श्रीपति ही सेव्य हैं, तब निश्चय कैसे करें? इसकी निवृत्ति के लिये कहा कि श्रीपति की सेव्यता में साक्षी या शिशु-प्रह्लाद है, या पशु-गजेन्द्र है, या स्त्री-द्रौपदी है, या राक्षस-विभीषण है जबकि शिशु आदि की साक्षी लोक में भी विश्वसनीय नहीं होती; स्त्री और बालक की असाक्षिता स्मृतिसिद्ध भी है *'स्त्रीवृद्धबाल_असाक्षिणः' (याज्ञ. स्मृ. व्यवहाराध्याय. ४.७२-७३)* तथा प्रकृत में शम्भु की सेव्यता के साक्षी उक्त दोष वाले नहीं। अतः निर्णय सहज ही किया जा सकता है — *'शम्भुः सेव्यः'*।

यह स्मर्तव्य है कि परमेश्वर के किसी नाम विशेष का आग्रह यहाँ नहीं कहा जा रहा, परमेश्वर से भिन्न की सेव्यता नहीं, इतना ही तात्पर्य है। अप्पय दीक्षित ने कहा है—

'वस्तां पिशंगं वसनं दिशो वा गरुत्मता यातु ककुद्मता वा।
निद्रातु वा नृत्यतु वाधिरंगं भेदो न मे स्यात्परमस्य धाम्नः' ॥

अत एव आनन्दलहरी में वे स्पष्ट कहते हैं कि नारायण ब्रह्मकोटि ही हैं जीव कोटि नहीं *'आस्माकीनान्तु सैद्धान्तिकसरणिरियं यत्परब्रह्मकोटिः श्रीमान्नारायणः सन्महित इति महाभारतादिप्रसिद्धः'*। एवं च स्पष्ट है कि जीवकोटि वालों का समाश्रयण न ले, परमेश्वर की ही शरण ले इतना ही आचार्यों का अभिप्राय है। परमेश्वर के किसी नाम आदि में कोई आग्रह नहीं। स्वयं श्रुति कहती है *'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(महाना. ११.१३), *'त्वं यज्ञस्त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं ब्रह्मा'* *(महाना. १५.६)*। अन्यत्र भी शिव विष्णु आदि में भेददर्शक की निन्दा स्मृत है। विष्णुपुराण में (५.३३.४९) श्रीकृष्ण ने कहा है—

'अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः। विदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर' ॥

भागवत में भी कहा है *'क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतपापो जगद्गुरौ'* *(१०.१२.४०)*। *'ते भविता जनेषु साम्यं मया सत्कृतिरप्यलप्स्थाः'* *(शिवपु. विद्ये. ७.३१)*, *'रुद्रं नारायणात्मकम्'* *(कूर्मपु. उत्तर. ५.१८)* आदि पुराणों का यही अभिप्राय है। अत एव आचार्य शंकर ने महदेव, देवी, विष्णु, गंगा आदि सभी के स्तोत्र रचे हैं। इसलिये नामादिविशेष में आग्रह नहीं। यहाँ आदि का वर्णन भर्तृहरि के इस वचन के आधार पर समझा जा सकता है —

'महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।

न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्तु मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे' ॥

'साम्बम्' के विषय में रत्नत्रयपरीक्षा के अप्पयदीक्षितवचन का अनुसन्धान करना चाहिये *'साहित्यं सा भवानी भजति नियमतः शंकरोपासनासु'* *(६)* ॥८३॥

साम्ब सदाशिव की भक्ति के लिये प्रेरित करते हैं —

शिव तव परिचर्यासन्निधानाय गौर्या भव मम गुणधुर्यां बुद्धिकन्यां प्रदास्ये।
सकलभुवनबन्धो सच्चिदानन्दसिन्धो सदय हृदयगेहे सर्वदा संवस त्वम् ॥८४॥

शिव = हे शिव !, भव = हे जगदधिष्ठान !, सकलभुवनबन्धो = हे समस्त त्रिभुवन के हितैषी !, सच्चिदानन्दसिन्धो = हे सत्-ज्ञान-आनन्दरूप समुद्र !, सदय = हे दयालु !, गौर्या = भगवती गौरी के साथ, तव = आपकी, परिचर्यासन्निधानाय = सेवा करते हुए साथ रहने के लिये, मम = (मैं) अपनी, गुणधुर्याम् = सद्गुणपरिपूर्ण, बुद्धिकन्याम् = बुद्धिरूप कन्या, प्रदास्ये = दूँगा, (मम = मेरे), हृदयगेहे = हृदयरूप घर में, सर्वदा = हमेशा के लिये, त्वम् = आप, संवस = बस जाइये।

बुद्धिकन्या आपकी और माता पार्वती की सेवा करेगी अतः आपको कोई दिक्कत न होगी यह भाव है। परमेश्वर की शक्ति ही गौरी है अतः शक्तिमान् की उपासना में विशेषणरूप शक्ति का होना अर्थसिद्ध है। निर्विशेष तो उपास्य नहीं। इसी अभिप्राय से प्रथम श्लोक में *'शिवाभ्याम्'* पद था। अथवा यहाँ *'गौर्या परिचर्यासन्निधानाय'* ऐसा सम्बन्ध है अर्थात् आपकी सेवा करने में गौरी की सहायता के लिये मैं अपनी बुद्धिकन्या दूँगा। गौरी भी हैं भगवान् की सेवा के लिये। शिव-शिवा का अनुत्तम प्रेम है जिस के कारण भगवती शिवपरिचर्या अवश्य करती हैं। इससे स्पष्ट किया कि प्रेम सेवा के रूप में प्रकट होना चाहिये। शक्ति शक्तिमान् की शेष होती है यह तो स्फुट है। वस्तुदृष्ट्या दोनों अर्थों में विशेष अंतर नहीं : प्रथम योजना में सीधे ही बुद्धि शिवपार्वती की सेवा करेगी; द्वितीय योजना में शिव की सेवा करती हुई पार्वती की सहायता करेगी अर्थात् पार्वती की सेवा करेगी और तद्द्वारा शिवसेवा करेगी। मुख्य सेव्य तों शम्भु हैं इसमें सन्देह नहीं ॥८४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सेवा के लिये बुद्धि को नियुक्त करने से अतिरिक्त मैं और कर भी क्या सकता हूँ? और कुछ आपके लायक करूँ इसके मेरे पास साधन कहाँ? यह बताते हुए बुद्धिदान का माहात्म्य सूचित करते हैं—

जलधिमथनदक्षो नैव पातालभेदी
न च वनमृगयायां नैव लुब्धः प्रवीणः।
अशनकुसुमभूषावस्त्रमुख्यां सपर्यां
कथय कथमहं ते कल्पयानीन्दुमौले ॥८५॥

इन्दुमौले = हे चन्द्रशेखर!, न = न, एव = तो (मैं), जलधिमथनदक्षः = समुद्र मथने में कुशल हूँ, च = और, न = न, पातालभेदी = पाताल का भेदन कर सकता हूँ। न = न, एव = ही, वनमृगयायाम् = जंगली शिकार करने में, प्रवीणः = कुशल, लुब्धः = शिकारी (या व्याधा) हूँ। कथय = बताइये, अहम् = मैं, ते = आपकी, सपर्याम् = पूजा, कथम् = कैसे, कल्पयानि = करूँ (जिसमें), अशनकुसुमभूषावस्त्रमुख्याम् = नैवेद्य, फूलों के अलंकार और वस्त्र प्रधान समर्प्य हैं?

नैवैद्य तो जहर चाहिये क्योंकि वह भगवान् का आहार है और उसके लिये समुद्रमंथन की सामर्थ्य चाहिये। महादेव को सर्पमय पुष्पालंकार चाहिये जिसके लिये पातालभेदन कर साँप लाने आवश्यक हैं। वस्त्र के रूप में व्याघ्र या गज का चमड़ा चाहिये जो शिकार-कुशल हुए विना लाया नहीं जा सकता। अतः भगवान् के लायक द्रव्य इकट्ठे करने की योग्यता न होने से बाह्य पूजा कैसे की जाये? तात्पर्य है कि बाह्यपूजा के लिये चाहे जितना प्रयास करें, वैसी सामग्री नहीं जुटायी जा सकती जैसी भगवान् के लिये चाहिये, अतः अपनी बुद्धि ही भगवान् को अर्पित कर देनी चाहिये, यही सर्वोत्तम है। यह अर्पित हो गयी तो द्रव्य की न्यूनता की पूर्ति हो जायेगी। पूर्व में (२७) भी मन को ही भगवदर्पण के योग्य कहा था ॥८५॥

कथंचित् पूजन-सामग्री इकट्ठी हो भी गयी तो भगवान् पर उसे अर्पित कैसे किया जाये: सिर पर जलादि चढ़ाया जाता है और पैरों पर पाद्यादि। भगवान् के सिर और पैर दोनों ही जानने असंभव हैं। अतः भी बुद्धिसमर्पण ही श्रेष्ठ है यह बताते हैं—

पूजाद्रव्यसमृद्धयो विरचिताः पूजां कथं कुर्महे
पक्षित्वं न च वा किटित्वमपि न प्राप्तं मया दुर्लभम्।
जाने मस्तकमङ्घ्रिपल्लवमुमाजाने न तेऽहं विभो
न ज्ञातं हि पितामहेन हरिणा तत्त्वेन तद्रूपिणा ॥८६॥

उमाजाने = हे उमापति!, विभो = हे विभु! (व्यापक!), पूजाद्रव्यसमृद्धयः = पूजामें विनियोग वाला सामान बहुतायत से, विरचिताः = इकट्ठा हो गया (तो भी), पूजाम् = पूजा, कथम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

= कैसे, कुर्महे = करें ?, न = न, दुर्लभम् = दुर्लभ, पक्षित्वम् = पक्षिरूपता, च = और, न = न, वा = ही, किटित्वम् = वराहरूपता, अपि = भी, मया = मेरे द्वारा, प्राप्तम् = पायी गयी है । अहम् = मैं, ते = आपके, मस्तकम् = मस्तक को (व), अंघ्रिपल्लवम् = कोमल चरणों को, न = नहीं, जाने = जानता । तद्रूपिणा = पक्षी व वराहरूप धारण करने वाले, पितामहेन = ब्रह्मा द्वारा (एवम्), हरिणा = विष्णु द्वारा, हि = भी (मस्तक व चरण), तत्त्वेन = वस्तुतः, न = नहीं, ज्ञातम् = जाने गये थे ।

प्रथमतः तो पक्षिरूपतादि मुझे प्राप्त नहीं । यदि हो तो भी मैं आपके मस्तक या चरण पा नहीं सकूंगा क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु भी उन्हें नहीं पा सके थे । '*विभो*' सम्बोधन व्यापकताद्योतन से सप्रयोजन है । न तो शिव की कारणता समझ आती है और न उनका कार्य । शुद्धतत्त्व कारण क्योंकर होगा ? कार्य तो है ही अनिर्वचनीय । अतः इस माथापच्ची को छोड़ कर भगवान् को बुद्धि समर्पित कर आनन्द पाना चाहिये, यही तात्पर्य ॥८६ ॥

मनःसमर्पण का फल बताने के लिये अन्य फल असंभव होने से अन्य वस्तुओं का समर्पण भी निष्प्रयोजन बताते हैं —

अशनं गरलं फणी कलापो वसनं चर्म च वाहनं महोक्षः ।
मम दास्यसि किं किमस्ति शंभो तव पादाम्बुजभक्तिमेव देहि ॥८७ ॥

शम्भो = हे समस्त जगत् की कल्याणभूमि !, गरलम् = जहर (आपका), अशनम् = भोजन है, फणी = साँप, कलापः = गहना है, चर्म = चमड़ा, वसनम् = कपड़ा है, च = और, महोक्षः = बूढ़ा साँड, वाहनम् = वाहन है । मम = मुझे (आप), किम् = क्या, दास्यसि = देंगे ?, अस्ति = (आपके पास) है (ही), किम् = क्या ? तव = अपने, पादाम्बुजभक्तिम् = चरण कमल की भक्ति, एव = ही, देहि = दीजिये ।

तत्तद् द्रव्यों के समर्पण से तत्तत् फल मिलते हैं यह प्रसिद्ध है किंतु महादेव के पास देनेको तो कुछ दीखता नहीं । अतः द्रव्यों को अर्पित करने का प्रयास छोड़ मन ही अर्पित करें जिससे उनके चरण कमल की भक्तिरूप फल मिले । यद्यपि पहले (२७) मन समर्पित करते समय नाना समृद्धियाँ भगवान् के पास दीख रही थीं, तथापि मनोऽर्पणसे ही पता चला कि वे हमें प्राप्ताव्य नहीं, प्राप्ताव्य तो शिवभक्ति है, अतः यहाँ उन समृद्धियों की याद ही नहीं दिलायी जिससे भगवान् को यह मौका न मिले कि हमें उन्हीं में से कोई समृद्धि देकर टरका दें । बुद्धिकन्यादान से भक्ति ही चाहनी चाहियें, और किसी ऐहिक या आमुष्मिक फल की कामना करना विशुद्ध मूर्खता है यह तात्पर्य है ।

अज्ञान जहर है, भेद-बुद्धि फणी है, अनात्मधर्मों का तादात्म्याध्यास चर्म है और संसार ही महोक्ष है । इनमें कुछ भी ग्राह्य नहीं, केवल शिव भक्ति ही ग्राह्य है । भक्तिपद स्वरूपपरक है । गरल आदि तो भगवत्स्वरूप नहीं । वे हमें अपना स्वरूप ही दें, यह अभिप्राय है ॥८७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाह्य पूजा के लिये द्रव्य नहीं, मस्तक व चरणों का ज्ञान नहीं, प्रयोजन नहीं, यह बताकर अब कहते हैं कि मुझमें योग्यता भी नहीं —

यदा कृताम्भोनिधिसेतुबन्धनः करस्थलाधःकृतपर्वताधिपः ।
भवानि ते लंघितपद्मसम्भवस्तदा शिवार्चास्तवभावनक्षमः ॥८८ ॥

शिव = हे शिव !, यदा = जब, कृताम्भोनिधिसेतुबन्धनः = समुद्र पर पुल बाँधना कर चुकूँगा, करस्थलाधःकृतपर्वताधिपः = हथेली से पर्वतराज विन्ध्य को नीचा कर चुकूँगा, लंघितपद्मसंभवः = ब्रह्मा जी की अपेक्षा अतिशय पा चुकूँगा, तदा = तब, ते = आपकी, अर्चास्तवभावनक्षमः = पूजा, स्तुति व ध्यान करने में समर्थ, भवानि = होऊँगा ।

रामचन्द्र जी ने समुद्र पर पुल बाँध था । इस सामर्थ्यातिशय वाले होने से वे रामेश्वर में शिवपूजा कर पाये । अगस्त्य महर्षि ने विन्ध्याचल हथेली के इशारे से नीचा कर दिया था : विन्ध्याचल ऊँचा बढ़ता जा रहा था । सूर्यादि की गति में बाधा न आये इसलिये उसे रोकना ज़रूरी था । अतः उसके गुरु अगस्त्य से उपाय करने को कहा गया । उन्होंने विन्ध्य से कहा कि वह लेट जाये जिससे उन्हें पार करने में कठिनाई न हो और तब तक लेटा रहे जब तक वे लौट न आवें । विंध्य मान गया । अगस्त्य उसे लाँघ कर दक्षिण चले गये और फिर कभी लौट कर आये ही नहीं । यह कथा वामनपुराण में (देवी माहात्म्य, अध्याय १८) वर्णित है । क्योंकि वे इतने समर्थ हैं इसीलिये अगस्त्य भगवान् के मस्तक की पूजा कर सकते हैं *'वसिष्ठकुम्भोद्भवगौतमार्यमुनीन्द्रदेवार्चितशेखराय' (शिवपंचाक्षर ४)* ; कुम्भोद्भव अगस्त्य का ही नामान्तर है । ब्रह्मा जी की अपेक्षा महाविष्णु ने सत्यवदन में अतिशय पाया अत एव शिवाराधन में सक्षम हुए यह स्कन्दपुराण, शिवपुराण (विद्ये. ७.३३) आदि में बहुशः वर्णित है—

'इति देवः पुरा प्रीतः सत्येन हरये परम् ददौ स्वसाम्यमत्यर्थं देवसंघे च पश्यति' । ।

एवं च शिवपूजा का अधिकार इतने योग्य व्यक्तियों को मिलता है अतः हम पूजा के अधिकार की आशा छोड़ चेतःसमर्पण करें इसी में कल्याण है ।

सेतु बहाव रोकता है । हम भी जब अपनी इन्द्रियादि के बहाव को रोक पायें, अन्तर्मुख होवें, तब शिवाराधना कर सकेंगे । मदवश बढ़ने वाला हठी होने से मन ही पर्वताधिप है । उसे जब आसानी से इष्ट के चरणों में झुका सकेंगे, तब शिवाराधना होगी । पद्मसम्भव रजोनिर्वर्त्य कर्म के सूचक हैं । उनका लंघन है कामत्यागपूर्वक कर्म करना । ऐसा कर्म कर चुकने पर ही शिवाराधन की सामर्थ्य होगी । यह भी अर्थ यहाँ विवक्षित समझना चाहिये ॥८८ ॥

बाह्य उपचारों के विषय में यह वैचित्र्य भी देखा गया है कि सामान्यतः शिवद्रोह प्रतीत होने वाले व्यवहारों से भी भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं । अतः मनोभाव ही प्रधान है यह बताते हैं —

नतिभिर्नुतिभिस्त्वमीश पूजाविधिभिर्ध्यानसमाधिभिर्न तुष्टः ।
धनुषा मुसलेन चाश्मभिर्वा वद ते प्रीतिकरं तथा करोमि ॥८९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईश = हे ईश्वर !, नतिभिः = नमस्कारों से, नुतिभिः = स्तुतियों से, पूजाविधिभिः = नाना विधियों से की पूजाओं से, ध्यानसमाधिभिः = सगुण व निर्गुणरूप में चित्त एकाग्र करने से, त्वम् = आप, तुष्टः = प्रसन्न, न = नहीं हुए। धनुषा = धनुष से, मुसलेन = मूसल से, च = और, वा = या, अश्मभिः = पत्थरों से (क्या आपकी सेवा करूँ ?), वद = बताइये, (जैसे), ते = आपको, प्रीतिकरम् = अच्छा लगे, तथा = वैसे, करोमि = करूँ।

यदि नति आदि से भगवान् प्रसन्न हो गये होते तो अब तक दर्शन दे दिया होता। नहीं दिया, इससे स्पष्ट है कि वे प्रसन्न हुए नहीं। अतः उपायान्तर से सेवा करनी चाहिये। अर्जुन ने धनुष से भगवान् से लड़ाई लड़ी थी और भगवान् उस पर प्रसन्न हो गये थे (शिवपु. शतरुद्र. ४१)। गणेश जी ने परिघ अर्थात् मूसल से महादेव के हाथ के पिनक को गिरा दिया था '*तमप्यपातयद्भूमौ परिघेण गणेश्वरः*' (*शिवपु. रुद्रसं. कुमार. १६.२१*)। उन पर भी भगवान् की कृपा रही और वे गणाध्यक्ष बने। तमिळ के पेरियापुराण में शाक्यनायनार की कथा है : जैनराज्य में शाक्यनायनार रहते थे। अपनी बहन अक्का की प्रेरणा से उन्होंने नियमतः शिवपूजा का निश्चय किया किंतु शासन नास्तिक होने से यदि वे प्रत्यक्ष ही पूजा करते तो दण्डित होना पड़ता, अतः वे भगवान् पर नियम से पत्थर फेंकते थे लेकिन इस भावना से कि वे फूल चढ़ा रहे हैं। क्योंकि बाहर से यह न प्रतीत हुआ कि वे शिवपूजा कर रहे हैं इसलीये राज्यकोप नहीं हुआ। किंतु भावग्राही महेश्वर ने पत्थरों को फूल ही माना और उन पर प्रसन्न हो गये। अतः बाह्य उपचार की अपेक्षा मनोभाव प्रधान है यह तात्पर्य है। अर्जुन भी मनसे शिवानुचर था। गणेश भी शिवाभिन्न-शिवानुचर थे। शिवा प्रीति के लिये ही वे शिव से युद्धरत थे। इसी से नीलकण्ठदीक्षित ने कहा है —

'अर्चामीति धिया यदेव कुसुमं क्षिप्त्वा जनो मुच्यते
विध्यामीति धिया तदेव विकिरन् भस्मीकृतो मन्मथः।
इत्याभ्यन्तरवृत्तिमात्ररसिको बाह्यानपेक्षश्च यः
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नापि नाम्नायते' ॥ *शिवोत्कर्ष. २* ॥

फूल ही भक्त चढ़ाता है और मोक्षरूप फल पाता है। फूल ही कामदेव ने फेंके थे और जला दिया गया। क्यों ? भक्त इस भाव से फूल चढ़ाता है कि मैं अर्चना कर रहा हूँ। स्मर ने इस भाव से फेंके कि मैं इन्हें कामना से बींध दूँगा। इस भावभेद की पहचान शंभु को है। वे मनःप्रेम समझते हैं, बाह्य उपचार का अधिक विचार नहीं करते। यदि भावना निकृष्ट है तो द्रव्य चाहे जितना उत्कृष्ट हो, भगवान् उसे निकृष्ट ही मानते हैं। भावना उदात्त है तो चाहे जैसा द्रव्य अत्युत्तम मानते हैं। कण्णप्पा का प्रसंग आ ही चुका (६३) है। अतः भावगाम्भीर्य के लिये हमें प्रयत्नशील होना चाहिये यह प्रकरणार्थ है। '*तथा करोमि*' से पुनः प्रकट किया कि भक्ति में अभिव्यक्ति अंश—क्रिया अंश—भी है। धनुषादि में तात्पर्य नहीं, '*ते प्रीतिकरम्*' में तात्पर्य है। जिस किसी भी तरह से, चाहे वह तरह लोकदृष्ट्या जैसी भी हो, भगवान् की प्रसन्नता के लिये आचरण करना उचित है। भगवान् ने श्रुति-स्मृति में वे सब कार्य बताये हैं जिन्हें हम करें तो वे प्रसन्न होते हैं। अथवा गुरु से शिवप्रीतिजनक कार्य पता लग सकते हैं। सांसारिक लाभ-हानि की परवाह न कर उन धर्मों का अनुष्ठान करें तो पुरुषार्थ के भागी हम बन सकते हैं ॥८९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि शिवप्रीतिकर सब कर्म भक्ति हैं अतः शिवचरित्र का गान, प्रचार आदि गीतोक्त पराभक्ति का भी स्मार्तप्रक्रिया में स्थान है यह कहते हैं —

वचसा चरितं वदामि शम्भोरहमुद्योगविधासु तेऽप्रसक्तः ।
मनसाऽऽकृतिमीश्वरस्य सेवे शिरसा चैव सदाशिवं नमामि ॥९० ॥

अहम् = मैं, **ते** = आपके, **उद्योगविधासु** = ध्यान में सोद्योग लगने में, **अप्रसक्तः** = अक्षम हूँ (अतः), **वचसा** = वाणी से, **शम्भोः** = शम्भुके, **चरितम्** = लीलाचरित्र को, **वदामि** = गाता हूँ । **मनसा** = मन से, **ईश्वरस्य** = भगवान् के, **आकृतिम्** = रूप का, **सेवे** = चिन्तन करता हूँ, **च** = और, **शिरसा** = सिर से, **सदाशिवम्** = श्रीसदाशिव को, **एव** = ही, **नमामि** = नमस्कार करता हूँ ।

श्रीकृष्ण ने गीता में (१८.६८-६९) कहा है

'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः । भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि' ॥

भगवत्स्वरूप का प्रकथन पराभक्ति है और इसे करने वाला भगवान् का परमप्रिय है । प्रकथन करते हुए भावना यह होनी चाहिये कि मैं इस प्रकार परमेश्वर की सेवा कर रहा हूँ *'भगवतः परमगुरोरच्युतस्य शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वा' (भाष्य)* । अन्यथा ख्याति, लाभ आदि को दृष्टि में रख किया प्रकथन भी भक्ति नहीं होगा । प्रबुद्ध व्यक्तियों का भजन-प्रकार भी यही है कि भगवान् के बारे में कथोपकथन करें —

'.... बुधा भावसमन्विताः ॥मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च' ॥१०.८-९ ॥

यह बोधन व कथन ग्रन्थादिरूप भी समझना चाहिये । जैसे पुष्पमाला बनाने में कुशल व्यक्ति सुन्दर पुष्पमाला बनाकर अर्पित कर भगवान् को प्रसन्न करता है ऐसे वचनकुसुमों को ग्रथित कर समर्पित करने वाला भी भगवान् का प्रीतिभाजन ही बनता है । अत एव *'उपासनैव क्रियते'* यह उदयनाचार्य की उक्ति सार्थक है । चरित सविशेष व निर्विशेष दोनों समझने चाहिये । शिवोपनिषत् में (७.१३८) भी कहा है—

'ये श्रावयन्ति सततं शिवधर्मं शिवार्थिनाम् । ते रुद्रास्ते मुनीन्द्राश्च ते नमस्याः स्वभक्तितः' ॥

कठोपनिषत् का भी वचन है—

'य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते' ॥१.३.१७ ॥

भगवान् की स्तुतियाँ धन्य हैं क्योंकि वे पापपंक से छुड़ाती हैं, निर्मल पुण्य से सम्पन्न करती हैं और गंगा की तरह त्रिविध ताप का शमन करती हैं—

'याः पंकिलेन कलिलेन वियोजयन्ति नित्योज्ज्वलेन कुशलेन च योजयन्ति ।

ता धूर्जटेरमरनिर्झरणीतरंगभंगाभिरामगतयः स्तुतयो जयन्ति' ॥स्तुतिकुसु. ८.२ ॥

छत्तीसवे स्तोत्र में तो इकतालीस श्लोकों द्वारा जगद्धर भट्ट ने शिवचरित्र गायकों की धन्यता बतायी है ।

'मनसा कृतिम्' ऐसा भी पदच्छेद है । ईश्वर की कृति वेद है, इसमें *'शास्त्रयोनित्वात्'* (१.१.३) सूत्र प्रमाण है । गीता आदि भी ईश्वरकृतियाँ समझनी चाहिये । उन ईश्वरकृतियों का मन से विचार कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही वचन से चरितकथन करना चाहिये। अप्रामाणिक पुस्तकों के आधार पर भगवान् का वर्णन करना अनुचित है। '*शिरसा*' अर्थात् बुद्धि से सदा शिवविषयक ही निश्चय रखना चाहिये। श्रौतमत की सिद्धान्तकोटिता में कभी सन्देह नहीं रखना चाहिये। अद्वैत ही श्रुतिसम्मत मत है, भेदाभेद, भेद आदि सब श्रुति-विरुद्ध हैं— '*एकत्ववादी त्वं वेदार्थपरत्वात्, बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्याः*' (*तै.भा. २.८*) आदि भाष्य इसमें प्रमाण है। वेदविरोधि कपिलादि मत की भ्रान्तता में भी कोई सन्देह नहीं '*तेषां मूलाभावे वेदविरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः*' (*तै. भा. ३.१०*),

'*तस्माद् भ्रान्तिरतोऽन्या हि बन्धमोक्षादिकल्पनाः।*

सांख्यकाणादबौद्धानां मीमांसाहतकल्पनाः' ॥*उप. सा. १६.६४* ॥

आदि स्पष्ट वचन भगवान् शंकराचार्य के हैं। अतः किसी की यशोगाथा से अभिभूत होकर उसके मत में श्रद्धा रखना अविवेकपूर्ण ही है। इस प्रकार बुद्धि, मन और वाणी से भगवत्स्वरूप का निश्चय, चिन्तन और प्रतिपादन यहाँ परा भक्ति के रूप में विधित्सित है ॥९० ॥

उक्त शिवाभेद समझे बिना बुद्धिप्रदान आदि संभव नहीं। यदि ईश्वर सचमुच भिन्न है तो हमारे मन में उसका अधिक से अधिक द्वितीय स्थान सुरक्षित रह सकता है। प्रथम स्थान तो हमारा अपना निश्चित है। भाषाकवियों ने इस परम प्रेम रूप गली को अति संकरा बताया है, इसमें दो नहीं समा सकते हैं; या परमात्मा ही रहे, या मैं ही रहूँ। प्रेम तो अनेकों से सम्भव हैं पर परम प्रेम एक ही से, यह भाव है। इसलिये इस अभेद को समझकर भक्ति करनी चाहिये यह कहते हैं—

आद्याऽविद्या हृद्गता निर्गताऽसीद्विद्या हृद्या हृद्गता त्वत्प्रसादात्।
सेवे नित्यं श्रीकरं त्वत्पदाब्जं भावे मुक्तेर्भाजनं राजमौले ॥९१ ॥

राजमौले = हे राजश्रेष्ठ, **हृद्गता** = बुद्धि में होने वाली, **आद्या** = प्राथमिक, **अविद्या** = भेद-बुद्धि रूप अविद्या, **निर्गता** = निकल गयी, **आसीत्** = थी। **हृद्या** = जिसका बुद्धि में रहना योग्य है वह, **विद्या** = अभेदरूप वास्तविकता की विद्या, **त्वत्प्रसादात्** = आपकी कृपा से, **हृद्गता** = बुद्धि में आ गयी। **मुक्तेः** = मुक्ति के, **भाजनम्** = खजाने, **श्रीकरम्** = कल्याण करने वाले, **त्वत्पदाब्जम्** = आपके चरण कमल का, **भावे** = हृदय में, **नित्यं** = सदा, **सेवे** = भजन करता हूँ।

अनादि अविद्यावशात् आदिविकार भेदनिश्चयरूप अहंकार होता है। पहले श्रवणादि से उसे हटाना चाहिये। मैं शिव हूँ ऐसा साक्षात्कार यहाँ विवक्षित नहीं किंतु यह विश्वास विवक्षित है कि वास्तविकता यही है कि मैं शिव हूँ। इस विश्वास से ही भक्ति संभव है। सामान्य लौकिक प्रेम में भी '*यूयं वयं वयं यूयम्*' ऐसा अभेद प्रसिद्ध है। अतः परप्रेम वास्तविक अभेद के आधार पर ही हो सकता है। लोक में भी जिससे भेदभाव हो उससे प्रेम है ऐसा नहीं माना जाता। परमात्मा से भी भेदभाव रखने वाले उनसे प्रेम नही रख सकते। वे डरते ही रह सकते हैं '*द्वितीयाद्वै भयं भवति*' (*बृ. १.४.२*), पशु की तरह अपने मालिक की सेवा करते रह सकते हैं '*अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्यो हमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेव स देवानाम्*' (*बृ. १.४.१०*)। अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'..... अद्वैत एव श्रुतिशिखरगिरामागमानां च निष्ठा
साकं सर्वैः पुराणैः श्रुतिनिकरमहाभारतादिप्रबन्धैः ।
तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतां भान्ति विश्रान्तिमन्ति' (शिवार्कमणिदीपिका मंगल)

—यह निश्चय कर *'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना'* इस अवधूतगीता के वचन का अनुसरण कर परमात्मभक्ति करना श्रेयस्कर है। यह निश्चय ही हृद्या विद्या है। यह भी शिवकृपा से ही प्राप्य है। इस निश्चय पूर्वक हृदय में बुद्धिसाक्षिरूप से शिव का चिन्तन करना चाहिये: *'यो वेद निहितं गुहायाम्'* (तै. ३.२.१), *'हृत्पुण्डरीकं . . . विचिन्त्य मध्ये . . . . शिवं . . . ध्यात्वा . . . . गच्छति . . . तमसःपरस्तात्'* (कै. १.६, ७), *'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः'* (महाना. ११.१३), *'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्'* (छां. ८.१)।

अथवा अविद्या से अशुचि में शुचिदृष्टि आदि योगशास्त्र प्रसिद्ध मिथ्याज्ञान समझना चाहिये जिसे जगद्धर पण्डित ने (स्तु. ३५.६) यों संग्रथित किया है

'अनित्ये नित्याशामशुचिनि शुचित्वव्यसनिता-मनात्मन्यात्मास्थामथ महति दुःखे सुखमतिम् ।
चतुर्धा दुर्भेद्यामविरतमविद्यां परिणतां हताशेषस्वाभामभिदधति मूलं भवतरोः' ॥

(*हता अशेषा स्वस्य= आत्मनः आभा प्रकाशो यया सा ताम् ।*) इस अविद्या के रहते संसारप्रावण्य ही संभव है शिवप्रावण्य नहीं।

अथवा जीवन्मुक्त अपनी स्थिति बता रहा है कि मूलाविद्या निवृत्त हो गयी, ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित हो गयी और मैं विज्ञानशब्दित निदिध्यासन से परमानन्द में हूँ। अविद्या का हृद्गतत्व बताया होने से प्रथम व्याख्यान रुचिकर है ॥९१ ॥

उपर्युक्त विद्या से वह योग्यता आती है जिससे हमारा उद्धार हो सके यह, तथा उस योग्यता को बताते हैं—

दूरीकृतानि दुरितानि दुरक्षराणि दौर्भाग्यदुःखदुरहंकृतिदुर्वचांसि ।
सारं त्वदीय चरितं नितरां पिबन्तं गौरीश मामिह समुद्धर सत्कटाक्षैः ॥९२ ॥

गौरीश= हे गौरीपति ! **दुरक्षराणि**= कठिनता से समाप्त होने वाले, **दुरितानि**= पाप (तथा), **दौर्भाग्यदुःखदुरहंकृतिदुर्वचांसि**= दुर्भाग्य से होने वाले दुःख, गलत अहंकार व दुर्वचन, **दूरीकृतानि**= दूर कर दिये गये हैं। **त्वदीयचरितम्**= आपकी कथा को, **सारम्**= जो कि सारभूत है, **नितराम्**= एकाग्रतापूर्वक, **पिबन्तम्**= सुनते-समझते हुए, **माम्**= मुझे, **सत्कटाक्षैः**= सद्रूप मोक्षदायक कृपा कटाक्षों द्वारा, **इह**= इस संसार में रहते हुए ही, **समुद्धर**= बचा लीजिये।

भक्त को परलोक से सन्तोष नहीं, यहीं पराभेदसाक्षात्कार चाहता है। पाप आदि की निवृति होने से वह अपेक्षित शुद्ध है जिससे साक्षात्कार हो सकता है। पाप न करना और उसके संस्कार न होना, यह पापनिवृत्तिका अर्थ है। संस्कार न होने का तात्पर्य है कि किसी अवस्था में उत्सर्गतः, स्वभावतः, पाप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना मन न चाहे। पापक्रिया से रुकना तो कथंचित् संभव है, संस्कारनिवृत्ति ही वस्तुतः दुरक्षर है। असन्तोष से ही दुःख होता है अतः असन्तोष ही दौर्भाग्य है। सन्तोष के अभ्यास से दुःख निवृत्त होने पर ही मन शांत होकर शिवतत्त्व ग्रहण कर सकता है, अन्यथा नहीं। अनावश्यक जिम्मेदारियां ओढ़ने से चित्त व्याकुल व व्यस्त रहता है, फलतः शिवचिन्तन में नैरन्तर्य नहीं होता। जरूरी से अधिक व्यापार अपने सिर नहीं बाँधे तो भजन के लिये पर्याप्त समय मिलता है। भेद प्रतिपादक वचन ही दुर्वचन हैं। उन्हें छोड़ना इष्ट है। '*अन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः*'(मुं. २.२.५), '*नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्*'(बृ. ४.४.२१) आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। पुष्पित वाणी की निन्दा भगवद्गीता में (२.४२-४४) भी सुनी जाती है। इस प्रकार पाप, असन्तोष और भेदविचार — ये तीनों निवृत्त कर लेने चाहिये। किन्तु इतने मात्र से कृतार्थता नहीं। इसके बाद समाहितचित्त से ऊहापोह पूर्वक चतुर्थ अद्वैत शिव की कथा का श्रवण करना चाहिये। फिर भी मोक्ष तो भगवत्कृपा से ही होता है '*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्*' (मुं. ३.२.३)। भगवत्कृपा से मोक्ष का तात्पर्य है भगवत्कृपा से वैसा दृढ ज्ञान होना जिससे मोक्ष होता है। अतः श्रवणादि करते हुए शिवाराधन तथा शिवरूप गुरु की आराधना करनी चाहिये। साक्षात्कार के बहुत पूर्व शिवाभेद की श्रद्धा से ही दुरितादि निवृत्त हों यह स्वाभाविक है। विष्णुपुराण में (३.७.२३) कहा है —

'स्फटिकगिरिशिलाऽमलः क्व विष्णु र्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः।
नहि तुहिनमयूखरश्मिपुंजे भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः' ॥

तुहिनमयुख चंद्र को कहा है। अभेद साक्षात्कार तो सर्वदोष निवारक है इसमें क्या कहना? दुर्वासा महर्षि ने परशम्भुमहिम्नस्तोत्र (१२४) में कहा है—

'जातिर्लज्जा निजकुलमदः सर्वसंशित्वराधिर्देहाऽहन्ता स्वकृतदुरितद्वन्द्वपाशोऽभिमानः।
सर्वे ह्येते मम विनिहतास्त्वन्महावाक्यसूर्यज्योतिःपुञ्जैः किमपरमहं देव भद्रं समीहे' ॥९२॥

चित्त शुद्ध होने पर स्वभावतः शिवप्रावण्य होता है अतः सदा परमेश्वर का भजन होता रहे यही प्रार्थना है—

सोमकलाधरमौलौ कोमलघनकन्धरे महामहसि।
स्वामिनि गिरिजानाथे मामकहृदयं निरन्तरं रमताम् ॥९३॥

सोमकलाधरमौलौ = चन्द्रमा की कला को सिर पर धारण करने वाले, **कोमलघनकन्धरे** = सुन्दर तथा मेघवर्ण के कण्ठ वाले, **महामहसि** = महातेजोरूप, **गिरिजानाथे** = गिरिजापति, **स्वामिनि** = त्रैलोक्य अधीश्वर में, **मामकहृदयम्** = मेरा मन, **निरन्तरम्** = सदा, **रमताम्** = रमण करे।

चन्द्रमा को शिरःस्थान देना भगवान् की करुणाशक्ति का प्रमाण है। वराहपुराण में उदधिमन्थन से निकले सोम को भगवान् ने सिर पर धरा, ऐसा वर्णित है '*रुद्रस्तमेव सकलं दधार शिरसा तदा*'। '*वक्राकारः*' इत्यादि शिवपादादिकेशान्तवर्णनस्तोत्र में (३४) आचार्य ने भी इस कथा का वर्णन किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हम शिवसेवा करें यही शिवमुकुटस्थ सोम का सन्देश है । मेघवर्ण वाला कण्ठ भी भगवान् की कृपा का अद्भुत प्रदर्शन है । नीलिमा से ही कर्पूरगौर गात्र में कण्ठ की शोभा है । कृपा से ही शक्तिशाली सुशोभित होते हैं । तेजोरूप से भगवान् ब्रह्मा-विष्णु के संमुख प्रकट हुए थे । इस चरित्र द्वारा भी यही बताया कि भगवान् की भक्ति से उनका साक्षात्कार होता है, भक्ति के बिना चाहे जितना प्रयास करें विफल ही रहता है । *'तवैश्वर्यं यत्नाद्... तव किमनुवृत्ति र्न फलति'* (१०) इस महिम्नश्लोक में यह स्पष्ट है । गिरिजापति बन कर भगवान् ने पुनः घोषित किया कि भक्ति असंभव को भी संभव कर देती है । हिमवान् की इच्छा व कामदेव के प्रयास से भगवान् उमा को ग्रहण करने को तैयार न हुए किन्तु अपर्णा के तप से मानो उनके दास हो गये — *'अद्यप्रभृत्यवनितांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः' (कुमारसंभव ५.८६)*। ऐसे महादेव का सदा मन में चिन्तन चले यही कल्याण का उपाय है ॥९३ ॥

केवल चिन्तन ही नहीं, समस्त व्यवहार शिवपरक होना ही जीवन की सार्थकता है—

सा रसना ते नयने तावेव करौ स एव कृतकृत्यः ।
या ये यौ यो भर्गं वदतीक्षेते सदार्चतः स्मरति ॥९४ ॥

सा = वही, रसना = जीभ है, या = जो, भर्गम् = भगवान् शंकर के विषय में, वदति = बोलती है । ते = वे ही, नयने = आँखें है, ये = जो (उन्हें), ईक्षेते = देखती हैं । तौ = वे, एव = ही, करौ = हाथ हैं, यौ = जो (उनकी) सदा = हमेशा, अर्चतः = पूजा करते हैं । सः = उसने, एव = ही, कृतकृत्यः = अपना सारा कर्तव्य पूरा कर लिया है, यः = जो (उन्हें), स्मरति = याद रखता है ।

यदि शिवानुयायी नहीं तो नयनादि की नयनादिरूपता ही क्या ? सौरपुराण में (४८.१०-१३) यही प्रसंग वर्णित है—

'मनस्तद्विद्धि कर्मज्ञं शंकरे यत्प्रवर्तते । सा वाणी वाक्पतिं शम्भुं या स्तौत्यच्युतमच्युता ॥
श्रवणौ तौ श्रुतौ याभ्यां श्रूयन्ते तत्कथाः शुभाः । पादौ तौ सफलौ पुंसां शिवायतनगामिनौ ॥
ते च नेत्रे शुभायालं याभ्यां सन्दृश्यते शिवः । सफलौ तौ स्मृतौ विप्रास्तत्पूजाकारिणौ करौ ॥
तदेव सफलं कर्म शिवमुद्दिश्य यत्कृतम् । सेयं लक्ष्मीः परा पुंसां सेयं भक्तिः समीहिता' ॥

मानसपूजास्तोत्र में *'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्'* से यही कहा है । सायास किये जाने पर यह शिवमयता साधना है, जब स्वाभाविक हो जाये तब सिद्धावस्था । *'यत्करोषि' (गी. ९.२७)* आदि स्मृति की सार्थकता इसी दृष्टि से समझनी चाहिये । शिवगीता में भी कहा है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥ यत्तपस्यति राम त्वं तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
ततः परतरा नास्ति भक्तिर्मयि रघूत्तम' ॥१४.४४-४५ ॥

मुकुन्दमाला में भी कहा है

'जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वंद्व समर्चयाच्युतकथाः श्रोत्रद्वयं त्वं शृणु ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरे र्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं

जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्धन्नमाधोक्षजम्' ॥२१ ॥

भगवत्सम्बन्ध से ही नेत्रादि की सार्थकता का बोध साधकावस्था में अत्यावश्यक है । इससे नैरन्तर्य में सहारा मिलता है, खुद ब खुद अधिकाधिक समय भगवत्परक लगाया जा सकता है । प्रारंभ में पुण्यभाव से भी यह किया जा सकता है । कितु शनैः शनैः पुण्य की अपेक्षा प्रेम को प्रमुखता देनी चाहिये । क्योंकि व्यवहार भी यावज्जीवन करना पड़ता ही है इसलिये समस्त काल के लिये यदि रसना आदि का सार्थक ही प्रयोग चाहें तो सब व्यवहार आत्मार्पण बुद्धि से करें, इससे ही वह सदातन पूजा हो सकती है । सौन्दर्यलहरी में (२७) यह बताया है—

'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना गतिःप्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याऽऽहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशःसुखमखिलमात्मार्पणदृशा सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्' ॥

अतएव उद्धवगीता में (२४.२१) कहा है कि फलाभिलाषा की गन्ध से भी रहित जो कोई भी, भयादिकृत छोटे से छोटा काम भी, अन्य प्रयोजन छोड़ परमात्मा के प्रयोजन से किया जाये, तो वही धर्म हो जाता है—

'यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् । तदायासो निरर्थः स्याद्भयादिरिव सत्तम' ॥

इस प्रकार यहां साधनोपाय व मुक्त का आचार बता दिया ॥९४ ॥

उक्त सर्वतोभावेन साधना के फलानुरूप भक्त में भगवान् की प्रतिष्ठा में कोई कठिनाई नहीं, यह बताते है—

अतिमृदुलौ मम चरणावतिकठिनं ते मनो भवानीश ।
इति विचिकित्सां सन्त्यज शिव कथमासीद्गिरौ तथा वेशः ॥९५ ॥

भवानीश = हे भवानीपति ! **शिव** = हे शिव ! **इति** = यह, **विचिकित्सां** = शंका, **सन्त्यज** = छोड़ दीजिये कि, **मम** = आपके, **चरणौ** = चरण, **अतिमृदुलौ** = अतिकोमल हैं (जबकि), **ते** = मेरा, **मनः** = मन, **अतिकठिनम्** = अत्यन्त कठोर है (अतः यहां आपका संचरण मुश्किल होगा, क्योंकि यदि आप कठोर स्थान पर चल नहीं सकते तो) **गिरौ** = कठिन पर्वतों पर, **तथा** = उस प्रकार निर्बाध, **वेशः** = गमनादि, **कथम्** = कैसे, **आसीत्** = हुआ ?

भगवान् पहले ही कठोर जगह पर चलना सीख चुके हैं (८०), अतः मेरे मन में उनके लिये संचरण कोई कठिन काम नहीं । साधक को यह भय लगता है कि परमात्मा क्या साधना करने वाला हो सकता है ? नहीं, नहीं, वह तो नित्य सिद्ध है । अतः मुझ साधक का वह स्वरूप हो यह कैसे ? इस भय को निकालते हैं— क्या सारा सांसारिक व्यवहार करने वाला महामहेश्वर नहीं हैं ? जब लोक के हर काम करने वाला वह है तो साधक ही वह क्यों नहीं ? बृहद्वार्तिक में (पृ. ४५०) कहा है—

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्' ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत: वह मेरा स्वरूप है— वह मैं ही हूँ— इस प्रामाणिक मान्यता को छोड़ने का कोई कारण नहीं। यह अभेदोपासनारूप श्रेष्ठ भक्ति कर्तव्य है।

ऐसे ही कदाचित् शंका होती है, कुछ विशिष्ट शुद्ध महात्माओं का स्वरूप शिव होगा, हम पापमग्नों का कैसे? इसका भी निराकरण ऐसे ही समझा जाये अत: भगवान् श्मशान में निवास करते हैं। सर्वथा निरपेक्ष— शुद्धि, अशुद्धि, पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण, चाण्डाल आदि भेदों के यत्किंचित् विचार के बिना— शिवस्वरूपता प्राणिमात्र की है, इसमें सन्देह नहीं। *'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गी. ९.२९)* *'सर्वभूताशयस्थित:' (गी. १०.२०)* *'अनुप्राविशत्' (तै. २.१)* आदि स्मृति व श्रुति इसमें प्रमाण हैं। भक्ति का साफल्य इसके साक्षात्कार से है, स्वरूपत: अवस्थानमात्र तो स्वाभाविक है। इस बुद्धिसाक्षिता व क्षेत्रज्ञतया शयन करने वाले स्वरूप को दोनों सम्बोधनों से कहा। परमात्मचरणों की मृदुलता यहं है कि वे असत्यसम्बन्ध सहन नहीं कर सकते किन्तु जब पहले अविद्यारूप गिरि का सम्बन्ध आनादिसिद्धतया स्वीकार कर लिया तब मन:सम्बन्ध से कैसे बचेंगे? जो अविद्यासम्बन्ध वाला है वही मन:सम्बन्ध वाला है इस प्रकार अभेद समझना चाहिये ॥९५॥

इस अभय-प्रतिष्ठा के लिये आध्यात्मिक तैयारी चाहिये, वह मुख्यत: मन की योग्यता है क्योंकि मनोवृत्तिरूप ज्ञान ही अविद्यानिवृत्ति का प्रयोजक बनता है। मस्त हाथी के रूपक से दो श्लोकों द्वारा उस योग्यता की प्रार्थना करते हैं। *'ददामि बुद्धियोगम्' (गी. १०.१०)* से स्वयं परमेश्वरने यह प्रतिज्ञा कर रखी है। पहले पदार्थज्ञान अर्थात् विवेक के लिये निवेदन करते हैं—

धैर्यांकुशेन निभृतं रभसादाकृष्य भक्तिशृंखलया।
पुरहर चरणालाने हृदयमदेभं बधान चिद्यन्त्रैः ॥९६॥

पुरहर= हे त्रिपुरविनाशक! **धैर्यांकुशेन** = धैर्यरूप अंकुश से, **निभृतम्**= दबोचे हुए **हृदयमदेभम्**= हृदयरूप मत्त हाथी को, **भक्तिशृंखलया**= भक्तिरूप साकल से, **रभसाद्**= जल्दी **आकृष्य**= खींचकर, **चिद्यन्त्रैः**= ज्ञानरूप बन्धनसाधनों से, **चरणालाने**= अपने चरणरूप खूँटे पर **बधान**= बाँध लीजिये।

यद्यपि मन बन्दर की तरह (२०) चंचल है तथापि यह हाथी सा सशक्त भी है। शिवकृपा के विना इसे नियंत्रित किया नहीं जा सकता। यहाँ उन्हीं से कहा है कि वे ही इसे नियंत्रण में लावें। क्योंकि भक्त शरणागत है इसलिये इसे जिस मस्त हाथी से परेशानी है उसे शरणदाता भगवान् ही तो वशीकृत करेंगे। पदार्थबोध के लिये धैर्य आवश्यक है। *'मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण' (कठ ६.१७)*— यह कठोपनिषत् के उपसंहार में दिया उपदेश है। शुद्धतत्वजिज्ञासा भक्ति समझनी चाहिये। चैतन्यरूपता का निर्धारण ही इसका निर्णायक साधन है। चेतन ही आत्मा है। चेतन कौन है?— इस पर चित्त एकाग्र हो, बँध जाये, तो आत्मा रूप खूँटा उसे निश्चय ही मिल जायेगा। इसमें पाँच कोशों का या तीन शरीरों का विचार उपाय है यह '*पुरहर*' से सूचित किया। '*चरणालाने*' से तत्पदार्थ का शोधन भी ध्वनित समझना चाहिये। क्योंकि तत्पदार्थ शास्त्रैकगम्य है इसलिये उसका शोधन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कष्टसाध्य नहीं। मुख्य प्रयास तो त्वमर्थशोधन में, अर्थत् 'मैं शिव हूँ', मे 'मैं' का क्या मतलव यह समझने में है ॥९६ ॥

पदार्थशोधन या शुद्ध पदार्थ का ज्ञान ही कल्याण का उपाय नहीं। उस शुद्ध त्वमर्थ का तदर्थ से अभेद समझना रूप वाक्यार्थज्ञान ही कल्याण का साक्षात् उपाय है। उस परमपद को मन समझे यह प्रार्थना करते हैं—

प्रचरत्यभितः प्रगल्भवृत्त्या मदवानेष मनःकरी गरीयान्।
परिगृह्य नयेन भक्तिरज्ज्वा परम स्थाणुपदं दृढं नयामुम् ॥९७ ॥

परम= हे परात्पर ! एषः= यह, मदवान्= मदमस्त (और), गरीयान्= शक्तिशाली, मनःकरी= मनरूप हाथी, प्रगल्भवृत्त्या= साहसी काम करते हुए, अभितः= हर दिशा में, प्रचरति= घूमता है। अमुम्= इसे, भक्तिरज्ज्वा= भक्तिरूप रस्सी से, परिगृह्य= अच्छी तरह बांधकर, नयेन= कुशलता से, स्थाणुपदम्= स्थिर शिव पद पर, दृढम्= पक्का, नय= पहुँचा दीजिये।

मनका शिवपद पर पहुँचना तदाकार वृत्ति बनाना ही है। अखण्डतत्त्व को मन से मसझ लें, यही मोक्षोपाय है। मद से यहां विवेकजनित तुष्टि समझनी चाहिये। सांसारिक मन ही काफी शक्तिवाला है, विवेक-समर्थ मन में यह और शक्ति हो जाती है कि वह विचारजालमें हमें फँसा लेता है। स्वयं समझ नहीं आता कि हम साक्षिता में स्थित हैं या मन की ही कोई सात्त्विक वृत्तिविशेष वाले हैं। अतः '*गरीयान्*' कहा। कभी ऐसा सात्त्विक निश्चय कराना व कभी भेदनिश्चय कराना ही प्रगल्भ वृत्ति से उसका अभितः प्रचार है। शुद्धतत्त्वजिज्ञासा को वस्तुतत्त्वजिज्ञासारूप भक्ति में परिणत कर उसके कारण निदिध्यासन पूर्वक मननयुक्त श्रवण करने से 'मैं शिव हूँ' ऐसा दृढ निश्चय हो जाता है। इस निश्चय और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं। यह समझ आये इसके लिये शिव ही कृपा करें यह भाव है ॥९७ ॥

इसी प्रयोजन से इस स्तोत्र व इसमें प्रतिपादित साधनों का विधान है यह ध्वनित करने के लिये कविता अर्थात् इस स्तोत्र को शिवार्पण करते हैं—

सर्वालंकारयुक्तां सरलपदयुतां साधुवृत्तां सुवर्णां
सद्भिः संस्तूयमानां सरसगुणयुतां लक्षितां लक्षणाढ्याम्।
उद्यद्भूषाविशेषामुपगतविनयां द्योतमानार्थरेखां
कल्याणीं देव गौरीप्रिय मम कविताकन्यकां त्वं गृहाण ॥९८ ॥

देव= हे महादेव ! गौरीप्रिय= हे गौरीपति ! सर्वालंकारयुक्ताम्= सब अलंकारों से युक्त (गहनों से लदी), सरलपदयुताम्= आसान शब्दोंवाली (सीधे कदमों वाली), साधुवृत्ताम्= उचित छन्दों में बँधी (सदाचारयुक्त), सुवर्णाम्= सुख से उच्चारण किये जा सकने वाले अक्षरों वाली (अच्छे रंग वाली), सद्भिः= सत्पुरुषों द्वारा, संस्तूयमानाम्= जिसकी भली प्रकार स्तुति की जाती है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सरसगुणयुताम्= भक्तिरस व माधुर्यादि गुणों से युक्त (प्रेम व सद्गुणों वाली), **लक्षिताम्**= जिसकी हर तरह परीक्षा कर ली गयी है, **लक्षणाढ्याम्**= अर्थश्रेष्ठता वाली (शुभ भाग्यसूचक लक्षणों वाली), **उद्यद्भूषाविशेषाम्**= सूक्तिरूप चमकते रत्न जिसे खासकर चमकाते हैं, (चमकते रत्नों से सजी), **उपगतविनयाम्**= विनीतभाव में निबद्ध (विनयशील), **द्योतमानार्थरेखाम्**= जिसके तात्पर्य की शिवभक्तिरूप दिशा स्पष्ट है (जिसकी हस्तरेखायें शुभ होने से सार्थक है), **कल्याणीम्**= कल्याण करने वाली (धर्मादि में सहायक), **मम**= मेरी, **कविताकन्यकाम्**= कवितारूप कन्या को, **त्वम्**= आप, **गृहाण**= ग्रहण कीजिये ।

गौरीप्रिय होने पर भी देव—क्रीडाप्रिय—होने से इस कन्या को भी ग्रहण करेंगे । अथवा गौरीप्रियसे कहा कि स्त्रियों से आपको प्रेम है । केवल गौरीसे प्रेम है यह अभिप्राय नहीं, अन्यथा इस कन्या को क्यों ग्रहण करेंगे ? श्लोकोक्त विशेषण कविता व कन्या दोनों पक्षों में संगत हैं । रूपकादि अनेक अलंकारों का इस स्तोत्र में प्रयोग है । अप्रसिद्ध शब्दों का प्रायः प्रयोग नहीं है । विविध छन्द निर्दुष्टतया रचे हैं । एक वर्ण भी इसमें व्यर्थ नहीं तथा कर्णकटु वर्णघटना नहीं है । माधुर्य आदि से ओज और प्रसाद समझने चाहिये । लक्षणा से और भी गंभीर अर्थ समझ आते हैं । यहां बताये सब गुण वस्तुतः इस स्तुति में हैं अतः यह प्रशंसावचनमात्र नहीं है । शिव इसे ग्रहण करें, इस योग्य यह है । इसके अनुसरण से हम भी शिव के योग्य हो सकते हैं ॥९८ ॥

भक्ति का प्रयोजन शिववेदन है इसे उपसंहार में बताते हैं—

इदं ते युक्तं वा परमशिव कारुण्यजलधे
गतौ तिर्यग्रूपं तव पदशिरोदर्शनधिया ।
हरिब्रह्माणौ तौ दिवि भुवि चरन्तौ श्रमयुतौ
कथं शम्भो स्वामिन् कथय मम वेद्योऽसि पुरतः ॥९९ ॥

परमशिव= हे परमशिव ! **शम्भो**= हे शम्भु ! **स्वामिन्**= हे परमेश्वर ! **कारुण्यजलधे**= हे करुणासागर ! **तौ**= वे (महातेजस्वी), **हरिब्रह्माणौ**= विष्णु व ब्रह्मा, **तव**= आपके, **पदशिरोदर्शनधिया**= चरण व सिर देखने के निश्चय से, **तिर्यग्रूपम्**= पशु-पक्षी रूपों को, **गतौ**= लिये हुए, **भुवि**= पृथ्वी की ओर (व), **दिवि**= आकाश में, **चरन्तौ**= चलते हुए, **श्रमयुतौ**= (केवल) थकान वाले हुए । **ते**= आपके लिये, **वा**= क्या, **इदम्**= यह, **युक्तम्**= ठीक है (कि इतने महत्वपूर्ण लोगों के इतने परिश्रम से भी आपका दर्शन न हो) ?, **मम**= मेरे, **पुरतः**= सामने, **कथम्**= कैसे, **वेद्यः**= दर्शनीय, **असि**= बनेंगे ? **कथय**= बताइये ।

हमारे प्रयास से शिवदर्शन नहीं होता । वे स्वयं ही दर्शन देते हैं, *'स्वयं तस्थे' (महिम्न. १०)*। किंतु हमें समझ आये इसलिये भक्ति श्रद्धा पूर्वक शिवानुवृत्ति चाहिये अन्यथा दर्शन प्राप्त होने पर भी हमें लाभ नहीं जैसे अग्नि, वायु व इन्द्र को यक्षरूप भगवान् के दर्शन से लाभ नहीं हो पाया । भक्तिराहित्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से शिवदर्शन न हुआ यह युक्त ही है, यह भी तात्पर्य है । पहचानने में भूल न हो जाये इसलिये *'कथम्'* पूछ लिया है । अथवा, जब हरि व ब्रह्मा को ही सामने दर्शन नहीं हुआ तो मुझे भी *'पुरतः'* सामने—विषयतया—दर्शन क्योंकर होगा ? अपने से अभेदेन ही दर्शन होना निश्चित है, यह अर्थ है । यद्यपि कहीं (उद्धवगी. १५.३१) कहा है कि भक्त के लिये ज्ञान श्रेयस्कर नहीं:

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' ॥

तथापि वह प्रारंभिक भक्त या भेदभक्तियुक्त के विषय में समझना चाहिये । सर्वथापि स्मार्त प्रक्रिया में तो भक्त के लिये ज्ञान ही श्रेय है इसमें संदेह नहीं ।

अथवा यहाँ सिद्ध का अनुभव वाक्य समझना चाहिये— जो आप हरि व ब्रह्मा को वेद्य न हुए वे आप मेरे सामने वेद्य कैसे हो गये ? इस उपसंहार से स्पष्ट किया कि यहाँ प्रतिपादित भक्ति-अनुष्ठान शिवज्ञान के उपाय के रूप में ही है ॥९९ ॥

शिव-माहात्म्य बताते हुए स्तोत्र समाप्त करते हैं—

स्तोत्रेणालमहं प्रवच्मि न मृषा देवा विरिञ्चादयः
स्तुत्यानां गणनाप्रसंगसमये त्वामग्रगण्यं विदुः ।
माहात्म्याग्रविचारणप्रकरणे धानातुषस्तोमवद्
धूतास्त्वां विदुरुत्तमोत्तमफलं शंभो भवत्सेवकाः ॥१०० ॥

शम्भो = हे शम्भु ! **स्तोत्रेण** = स्तुति करने से (मैं अब), **अलम्** = विरत होता हूँ । **भवत्सेवकाः** = आपके सेवक, **विरिञ्चादयः** = ब्रह्मा आदि, **देवाः** = देवता, (जो), **माहात्म्याग्रविचारणप्रकरणे** = महत्ता में श्रेष्ठता का विचार करने पर, **धानातुषस्तोमवद्** = धान पर स्थित भूसे के ढेर की तरह, **धूताः** = हटा दिये जाते हैं, (वे), **स्तुत्यानाम्** = स्तुतियोग्य व्यक्तियों की, **गणनाप्रसंगसमये** = गिनती करने के समय, **त्वाम्** = आपको, **अग्रगण्यम्** = प्रथम गिनने योग्य, **विदुः** = मानते हैं (तथा), **त्वाम्** = आपको ही, **उत्तमोत्तमफलम्** = सर्वोत्तम फलरूप, (**विदुः** = मानते हैं । यह), **अहम्** = मैं, **मृषा** = गलत, **न** = नहीं, **प्रवच्मि** = कह रहा हूँ ।

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि सर्वत्र परमेश्वर की श्रेष्ठता का मुक्तकण्ठ वर्णन सुलभ है । अन्य देवता उतना ही माहात्म्य रखते हैं जितना चावल की भूसी । चावल मिलने के पहले ही भूसी का माहात्म्य है । वे स्वयं यह समझते हैं । सनातन धर्म एक ही परमेश्वर स्वीकारता है । देवता जीवकोटि हैं । कर्म और उपासना के प्रकर्ष से वे जीव श्रेष्ठ व सशक्त है । पर हैं जीव ही । शिव ही सर्वोत्तम हैं तथा मोक्षरूप हैं । स्तुति करने से रुकना इसीलिये है कि कहीं परमेश्वर सुनते-सुनते परेशान न हो जायें । भट्ट जगद्धर कहते हैं— ईख की शक्कर भी लम्बे समय तक चबाने पर कड़वाहट देती है, दीर्घकाल तक आसक्ति पूर्वक भोगी श्रेष्ठ नायिका भी रसहीन लगने लगती है, गंगा में भी बहुत देर बार-बार डुबकी लगाने पर कष्ट मालूम पड़ता है, ऐसे ही मधुर वाणी भी अधिक लम्बी हो जाये तो उपेक्षित हो जाती है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'धत्ते पौण्ड्रकशर्करापि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता
वैरस्यं वरनायिकापि कुरुते सक्त्या भृशं सेविता ।
उद्वेगं गगनापगापि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जनाद्
विश्रद्धां मधुरापि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते' ॥११.१४२ ॥

माहात्म्य-आनन्त्य से भी स्तुतिविराम है : चाहे जितनी स्तुति करें कभी समाप्त नहीं हो सकती । क्योंकि इतने तक कहे स्तोत्र के अनुसरण से ही परमफल निःसन्दिग्ध है इसलिये भी स्तोत्र से विराम उचित है । शिवरूप उत्तमोतम फल भक्ति का परम-प्राप्य बता दिया ।

इस शिवानन्दलहरी नामक स्तोत्र का अर्थानुसन्धान पूर्वक नित्य पाठ तथा इसमें बताये ढंग से भक्ति करना जीवन्मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है यह निश्चित है ॥१०० ॥

यत्कृपालेशतोऽवापि सुधाविप्रुडहं भजे । सदा शिवानन्दमयं तं महेशाख्यसद्गुरुम् ॥
नित्यं यद्दर्शनाच्चेतश्चन्द्रमाःपुनरेधते । अर्बुदस्थं विश्वनाथं मुहुर्भक्त्या नमामि तम् ॥

॥ इत्योम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृतटीका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

शिवानन्दलहरीव्याख्या*

चित्रं वट तरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः ॥

अथ तत्र भवान् परमकारुणिकः श्रीशङ्कराचार्यः परमेश्वरप्रणतिमहिम्ना सकलार्थसिद्धिमधिगत्य स्वयं भवं तर्तुम्, अन्यांश्च तारयितुं परमेश्वरं स्तोतुमारभमाणः अविघ्नेन ग्रन्थपरिसमाप्तये शिवयोर्नमनरूपं मङ्गलमाचरति—कलाभ्यामिति । मे मम इयम् असौ नतिः प्रणामः शिवाभ्याम्, शिवा च शिवश्च शिवौ ताभ्याम्, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः पार्वतीपरमेश्वराभ्यां भवतु अस्तु । नमस्कार्यगुणान् प्रकटयितुमाह—कलाभ्यामित्यादि । कलाभ्यां श्रुतिप्रसिद्धसकलविद्यास्वरूपाभ्यां चूडालङ्कृतशशिकलाभ्यां[1] चूडाभ्यां शिखाभ्याम् अलंकृते मण्डिते शशिकले चन्द्रकले ययोस्ताभ्यां शशिकलातिशायिचूडाविशिष्टाभ्यामित्यर्थः । निजतपःफलाभ्यां निजे आत्मीये ये तपसी ये निराहारादि तदेकनिष्ठाद्युग्रवते तयोः फलाभ्यां फलभूताभ्यां परस्परतपःफलभूताभ्यामित्यर्थः । भक्तेषु स्वभक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां प्रकटिते प्रकाशिते फले धर्मादिफलदाने याभ्यां ताभ्यां परहस्तप्रकटितसर्वफलदानाभ्यामिति यावत् । अस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्याम् अस्तोकम् अनल्पं त्रिभुवनस्य त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, तस्य शिवं भद्रं याभ्यां ताभ्याम् अनल्पत्रिभुवनभद्रहेतुभ्यामित्यर्थः । हृदि मनसि पुनर्भवाभ्यां पौनः पुन्येन प्रतिध्यानं जायमानाभ्यां, यदा यदा ध्यायति तदा तदा नवनवोन्मेषणेनोत्पद्येते इति यावत् । 'सद्योजातं प्रपद्यामी'ति श्रुतेः ।

---

* व्याख्येयमज्ञातकर्तृकाऽप्रकाशितचरा पण्डितराजस्य श्रीमत एस्० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणो दृष्टिमार्गमाययौ । शास्त्रिभिरेवास्याः सटिप्पणं सम्पादनमकारि । 'सर्वालङ्कारयुक्ताम्' (श्लो० ९८) इत्युपसंहार उक्तेः स्तुतौ स्थिता अलङ्काराष्टिप्पणे विशेषतो दर्शिताः ।

१. चूडालङ्कृतशशिकलाभ्याम्—भूषणानां भूषणमित्यर्थः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्दस्फुरदनुभवाभ्याम्[1] आनन्देन साकं स्फुरन् अनुभवः स्वरूपबोधः ययोस्ताभ्याम् । एतैः फलाभ्यामित्यादि विशेषणैर्नमस्कार्यवस्तुनो वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते ।। १ ।।

एवं मङ्गलं निर्वर्त्य स्वचेतसि शिवानन्दस्थैर्यं प्रार्थयते–गलन्तीति । हे शंभो सुखकारण ! त्वच्चरितसरितः[2] तव चरितमेव भक्तपरिपालनादि चरित्रमेव सरित् वाहिनी, तस्याः सकाशात् गलन्ती स्रवन्ती, किल्बिषरजः किल्बिषं पापमेव रजो धूलिः तत् दलन्ती छिन्दन्ती, धीकुल्यासरणिषु धियः बुद्धय एव कुल्याः कृत्रिमसरितः तासां सरणिषु पदवीषु पतन्ती गच्छन्ती; संसारभ्रमणपरितापोपशमनं संसारे संसृत्यां भ्रमणेन भ्रान्त्या यः परितापः अतिदुःखं तस्योपशमनं शान्तिं दिशन्ती प्रयच्छन्ती, मच्चेतोह्रदभुवि मम चेतः चित्तमेव ह्रदः अगाधजलप्रदेशः तस्य भूः भूमिः तस्यां वसन्ती तिष्ठन्ती, शिवानन्दलहरी शिवाभ्यां श्रुतचरिताभ्यां जनितः य आनन्दः दुःखराहित्यरूपः तस्य लहरी प्रवाहः विजयतां सर्वोत्कर्षेण वर्ततताम् । सर्वाभ्यो लहरीभ्य उत्कर्षेण वर्ततामिति भावः ।। २ ।।[3]

शिवानन्दस्य शिवभजनमूलत्वात् तद्भजनमावश्यकमिति स्वयं भजते -- त्रयीवेद्यमिति । अहं त्रयीवेद्यं त्रय्या वेदत्रयेण वेद्यं ज्ञेयं, हृद्यं हृदयाभिव्यक्तं, त्रिपुरहरं स्थूलादिशरीरत्रयहरम्, आद्यम् आदौ भवं सृष्टेः पूर्वमपि स्थितमित्यर्थः । त्रिनयनं त्रिलोचनं जटाभारोदारं जटाजूटेन उदारं गंभीरं, चलदुरगहारम् उरसा गच्छन्तीत्युरगाः सर्पाः । चलन्तः स्पन्दमानाः उरगा एव हारो भूषणं यस्य तम् । मृगधरं धरतीति धरः, मृगस्य धरः मृगधरस्तम्, हरिणधरमित्यर्थः । महादेवं दीव्यतीति देवः, महांश्चासौ देवश्च महादेवस्तम् अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपमित्यर्थः । देवं दीव्यतेः प्रमोदार्थत्वाच्च आनन्दरूपम् । मयि

---

१. आनन्दस्फुरदनुभवाभ्याम्—अत्र परनिपातः । शिखरिणी छन्दः सप्तविंशति श्लोकपर्यन्तम् ।

२. भगवच्चरितं महाभारते शिवभक्तविजये पुराणे च द्रष्टव्यम् ।

३. सर्वत्र रूपकालङ्कारः । तल्लक्षणन्तु—'उपात्तबिम्बविशिष्टविषयधर्मिकाहार्यारोपनिश्चयविषयीभूतमुपमानाभेदताद्रूप्यान्यतरद्रूपक' मिति वैद्यनाथेन दर्शितम् । दीक्षितेन्द्रैरपि कुवलयानन्दे—'विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत् रूपकं तदि' त्युक्तम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मयि विषये सदयभावं भावनाविशिष्टमित्यर्थः। पशुपतिं ब्रह्मादिलोकानां पतिं पालकं पाशविमोचनमित्यर्थः। चिदालम्बं चितः स्वरूपज्ञानस्य आलम्बं साधनं साम्बम् उमासहितम्। अतिविडम्बं प्राप्तलोकानुकरणम्। शिवम् ईश्वरं हृदि मनसि भजे भावये धीप्रेरकत्वेन ध्यायामीत्यर्थः॥ ३॥[1]

सर्वदेवतापेक्षया शिवोत्कर्षमभिप्रेत्य तत्पादारविन्दभजनं तमेव याचते—सहस्रमिति। जगति भुवने क्षुद्रफलदाः तुच्छफलप्रदातारः स्वल्पफलदानादेव हेतोः सहस्रं सहस्रसंख्याकाः विबुधा देवताः वर्तन्ते सन्ति। अहं स्वप्ने वा, वाशब्दोऽप्यर्थकः, स्वप्नेऽपि किमुत जाग्रदवस्थायामिति भावः; तदनुसरणं तेषां भजनं तत्कृतफलं तैर्दत्तफलं च न मन्ये नाभ्युपगच्छामि। किन्तु निकटभाजां निकटं संनिधिं भजन्ते सेवन्ते इति निकटभाजः तेषां हरिब्रह्मादीनामपि हरिश्च ब्रह्मा च हरिब्रह्माणौ तावेवादी येषां ते, तेषामपीत्यर्थः! कर्तरि षष्ठी; असुलभं दुर्लभं हे शंभो! तव ते पदाम्भोजभजनं पादारविन्दसेवां चिरं बहुकालिकं याचे अभ्यर्थये॥ ४॥[2]

परोक्षकालान्तरभाविफलदातृदेवतानुसरणात् प्रत्यक्षाशुफलादातृराजाद्यनुसरणं वरमिति तेनैव फलं साध्यमित्यत आह—स्मृताविति। स्मृतौ मन्वादिस्मृतौ शास्त्रे तर्कव्याकरणादौ वैद्ये भिषक्छास्त्रे। शकुनकवितागानफणितौ शकुनं प्रयाणादिकाले काकगरुडजम्बुकादिसव्यापसव्यगमनविधिनिषेधशास्त्रम्; कविता कवेर्भावः कविता, छन्दोरूपेण गद्यपद्यरूपेण च यथोचितार्थाभिलापकशब्दगुम्फनम्; गानं संगीतम्; तेषां फणितिः सभायां वाचाऽऽविष्करणं, तस्याम्। पुराणे शैववैष्णवात्मकग्रन्थविशेषे। मन्त्रे मन्त्रशास्त्रे। वा इति विकल्पार्थे। स्तुतिनटनहास्येषु स्तुतिः स्तोत्रं, नटनं नाट्यम्, हास्यं परेषां हसनानुकूलव्यापारः, तेष्वहम् अचतुरः असमर्थः। (निपातनात् साधुः।) तस्मात् राज्ञां नृपतीनां मयि प्रीतिः प्रेमा कथं? केन प्रकारेण भवति स्यात्? तत्प्रीतिजन्यं फलं चानीप्सितम्। अतः हे पशुपते! हे सर्वज्ञ!

---

१. त्रयीवेद्यं हृद्यमित्येवं प्रकारेण प्रासभूयिष्ठत्वादत्र प्रासाभिधशब्दालङ्कारः।

२. अतिशयोक्त्यलङ्कारः विशेषोक्तिश्च। 'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानत' इत्यतिशयोक्तेः लक्षणम्। 'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारण' इति विशेषोक्तेः लक्षणम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे प्रथित ! श्रुतिप्रख्यापित ! हे विभो ! सर्वव्यापक ! पशुं पशुप्रायं कोऽहमित्यजानानं मां कृपया करुणया पालय रक्ष ॥ ५ ॥[1]

एवं संप्रार्थ्य दुरभ्यासबलेन सामान्यशास्त्रे धावमानां बुद्धिं निवार्य शिवभजनं कुर्वित्यनुनयति—घट इति । सुधीः हे शोभनबुद्धे ! घटो वा कलशो वा, मृत्पिण्डः मृद्विकारोऽपि, अणुः परमाणुरपि, धूमः स्पष्टार्थः । अग्निः वह्निः, अचलः पर्वतः, पटो वा वस्त्रं वा, तन्तुर्वा सूत्रं वा, एते न्यायशास्त्रव्यवह्रियमाणाः शब्दाः घोरशमनं घोरः कर्कशश्चासौ शमनो यमश्च, 'शमनो यमराड् यमः' इत्यमरः, तं परिहरति किं ? दूरीकरोति किं वेति सर्वत्र विकल्पार्थः । तर्कवचसा न्यायवाक्येन वृथा व्यर्थं कण्ठक्षोभं गलश्रमं त्वं वहसि प्राप्नोषि । शंभोः शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुः तस्य पदाम्भोजं अङ्घ्रिकमलं भज सेवस्व । तरसा झटिति परमसौख्यं मोक्षसाम्राज्यं व्रज लभस्व ॥ ६ ॥[2]

एवं बुद्धिमनुनीय मनआदीनां करणानां परमशिवकैङ्कर्यपरतां तत्कैङ्कर्याद् बहिरङ्गभूतग्रन्थावलोकनापह्नवेन प्रार्थयते—मनस्त इति । हे परमशिव ! ते तव पादाब्जे चरणाम्भोजे मनः चित्तं निवसतु । वचः वागिन्द्रियं स्तोत्रफणितौ स्तूयतेऽनेनेति स्तोत्रं स्तावकग्रन्थः तत्फणितौ तदुच्चारणे निवसतु चिरं तिष्ठतु । वागिन्द्रियं शिवस्तोत्राभिलाषि भवत्वित्यभिप्रायः । करः हस्तेन्द्रियम् अभ्यर्चायां त्वत्पूजाविधाने निवसतु । हस्तेन्द्रियं त्वदभ्यर्चनपरं भवत्वित्यभिप्रायः । चकारेण अनुक्तमपि शिवगुणगणलेखनं समुच्चीयते । श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियं कथाकर्णनविधौ चरित्रश्रवणविधाने निवसतु । श्रोत्रेन्द्रियं तव चरित्रश्रवणे व्याप्रियतामिति भावः । बुद्धिः निश्चयात्मकान्तःकरणवृत्तिः ध्याने त्वद्विषयकप्रत्ययावृत्तौ निवसतु । त्वामेव सदा ध्यायत्विति भावः । नयनयुगलं नेत्रेन्द्रिययुग्मम् । एकस्यापीन्द्रियस्य युगलत्वाभिधानं गोलकाभिप्रायेण । मूर्तिविभवे तनुशोभातिशये निवसतु । दिव्यमङ्गलविग्रहरूपं पश्यत्वित्यभिप्रायः । उक्तरीत्या षट्सु करणेषु व्याप्रियमाणेषु अतः परम् इत उत्तरकालं कैर्वा करणैः । वा शब्दः प्रश्ने । परग्रन्थान् उक्तार्थाद् बहिरङ्गभूतान् ग्रन्थान् जाने ज्ञास्यामि ? वर्तमान-

१. हेत्वलङ्कारः । 'हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यत' इति तल्लक्षणम् ।
२. आक्षेपालङ्कारः । 'आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामीप्य' इति भविष्यदर्थे लट् । उक्तकरणजातं सदा त्वदेकशरणं भवत्विति घट्टार्थः ।[1]

मद्भजनेनैव सर्वाभीप्सितसिद्धौ केचन मदन्यं कुतो भजन्तीत्यत आह—यथा बुद्धिरिति । हे महादेव ! अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूप ! हे पशुपते ! सकलभूताधिपते ! जडज्जनः त्वत्स्वरूपमजानानो जनः ईशं सर्वनियन्तारं त्वां भवन्तं मनसि हृदये न मत्वा मनसा अनवबुध्येत्यर्थः । वेदेनानवबुध्येति चार्थः । भवदन्यं त्वदन्यं तथा तत्प्रकारया देव इति भ्रान्त्या भजति सेवते । अधिष्ठानाज्ञानस्य अध्यासे हेतुत्वादिति भावः । किम्प्रकारा भ्रान्तिरित्यत आह—शुक्तौ मौक्तिकोत्पत्त्याधारभूते सामुद्रिकवस्तुविशेषे यथा यत्प्रकारा रजतमिति दुर्वर्णमिति बुद्धिः ज्ञानं भवति, काचाश्मनि रत्नाभारो मणिवत् प्रकाशमानक्षुद्रशिलायामित्यर्थः मणिरिति माणिक्यमिति बुद्धिः, पैष्टे पिष्टविकारे जले उदके क्षीरमिति दुग्धमिति बुद्धिः, मृगतृष्णासु मरुमरीचिकासु सलिलमिति जलमिति बुद्धिः यथा यत्प्रकारा तत्प्रकारया भ्रान्त्येत्यन्वयः ॥ ८ ॥[2]

येन केनाप्युपायेन भवत्प्रसादः संपादनीय इत्युक्तम् । तत्र सुलभ उपायः क इति; तत्राह—गभीर इति । गभीरे अगाधे कासारे सरसि विजने जनरहिते घोरविपिने घोरे व्याघ्रादिभिर्भयङ्करे विपिने अरण्ये विशाले विस्तीर्णे शैले पर्वते च जडमतिः असुलभोपायज्ञः कुसुमार्थं कुसुमं पुष्पम् अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा भवति तथा भ्रमति सञ्चरति । हे उमानाथ ! पार्वतीपते ! एवं संबोधनं सशक्तिकं महादेवमुपासनीयं द्योतयति । एकम् एकत्वसंख्याकम् चेतस्सरसिजं चेत एव सरसिजं पद्मं; वन्यपुष्पवद् बहुत्वाश्रयसंपादनक्लेशो न भवतीति भावः । भवते तुभ्यं समर्प्य प्रदाय जन इह एकत्र अवस्थातुं निश्चलो भवितुं न जानाति न बुध्यति । किमहो किमेतदाश्चर्यंकरमित्यर्थः । दुःखकराल्पफलकबहुदेशभ्रमणापेक्षया सुखकरबहुफलकैकदेशावस्थानाज्ञानमाश्चर्यं जनयतीति भावः ॥ ९ ॥[3]

प्रारब्धवशेन तरतमभावापन्नानि बहूनि जन्मानि भविष्यन्ति,

---

१. आक्षेपालङ्कारः । 'आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्' ।

२. भ्रमालङ्कारः । 'स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदङ्कालङ्कृतित्रयम्' ।

३. भ्रमालङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र चेतस्समर्पणं कथं घटिष्यत इत्याशङ्क्य तत्रापि तत्पादाब्जस्मरणं प्रार्थयते – नरत्वमिति । विहगत्वादिजननं प्रारब्धकर्म भवतु अस्तु, तदायत्तं नरत्वादिकमपि ममास्तु । नरत्वं नरभावः । देवत्वादीनां पदानामप्येवमेवार्थः । हृदयं मम चित्तम् इह नरादिभावेषु सदा सर्वदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरीविहारासक्तं त्वत्पादाब्जस्मरणमेव परमानन्दः, जन्यजनकयोरभेदविवक्षया स्मरणस्य आनन्दत्वरूपणम्, तस्य लहरी आनन्दस्फूर्तिसान्तत्यं, तत्र विहारः प्रवेशः, तस्मिन् आसक्तं भवतु । एवं चेत् केन[1] वपुषा किम् ? किमपि न विहन्येतेति भावः ॥ १० ॥[2]

उच्चनीचजन्मभिः स्वेष्टाविघातमुक्त्वा हृदयस्य शिवाधीनतामन्तरेण तत्तदाश्रमधर्मं प्राप्यापि फलाभावमाह – बटुर्वेति । बटुर्वा ब्रह्मचारी वा, गेही वा गृहस्थो वा, यतिरपि संन्यासी वा, जटी वा जटाधारी वा, तदितरः तदन्यः, यः कश्चिद्वा नरः मर्त्यः भवतु भूयात् । तेन कारणेन हे भव ! शंभो ! किं कीदृशं कार्यं भवति ? न किमपीत्यर्थः । हे पशुपते ! सकलभूताधिनायक ! यदीयं यत्सम्बन्धि हृत्पद्मं हृदयकमलं भवदधीनं यदि त्वत्स्वाधीनं चेत् तदीयः तत्सम्बन्धी त्वं भवान् भवसि असि । हे शंभो ! त्वं भवभारं च संसारभारं च वहसि धारयसि । ब्रह्मचर्याद्याश्रमचतुष्टयेऽपि जनः त्वय्यर्पितमनाश्चेत् तत्फलं लभते, नो चेन्नेत्यर्थः । यः पुमान् चित्तं त्वदधीनं करोति तस्य चतुर्वर्गफलं करतलामलकमिति च । भवभारमित्यनेन जननमरणप्रवाहराहित्यं भवतीति च मन्तव्यम् ॥ ११ ॥[3]

एवमाश्रमचतुष्टयशिवभक्त्योः शिवभक्तेरेव वैशिष्ट्यमुक्त्वा शैलगुहाग्निजलवासादिभ्यः शिवपदारविन्दार्पितनिर्मलान्तःकरणस्य वैशिष्ट्यं सम्पादयन्नाह – गुहायामिति । गुहायां गिरिगह्वरे गेहे वा सद्मनि वा बहिः बाह्यप्रदेशेऽपि वने वा अरण्ये वा अद्रिशिखरे पर्वताग्रे वा जले वा सलिले वा वह्नौ वा पञ्चाग्निमध्ये वा पुरुषः वसतु वासं करोतु । वसतेः निवासात् किं फलम् किं प्रयोजनम् ? त्वम् इदं वद भण । अन्तःकरणमपि यस्य पुरुषस्य अन्तरिन्द्रियं पूर्वोक्तस्थानवासयुक्तं तदपि

---

१. किङ्क्नेन वपुषेति टीकाकृत्पपाठ । तेनेति प्रचलितः पाठः ।
२. आक्षेपालङ्कारः । लक्षणं सप्तमश्लोकटिप्पण उक्तम् ।
३. प्रतिषेधालङ्कारः । 'प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे शंभो ! सदा सर्वदा तव ते पदे चरणारविन्द एव स्थितं चेत्, असौ अयमेव योगः शिवयोगः । स च पदारविन्दे निहितान्तःकरणो जनः परमयोगी निर्विकल्पसमाधिमान् स च स एव पुरुषः सुखी परमानन्दभाग्, भवतीति शेषः ।। १२ ।।[1]

अनीदृशस्य मम ज्ञानप्रदानेन रक्षणविधानं तव युक्तमित्याह— असार इति । हे पशुपते ! आत्मानभिज्ञपरिपालक ! अजड[2] ! हे जडदेहादिभिन्न ! अत एव परम[3] ! परात् परत्वेन प्रसिद्ध ! असारे न विद्यते सारः सुखविशेषः यस्मिन् तथोक्ते निजभजनदूरे निजस्य स्वरूपस्य परमेश्वरस्य भजनम् अनुसन्धानं दूरं विप्रकृष्टं यस्मिन् तस्मिन् संसारे सम्यक् सरति विषयाननुधावत्यस्मिन्निति संसारः, तस्मिन् भ्रमन्तं सारवत्ताभ्रमेण चरन्तं । सारवत्ताभ्रमः कुत इति ? अत्राह—अन्धं आत्मानात्मविवेकशून्यं मां कृपया करुणया धिया विविक्तस्वरूपज्ञानप्रदानेन पातुं रक्षितुमुचितम् युक्तम् । अज्ञातनिजस्वरूपं मां प्राप्तात्मलाभं कुर्विति भावः । संसारतप्ताः शरण्येन मया तापान्निवर्तनीयाः त्वदन्ये सन्ति बहवः, तन्निवर्तकाश्च मदन्येऽपि सन्ति, मन्निर्बन्धेन तव किं फलमिति चेत् ? तत्राह—दीनः संसारतापतप्तः मत् मत्तः अन्यः तापात् निवर्तनीयः तव कोऽस्ति मादृशः ? न कोऽपि स्यादिति भावः । कृपणरक्षातिनिपुणः कृपणः आत्मानभिज्ञः, तद्रक्षायां तदज्ञाननिवर्तने, अतिनिपुणः अतीव समर्थः मे मम शरण्यः रक्षणार्हः अत्र जगति अस्मिन् लोके त्वदन्यः त्वत्तो भिन्नः को वा अस्ति ।। १३ ।।[4]

श्रुत्याद्युल्लङ्घनरूपेण मदाज्ञाभङ्गेनापराधिनं त्वां कथं रक्षेयमहमिति चेत् ? बन्धुत्वात् ममापराधः सोढव्य इति वदन् बन्धुतामुपपादयति—प्रभुस्त्वमिति । हे पशुपते ! त्वं प्रभुः दीनभावनिवर्तनसमर्थः । अत एव दीनानां परमबन्धुः खलु आपन्निवर्तकः । खल्विति प्रसिद्धौ । तेषां दीनानामहं प्रमुख्यः अग्रगण्यः । एवं च सति अनयोरावयोरपि

---

१. प्रतिषेधालङ्कारः ।

२. निजभजनदूर इति, अजड इति छेदो धियेति च पदान्तरम् । जडधिया भ्रमन्तमित्यन्ये योजयन्ति ।

३. परमकृपयेत्येकं पदमित्येके ।

४. अन्योन्यालङ्कारः, प्रतिषेधालङ्काराश्च । 'अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परमि' त्यन्योन्यालङ्कारस्य लक्षणम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्धुत्वमस्तीति किमुत वक्तव्यं किम् ? हे शिव ! आनन्दरूप ! सकलाः सर्वे मदपराधाः आज्ञोल्लङ्घनरूपाणि त्वदनिष्टाचरणानि आगांसि क्षन्तव्याः क्षमितुं योग्याः । मदवनं मद्रक्षणं प्रयत्नाद् उद्यमरूपमनोव्यापारात् कर्तव्यं कर्तुं योग्यम् । इयम् इयमेव बन्धुसरणिः बन्धूनां पन्थाः । अतो बन्धुत्वाद्धेतोः मदपराधं सर्वं सोढ्वा त्वयाऽहं संरक्षणीय इति भावः ॥ १४ ॥[1]

स्वस्मिन् ईश्वरस्योपेक्षामाशङ्क्य तत्परिहारायाह—उपेक्षेति । हे पशुपते ! मदवने तव उपेक्षा भवतीति प्रत्येमि । एवं नो चेत्, दुराशाभूयिष्ठां दुष्टेषु विषयेषु आशा इच्छा तया भूयिष्ठां तत्प्रचुरां तदभिव्यञ्जिकामिति भावः । अत एव भवध्यानविमुखां भवतो ध्यानं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहः तस्मात् विमुखां तदनभिव्यञ्जिकामिति भावः । विधिलिपिं ब्रह्मणो लिपिं रेखारूपां ललाटलिपिं किमिति न हरसि न मार्जयसि ? तत्राहम् अशक्त इति यदि ब्रूते भवान् । तत् प्रसिद्धम् । ननखलु नखेन लवितुं छेत्तुं योग्यं नखलु तन्नभवतीति ननखलु । तत्त्वं कुत इत्यत्राह—सुवृत्तम् सुतरां वृत्तिमत् दृढस्थितिमत् वैधात्रं विधातृसम्बन्धि शिरः पञ्चममुत्तमाङ्गं निर्यत्नं यथा भवति तथा त्वया करनखमुखेनैव हस्तनखाग्रेणैव कथं वा लुलितम् केन प्रकारेण छिन्नम् ? सर्वकर्तव्यसमर्थत्वात् मदुपेक्षा परिहरणीयेति भावः । वा शब्दः प्रश्ने ॥ १५ ॥[2]

भक्तस्य दीनसंरक्षणतत्परशिवकटाक्षविषयतायाः संपादनेन परमोपकारके दैन्यलेखनेऽधिकृतस्य ब्रह्मणः पञ्चमशिरश्छेदनप्रसक्ततदन्यशिरश्चतुष्कच्छेदनाकरणं तत्प्रयुक्तदीर्घायुष्ट्वं च प्रार्थयते पद्यस्य पूर्वदलेन । दैन्यलेखनस्य विचारहेतुत्वाद् भक्तोपकारकत्वं कथमिति चेत् ? तद्विशदीकरोति उत्तरदलेन । विरिञ्चिरिति । विशद[3] ! निर्मलस्वरूप ! शिव ! आनन्दरूप ! विरिञ्चिः विधाता दीर्घायुः दीर्घजीवी भवतु अस्तु । भवता त्वया तत्परशिरश्चतुष्कं तस्मात् पञ्चमशिरसः अन्यत् शिरसां चतुष्कं संरक्ष्यम् । पञ्चमशिरोवत् मा स्म छिद्येतेति भावः । प्रार्थना कुत इति चेत् ? तत्राह—सः ब्रह्मा भुवि भूलोके दैन्यं दीनभावं

१. अन्योन्यालङ्कारः ।

२. अर्थापत्त्यलङ्कारः । 'कैमुत्येनार्थसंशुद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते' ।

३. विशदकृपयेति समस्तमन्ये पठन्ति ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिखितवान् खलु ललाटे लिलेख, खल्विति प्रसिद्धौ। यस्मादेवं तस्मात् प्रार्थना युक्तेति भावः। तद्दैन्यलेखनस्य तन्मङ्गलप्रार्थनाहेतुत्वं कथमिति चेत्? यस्मात् दीनावनपरः ते तव कटाक्षव्यापारः मां पाति रक्षति, तस्माद् मङ्गलप्रार्थनाहेतुत्वमिति भावः। एवं च सति दैन्यलेखनस्य विचारहेतुत्वमपि नास्ति लाभहेतुत्वादिति भावः। त्वमिव कटाक्षव्यापारोऽपि स्वयमपि मां पातीति हेतोः दैन्यलेखनप्रयुक्तविचारो न कर्तव्य इति भावः ॥ १६ ॥[1]

त्वत्कटाक्षपतनम् आभिमुख्येन विना त्वत्पादारविन्ददर्शनं न घटिष्यते। तच्च दर्शनं विघटकसामग्रीबलाद् दुर्लभमित्याह—फलाद्वेति। हे विभो! सर्वव्यापक! ममेत्यध्याहारः, पुण्यानां सुकृतानां फलाद्वा, करुणया वा कृपया वा, हे स्वामिन्! सकलदेवतासार्वभौम! मयि (मयि) विषये त्वयि भवति प्रसन्ने सत्यपि प्रत्यक्षतः प्रसादाभिमुखे (सत्यपि) भवदमलपादाब्जयुगलं भवतः तव अमलं स्वच्छं शुद्धसत्त्वरूपमित्यर्थः, पादाब्जे पादौ अब्जे इवेत्युपमितसमासः, तयोर्युगलं द्वन्द्वं त्वच्चरणारविन्दयुगलमित्यर्थः। अहं कथं पश्येयम् ईक्षेय। नमस्संभ्रमजुषां नमसि नमस्कारे संभ्रमः ऐदम्पर्यम् तज्जुषां तद्भाजां निलिम्पानां सुराणां श्रेणिः परम्परा निजकनकमाणिक्यमुकुटैः माणिक्यै रत्नविशेषैः खचितानीति मध्यमपदलोपः। कनकानि कनकविकाराणि च तानि माणिक्यखचितानि च निजानि स्वकीयानि च तानि कनकमाणिक्यमुकुटानि च निजकनकमाणिक्यमुकुटानि तैर्मां स्थगयति अन्तर्हितं करोति। हे देव! मम तव साक्षात्कारः कथं भवेत्? ॥ १७ ॥[2]

एकस्मात् मोक्षप्रदात् परमशिवाद् आत्मनो हृदयग्रन्थिनिवृत्ति प्रार्थयते—त्वमिति। हे शिव! सुखस्वरूप! लोकानां जनानां परमफलदः परममभ्यर्हितं त्रिभ्यः पुरुषार्थेभ्योऽभ्यर्हितं फलं सालोक्यादिकमित्यर्थः, तद् ददातीति परमफलदः। तादृशस्त्वमेकः। कुत इति चेत्? हरिमुखाः हरिर्विष्णुः स एव मुखं प्रथमो येषां ते देवाः त्वन्मूलां त्वमेव मूलं कारणं यस्यास्तां दिव्यपदवीम् अमानुषं वैकुण्ठादिस्थानं वहन्तः प्राप्नुवन्तः सन्तः तत्र तृप्तिमऽलब्ध्वा ततोऽभ्यर्हितफलप्राप्तये त्वामेव भजन्ते

१. कटाक्षव्यापारे चेतनत्वारोपात् रूपकमतिशयोक्तिश्च।

२. सम्भवालङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सेवन्ते यतः तस्मादित्यर्थः। तव ते दाक्षिण्यं भक्ताभिप्रायानुवर्तनं कियत् किम्प्रमाणम् प्रमाणशून्यमित्यर्थः। मदाशा च मदपेक्षा च कियती कियत्प्रमाणा, एतावदिति न जान इति भावः। मत्[1] अहङ्काराद् रक्षां मामिकां रक्षां करुणापूरितदृशा करुणापूर्णकटाक्षवीक्षणेन कदा वहसि करोषि ? धातूनामनेकार्थत्वात् वहधातोः कृ़नर्थत्वं वक्तुमुचितम्। मम हृदयग्रंथि भिन्धीति मुख्यभावः ॥ १८ ॥[2]

पूर्वस्मिन् पद्ये हरिमुखास्त्वां भजन्त इत्युक्तम्। भजमानाय ब्रह्मणे ईश्वरेण क्रियमाणामुपकृतिं पर्यालोच्य भजमानस्यात्मनोऽपि कृतार्थतां निश्चिनोति—दुराशेति। दुराशाभूयिष्ठे निन्दितविषयेषु आशा प्रवृत्तिः तया भूयिष्ठे बहुले अतएव दुरधिपगृहद्वारघटके दुरधिपाः दुष्टनृपतयः तेषां गृहाणि मन्दिराणि तेषां द्वाराणि प्रवेशमार्गाः तानि घटयतीति तद्घटकस्तस्मिन्, दुरन्ते दुर्लभः अन्तः अवसानं यस्य तस्मिन्, दुरितनिलये दुरितानां पापानां निलये स्थाने। अत एव दुःखजनके दुःखोत्पादके संसारे जननमरणादिप्रवाहरूपे मदायासं मम परिभ्रमणरूपं प्रयत्नं त्वद्विधेयस्य (कस्य) ब्रह्मणः उपकृतये तच्चिकीर्षितानुल्लङ्घनरूपायै न व्यपनयसि किम् ? नापनुदसि किम् ? किमिति प्रश्ने। वद ब्रूहि। इत्थमेवेति चेत् ? तत्राह—इयं भक्तोपकरणविषयिका प्रीतिः प्रेमा हे शिव ! तव सिद्धा चेद् भजमाना वयमपि कृतार्थाः लब्धप्रयोजना भविष्यामः; खल्विति निश्चये। एकत्वे विवक्षितेऽपि 'अस्मदो द्वयोश्चे'ति विकल्पेन बहुवचनम्, अहं कृतार्थो भविष्यामीति पर्यवसितोऽर्थः।१९।[3]

एवमीश्वरप्रीतिं सम्प्रार्थ्य मम चित्तचाञ्चल्यं परिहृत्य मच्चित्तं त्वदधीनं कुरुष्वेति प्रार्थयन्नाह—सदा मोहेति। भो विभो ! सर्वव्यापक ! भोः शिव सुखस्वरूप ! भोः कपालिन् ! कपालमस्यास्तीति तस्य संबुद्धिः, भो भिक्षो ! हृदयकपिः सदा सर्वदा मोहाटव्यां मोहः संसारेच्छा स एव अटवी अरण्यं तस्यां चरति संचरति। युवतीनां नारीणां कुचगिरौ स्तनपर्वते, कुचावेव गिरिः तस्मिन्। नटति नृत्यं करोति। आशाशाखासु आशाः पुत्रदारादिषु प्रेमाणः ता एव शाखा विटपाः तास्वटति

१. मद्रक्षां मम रक्षामित्यर्थं ब्रुवतेऽन्ये।
२. सम्भवालङ्कारः।
३. अर्थापत्त्यलङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संचरति । झटिति शीघ्रम् अभितः इतस्ततः । स्वैरं स्वेच्छाविहारं यथा तथा अटति संचरति । अत्यन्तचपलं अतिचपलं मे मम हृदयकपिं हृदयमेव कपिः इति रूपकं, तं चित्तवानरं दृढं नितान्तं भक्त्याख्यया रज्ज्वा बद्ध्वा चेष्टारहितं कृत्वा भवदधीनं त्वद्वशं कुरु कुरुष्व । संसार-निमग्नं मच्चित्तं सदा त्वदेकशरणं कुर्विति तात्पर्यम् ॥ २० ॥[1]

एवं चित्तस्य तदधीनतां संप्रार्थ्य इदानीं चेतसः कुटीत्वनिरूपणेन तत्र तद्वासं प्रार्थयते—धृतिस्तंभेति । हे स्मरारे ! कामशत्रो ! अनेन जितसर्वविषयत्वं शिवस्य सूच्यते । भो स्वामिन् ! वशीकृतसकलभुवन ! गणैः सेवित—गणैः स्वरूपं विमर्शद्भिः सेवित ध्यात ! भो विभो ! सर्वं व्याप्य स्थित ! भोः शिव ! अखण्डानन्दस्वरूप परमेश्वर ! धृतिस्तम्भा-धारां धृतिः विषयनित्यत्वावधारणं सैव स्तम्भः कुटीस्थित्याधारभूत-मध्यप्रदेशस्थदारुविशेषः, स एवाधारः आलम्बनं यस्यास्ताम् । दृढ-गुणनिबद्धां दृढैः बलवद्भिः गुणैः गुणकार्यभूतैः देहादिभिः निबद्धां स्थापिताम्, अन्यत्र गुणैः रज्जुभिर्निबद्धाम् आकृष्य क्लृप्तां सगमनां देशान्तरगमनसहितां विचित्रां विविधदुर्वासनावासिताम्, अन्यत्र नाना-वर्णां पद्माढ्यां पद्मया लक्ष्मीप्रार्थनया आढ्यां पूर्णाम्, अन्यत्र पद्माकार-चित्रयुक्ताम्, प्रतिदिवससन्मार्गघटितां प्रतिदिवसं दिवसे दिवसे सतो ब्रह्मणः मार्गेऽन्वेषणे घटितां योजिताम्, अन्यत्र सन्मार्गे राजमार्गसमीपे घटितां कल्पितां, विशदां निर्मलां मच्चेतस्स्फुटपटकुटीं मच्चेत एव स्फुटपटकुटी तामभिव्यक्तपटगृहं प्राप्यानुप्रविश्य जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । पञ्चकोशातिरेकेण प्रकाशस्वेति भावः । आदिमैः पञ्चभि-र्विशेषणैः स्वधर्मसहितं चित्तस्वरूपं पटकुटी च प्रतिपाद्यते । षष्ठेन विशेषणेन ब्रह्मान्वेषणे चित्तस्य योजितत्वम् । विशदामित्येतदैकरूप्येण चित्तपटकुट्योरुभयत्रान्वेति । स्मरारे ! इत्यनेन शिवस्य जितकामत्वं बोध्यते । स्वामिन्नित्यनेन सर्वस्वातन्त्र्यम् । विभो ! इत्यनेन व्यापक-स्वरूपता । शिवेत्यनेन आनन्दरूपता । अतो हेतोः पूर्वोक्तप्रकारेण परमशिवप्रार्थना युज्यते । चित्तपक्षे सर्वाणि विशेषणानि लिङ्ग-विपरिणामेन योजनीयानि ॥ २१ ॥[2]

---

१. रूपकानुप्राणितातिशयोक्तिः ।

२. रूपकालङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयत्नविशेषेण ब्रह्मान्वेषणे घटितमपि चोरवत् प्रलोभादिना अर्थाहरणपरतन्त्रं चित्तमसहमानः तद्दोषपरिहाराय तस्य शिवायत्ततां प्रार्थयते—**प्रलोभेति**। भोः **तस्करपते** ! तच्चौर्यं कुर्वन्तीति तस्कराः। 'तद्बृहतोरि'ति सुट् तलोपश्च । तेषां पतिः कर्मविशेषेण प्रवर्तको निवर्तकश्च तादृश ! **शङ्कर** ! भक्तसुखदायक ! भो **विभो** ! **प्रलोभाद्यैः** प्रलोभनं धनिकस्य मिथ्यालाभप्रदर्शनेन तस्य मनोवशीकरणम् तदेवाद्यं येषां तैः दुरुपायैः । धनिके प्रमत्ते तदर्थग्रहणाभिप्रायः, ऋणरूपेण धनिकदत्तस्य धनस्य प्रत्यर्पणावसरे तद्दानापलापः, एवमादय उपायाः बहुवचनेनाकृष्यन्ते । **अर्थाहरणपरतन्त्रः** अर्थः धनम् तस्याहरणं आकर्षणम् तस्मिन् परतन्त्रः आसक्तः, तद्विषये जागरूक इत्यर्थः। **अयं चेतश्चोरः** चेतश्चित्तमेव चोरस्तस्करः स **धनिगृहे** धनमस्यास्तीति धनी तस्य गृहं गेहं तस्मिन् **प्रवेशोद्युक्तः सन्** प्रवेशोऽन्तर्गृहगमनं तदर्थमुद्युक्तः सन् उद्योगी सन् प्रयत्नं कुर्वन्नित्यर्थः । **बहुधा** अनेकधा प्रकारार्थे धा । **भ्रमति** भ्राम्यति । **इमम्** एतादृशपापगुणविशिष्टं **चेतश्चोरं** चित्ततस्करं, अहमित्यध्याहार्यम् **कथं सहे** क्षमे ? **इहेदानीं तव** ते **अधीनं कृत्वा** विधाय **निरपराधे** निर्गतः अपराधः आगः यस्मात् तस्मिन् मयि, मनोभिन्नत्वात् तस्य निरपराधत्वमिति भावः । **कृपां** दयां **कुरुष्व** ॥ २२ ॥[1]

विधित्वविष्णुत्वादिकमपि शिवपूजायाः फलं दोषदर्शनेनास्वीकृत्य निर्दोषं नित्यसुखं प्रार्थयते—**करोमीति**। भो **विभो** ! अहं तु **त्वत्पूजां** तवार्चनादिकं **करोमि**। **सपदि** अविलम्बेनैव भोः **शङ्कर** ! **मे** मह्यं निर्दोषनित्यसुखप्रदाता **भव** । **तस्याः** पूजायाः **विधित्वं** विधातृत्वं, **विष्णुत्वं** हरित्वं वा **फलमिति** मत्वा **दिशसि खलु** ददासि हि । **पुनश्च** इत उत्तरस्मिन् काले **दिवि भुवि च त्वां द्रष्टुं** वीक्षितुं **पक्षिमृगतां** पक्षितां हंसभावं, मृगतां वराहभावं वा **वहन्** **त्वामदृष्ट्वा तत्खेदं** तद्दुःखं पक्षिभावमृगभावप्रयुक्तं अदर्शनकृतं शोकं च **कथं सहे** कथं क्षमे ? पूर्वं किल हरिब्रह्माणौ अन्योन्योत्कर्षनिकर्षानिश्चयेन विवदमानौ तन्निर्णयाय परमशिवं शरणं गतौ सन्तौ तदाज्ञया तत्पादशीर्ष्णोः दर्शनाय मृगपक्षिभावमवलम्ब्य प्रवृत्तौ तददर्शनाद् उभावपि पराभूतविति पुराणे प्रसिद्धिः । **विभो** ! इति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ २३ ॥[2]

---

१. रूपकालङ्कारः ।

२. अर्थापत्त्यलङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धसायुज्यं संप्रार्थ्यं तदन्तरङ्गसाधनभूतः सपरिजनसाम्ब-संनिधिवासः कदा भविष्यतीति कालविलम्बमसहमानोऽनुतपति—कदा वेति ! कैलासे परमशिवनिवासस्थाने; तत्रास्ते किलेति चिरन्तन-प्रसिद्धचा किलासः परमेश्वरः, . किलासस्यायं कैलासः तस्मिन् । कनकमणिसौधे सुवर्णमणिप्रचुरे सुधानिर्मिते सुधया दग्धशर्कराचूर्णेन निर्मिते, उपरिगृहे गणैः सह प्रमथगणैः सह शंभोरग्रे परमशिवपुरोभागे वसन् वासं कुर्वन् स्फुटघटितमूर्धाञ्जलिपुटः सन् अञ्जलिः पुटमिव अञ्जलिपुटम्; मूर्ध्नि अञ्जलिपुटं मूर्धाञ्जलिपुटं, स्फुटं व्यक्तं घटितं योजितं मूर्धाञ्जलिपुटं येन तथाभूतः सन्, भो विभो ! भोः साम्ब ! भोः स्वामिन् ! भोः परमशिव ! पाहि रक्षेत्येवं निगदन् उच्चैरुच्चरन् सुखतः एवं भूतमवस्थानमहं लब्धवान् इति सुखानुभवाद् हेतोः विधातॄणां बहूनां ब्रह्मणां कल्पान् तत्तदवस्थितिसमयान् क्षणमिव क्षणकालमिव कदा वा विनेष्यामि यापयिष्यामि ।

'वसन् शम्भो मूर्धस्फुटघटितबद्धाञ्जलिपुट' इति पाठे त्वयमन्वय-क्रमः —शम्भो इत्यस्य संबुद्धचन्तत्वं बोध्यम् । शम्भो सुखजनक ! भो विभो ! नानाकारतया विद्यमान ! भोः साम्ब ! अम्बया सह वर्तत इति साम्बः तस्य संबुद्धिः । भोः स्वामिन् ! सकलाध्यक्ष ! भोः परमशिव ! निरतिशयानन्दरूप ! अहं कैलासे गणैः सह प्रमथगणैः सह तेषां भक्ता-ग्रगण्यत्वात्, शिवसामीप्यनिवासयोग्यत्वाच्च तत्तुल्यसामीप्यमोक्षानन्दं प्रार्थयतीति पदप्रयोजनम् । वसन् सन् पाहीति निगदन् उच्चरन् सन् मूर्ध्नि स्फुटघटितबद्धाञ्जलिपुटः अञ्जलिः पुटमिव बद्धं च तत् अञ्जलिपुटं च । मूर्ध्नि शिरसि स्फुटं व्यक्तं घटितं योजितं बद्धाञ्जलि-पुटं येन तथाविधः सन् । निमिषमिवेति पाठे विधातॄणां कल्पान् स्थिति-समयान् कदा नेष्यामि यापयिष्यामीत्यन्वयः । विनेष्यामीति पाठे विपूर्वस्य नीधातोः विनयार्थकत्वेन प्रकृतानुपयोगात् 'निमिषमिव नेष्यामि' इति पाठान्तरं साधुत्वेन स्वीकृतम् ।। २४ ।।[1]

प्रकारान्तरेण अवस्थितं तमेव स्तौति—स्तवैरिति । ब्रह्मदीनां ब्रह्मवादिर्येषां तेषां सर्वेषां देवानामित्यर्थः । स्तवैः स्तोत्रैः स्तुतिग्रन्थैः स्तुतं, नियमिनां वेदोक्तनियमपरिपालकानाम् ऋषीणाम् जयजयवचोभिः

१. सम्भवालङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जय जयेति शब्दैः प्रोत्साहितं, गणानां नन्दिभृङ्गिचण्डीश्वरादिप्रमथ-गणानां केलीभिः तौर्यत्रिकादिविलासैः प्रमोदितं, मदकलमहोक्षस्य मदेन हर्षातिशयेन कलः मधुरः महांश्चासावुक्षा च मदकलमहोक्षः, अचतुरेत्यादिना निपातनाददन्तत्वम् तस्य ककुदि पिण्डाकारमांसो-पलक्षितप्रदेशे पृष्ठस्थान इति यावत् स्थितम् आसेदिवांसम् । नीलग्रीवं नीलः ग्रीवा कण्ठः यस्य तं नीलग्रीवं त्रिनयनं त्रीणि नयनानि यस्य तम्, उमाश्लिष्टवपुषम् उमया पार्वत्या आश्लिष्टम् आलिङ्गितं वपुः देहः यस्य तम्, करधृतमृगं करेण धृतः गृहीतः मृगः कुरङ्गः येन तम्, खण्डपरशुं खण्डः अर्दितः परशुः कुठारो यस्य तमेतादृशगुणविशिष्टं त्वामहं कदा कस्मिन् काले पश्येयं साक्षात्कुर्याम् । स्पष्टार्थः ॥ २५ ॥[1]

तमेव परमेश्वरं भङ्ग्यन्तरेण प्रार्थयते—कदा वेति । हे गिरिश ! गिरौ शयान ! त्वां भवन्तं दृष्ट्वा तव भव्याङ्घ्रियुगलं क्षेमङ्करपादद्वयं हस्ताभ्यां गृहीत्वा धृत्वा शिरसि मूर्ध्नि नयने नेत्रे वक्षसि उरसि च वहन् सञ्जयन् अहं समाश्लिष्य आलिङ्ग्य स्फुटजलजगन्धान् स्फुटानि विकसितानि जलजानि पद्मानि स्फुटजलजानि तेषां गन्ध इव गन्धो येषां तान् परिमलान् विमर्दोत्थगन्धान् आघ्राय घ्राणेन्द्रियेणानुभूय ब्रह्माद्यैः ब्रह्मादिसुरैः अलभ्यां लब्धुमशक्यां मुदं प्रीतिं हृदये मनसि कदा कस्मिन् काले अनुभविष्यामि साक्षात्करिष्यामि । तात्पर्यं स्पष्टम् ।२६।[2]

वक्ष्यमाणरीत्या परमेश्वरमुद्दिश्य सिद्धत्वेन हेतुना दातव्यवस्तूनाम-योगात् स्वमनसः तदधीनतां प्रार्थयते—करस्थ इति । भो गिरिश ! शिव ! हेमाद्रौ स्वर्णगिरौ करस्थे करतलस्थे सति । तत्करस्थत्वं च मेरुकोदण्डत्वादिति भावः । धनपतौ राजराजे निकटस्थे समीपस्थे सति । समीपस्थत्वं च तस्य तत्सखत्वादिति भावः । स्वर्भूजामरसुरभि-चिन्तामणिगणे स्वर्भूजाः अमरतरवः, अमरसुरभिः कामधेनुः, चिन्ता-मणयः चिन्तितमात्रदायिनो मणयः, तेषां गणः समूहः तस्मिन्, गृहस्थे सति । ईश्वरस्यानन्तशक्तित्वात् तेषां तद्विधेयत्वेन तद्गृहस्थत्वं संभव-तीति भावः । शीतांशौ चन्द्रे शिरस्थे सति शिरसि स्थिते सति, चन्द्र-शेखरत्वप्रसिद्धेरिति भावः । अखिलशुभे अखण्डमङ्गले चरणयुगलस्थे सति पादद्वन्द्वगते सति । तच्छरणानां सर्वमङ्गलप्रसिद्धेरिति भावः ।

१. सम्भावनालङ्कारः ।

२. सम्भावनालङ्कारः । 'सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वोक्तेभ्यो हेतुभ्यः केनापि वस्तूपचारेण तव प्रयोजनाभावात् कं कीदृग्विधमर्थं पदार्थं भवत्तोषकरमहं दास्ये दास्यामि ? अतो हेतोः **मम मनः त्वदर्थं त्वच्छेषं भवतु** भूयात् । सर्वार्थसिद्धत्वेन इतरानपेक्षणाद् हेतोः तव कर्तव्यमुपचारमपश्यन्नहं केवलं मनसः त्वदायत्ततां प्रार्थयामीति भावः ॥ २७ ॥[1]

वक्ष्यमाणहेतुभिः वक्ष्यमाणफलसिद्धेः आत्मनः कृतार्थतां स्मरति—**सारूप्यमिति** । भोः **स्वामिन्** ! सर्वाध्यक्ष ! **तव पूजने कृते सति सारूप्यं** सरूपतासिद्धिर्भवति । भोः **शिव महादेवेति** देवसङ्कीर्तने कृते सति तव **सामीप्यं** समीपवर्तित्वं सिद्धं भवति । साङ्गत्यं सङ्गतस्य भावः साङ्गत्यम् एकाधिकरणवर्तित्वं च संभाषणं सम्यगालापः तयोः समाहारः **साङ्गत्यसंभाषणम्** । शिवे भक्तिः **शिवभक्तिः** । सैव धूः भारः शिवभक्तिधूः [धुरा] तां वहतीति **शिवभक्तिधुर्या** । जनानां समूहो **जनता** । सा च शिवभक्तिधुर्या तस्याः साङ्गत्यसंभाषणे कृते सति **सालोक्यं** समानलोकवर्तित्वमिति यावत् । तत् **सिद्धं भवति** । भो **भवानीपते** ! भवस्य पत्नी भवानी इति यौगिकार्थो न विवक्षितः, अन्योन्याश्रयदोषप्रसङ्गात् । किन्तु रूढचा अम्बिका अर्थः । तस्याः पतिः भवानीपतिः । तस्य संबुद्धिः भवानीपते ! तव **चराचरात्मकतनुध्याने** स्थावरजङ्गमलक्षणमूर्तिध्याने कृते सति **अत्र** अस्मिन् जन्मनि **मम**; सह युज्यत इति सयुक् तस्य भावः **सायुज्यं** तच्च सिद्धं भवति । अतोऽहं **कृतार्थोऽस्मि** । कृतः प्राप्तोऽर्थो लाभो यस्य सोऽस्मि भवामि ॥२८॥[2]

पुनः प्रकारान्तरेणं तं प्रार्थयते—**त्वदिति** । हे **विभो** ! विविधेन प्रकारेण भवतीति विभुः. तस्य संबुद्धिः, सकलभुवनव्यापकेत्यर्थः । **परमं** सर्वोत्कृष्टं **त्वत्पादाम्बुजं** तव पादः अम्बुजमिवेत्युपमितसमासः । तद् **अर्चयामि** पूजयामि । अर्चायाः कायिकत्वात् हस्तादिभिः पूजयामीति फलितोऽर्थः । **अन्वहं** दिने दिने **त्वामेतादृशं** भक्तपराधीनं **चिन्तयामि** ध्यायामि । एवं पूजानन्तरं ध्यानं कृत्वा संरक्षणं शरणं याचते—**ईशं** जगत्कर्तारं **त्वां शरणं** जननमरणभयनिवारकं **व्रजामि** प्रपद्ये । **वचसा**

१. परिशेषालङ्कारः ।

२. अर्थापत्त्यलङ्कारः । लक्षणन्तु पूर्वत्रैव (श्लो० १५) निर्दिष्टम् । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः, इतः परं त्रिचत्वारिंशत्तमश्लोकपर्यन्तं सर्वे श्लोका अस्मिन्नेव वृत्ते निबद्धाः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वागिन्द्रियेण त्वामेव। एवकारेण तदितरेषां याच्ञाकर्मत्वं व्यावर्त्यते। इष्टम्, धातोः[1]द्विकर्मकत्वादिष्टमित्यध्याहार्यम्। याचे प्रार्थये। तदिष्टं किमिति चेदाह-- दिव्यैः देवतासमूहैः हे शंभो! सुखजनक! लोकगुरो! लोकानां भक्तजनानां गुरो रहस्यार्थप्रकाशक! मे मह्यं दिव्यैः दिवि भवैः दैवैः चिरं चिरकालात् प्रार्थितां सकरुणां करुणासहितामतिप्रीत्या सह वर्तत इति सकरुणां तां चाक्षुषीं चक्षुःसम्बन्धिनीं कटाक्षवीक्षणरूपां दिश देहि। सुखमेव सौख्यं स्वार्थे तद्धितः सुखस्वरूपं ब्रह्म तस्योपदेशं कुरु आत्मनः ब्रह्मतादात्म्यबोधनं कुर्वित्यभिप्रायः। मदीयमनसः मम संबन्धिमानसस्य सौख्योपदेशं कुरु कुरुष्व। विषयसुखस्य अनित्यत्वेन दुःखोत्तरत्वेन च तदुपेक्ष्य सौख्यं ब्रह्मेति ब्रह्मपर्यन्तानुधावनं कृतमिति ध्येयम् ॥ २९ ॥

ईदृशस्य तवैवं भूतोऽहं शुश्रूषां कर्तुं न प्रभवामीत्याह—वस्त्रोद्धूतेति। हे बालेन्दुचूडामणे! चन्द्रशेखर! हे पशुपते! पशूनां संसारबद्धानां पते बन्धविमोचक! स्वामिन्! सर्वशरीराध्यक्ष! 'नान्यतोऽस्ति द्रष्टे'ति श्रुतेः। त्रिलोकीगुरो! लोकत्रयस्यापि गूढार्थप्रकाशक! प्रथमतृतीयसंबुद्धिभ्यां तस्य व्यापकता, द्वितीयचतुर्थीभ्यां पाशविमोचकत्वं रहस्यार्थबोधकत्वं च प्रत्याय्यते (-येते)। एतावन्महिम्नः तव शुश्रूषां कदा करवाणि विरचयानि। कदेति चेद्? वस्त्रोद्धूतविधौ वस्त्रोपचारविधाने सहस्रकरता सूर्यता मय्यस्ति चेत् करसहस्रस्य लोकत्रयव्यापकत्वेन व्यापकीभूतपरमेश्वराच्छादकत्वं संभवति, नेतरस्येत्यभिप्रेत्य आत्मने तत्तासंभावनम्। पुष्पार्चने तदनन्तरकर्तव्यपुष्पोपचारविधाने विष्णुता विष्णोर्भावः विष्णुता व्यापकत्वं विष्णुसदृशव्यापकत्वमित्यर्थः। मय्यस्ति चेत्। गन्धे गन्धोपचारे गन्धवहात्मता वायुस्वरूपता विलक्षणगन्धप्रापकत्वशक्तेः वायौ विद्यमानत्वात् तत्तासंभावनम्। अन्नपचने पक्वहविरुपचारे बर्हिर्मुखाध्यक्षता बर्हिरग्निः मुखं येषां तेषामध्यक्ष इन्द्रः तत्ता च मय्यस्ति चेत् तव शुश्रूषां तदा करवाणि। पात्रे पात्रोपचारे काञ्चनगर्भता हिरण्यगर्भत्वं ब्रह्मत्वमर्थपूर्णत्वं च मय्यस्ति चेत्तदा तव शुश्रूषां करवाणीत्यन्वयः ॥ ३० ॥[2]

---

१. याचतेरित्यर्थः।

२. रूपकालङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमेश्वरनिष्ठं सर्वातिशायिशक्तिमत्त्वं दर्शयितुमाह– नालमिति। हे पशूनां पते ! एवं संबोधनेन जगतामवश्यभरणीयत्वं सूच्यते। कुक्षिगतान् उदरस्थितान् चराचरगणान् स्थावरजङ्गमसमूहान् बाह्यस्थितांश्च तान् रक्षितुं निर्भयान् कर्तुं पश्यन् पर्यालोच(य)न् अभूस्त्वम्। इत्थं पर्यालोच्य त्वया अतिज्वालाकरम् अत्यन्ततापकरं भीकरं भयजनकं गरलं कालकूटं सर्वामर्त्यपलायनौषधं यथा तथा। अमर्त्या अमरणधर्मकाः सर्वे देवाः तेषां पलायनमसहनेन दिशि दिशि धावनं तदेव रोगः एकदेशिविवर्तिरूपकं तस्य औषधं निवर्तकं यथा भवति तथा गले कण्ठे निक्षिप्तं स्थापितम्। अत एव न गिलितम् न भक्षितम्। नोद्गीर्णं च नोत्सृष्टं न वान्तं चेत्यर्थः। एवकारश्चार्थः, अव्ययानामनेकार्थत्वात्। एकं परमोपकारकमतिशयेन अनुग्राहकम् इदमित्थंकरणम् तव महिमावगतये नालं वा न पर्याप्तं वा ? वाशब्दः काकुस्वरसूचकः। तुशब्दोऽन्येषामीदृशं महिमानं वारयति। इत्थं करणमनितरसाधारणं त्वन्महिमानं गमयतीति भावः॥ ३१ ॥[1]

परमशिवपरिगृहीतं विषं त्रेधा विकल्प्य पृच्छति– ज्वालोग्र इति। हे महात्मन् अपरिच्छिन्नस्वरूप ! सर्वज्ञेति यावत्। ज्वालोग्रः ज्वालाभिः सर्वतो व्यापिनीभिः कीलाभिः—'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीला'वित्यमरः, क्ष्वेडस्यापि वह्नितुल्यत्वात् ज्वालानां गौण्या वृत्त्या तद्धर्मत्वोपपत्तिः— उग्रः असह्यः सकलामरातिभयदः सकलदेवतातिभयङ्करः क्ष्वेडः त्वया कथं वा दृष्टः ? किं च करे धृतः गृहीतः करतले निहितश्च। अतः पक्वजम्बूफलं किम् ? स एव क्ष्वेडः जिह्वायां निहितश्च अतः सिद्धघुटिका वा ? सकलसिद्धिकारिणी घुटिका औषधगोलकं वा ?कण्ठदेशे भृतश्च, अतोऽयं ते भूषणं नीलमणिः किम् ? वद ब्रूहि। किं वा शब्दौ सर्वत्र प्रश्नार्थकौ। स्पष्टार्थोऽयम्॥ ३२ ॥[2]

वक्ष्यमाणानां साधनानामन्यतमेन मुक्तिः सुलभेति मत्वाऽन्यदेवतानुसरणे वैयर्थ्यमुपपादयति–नालमिति। हे स्वामिन् सर्वभूताध्यक्ष ! देव स्वप्रकाशस्वरूप ! भवतस्तत्र सकृत् सेवा आवृत्त्या विना भजनं करणत्रयसाधारणमिदम्। इदमेव विशिष्याह—नतिर्वा नमस्कारो वा,

१. अर्थापत्त्यलङ्कारः।

२. संशयालङ्कारः। 'स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदङ्कालङ्कृतित्रयम्'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इदं कायिकम् । नुतिः स्तोत्रं वा, इदं सेवनं वाचिकम् । पूजा वा सपर्या वा, इदं च सर्वसाधारणम् । स्मरणं स्मृतिः, इदं सेवनं मानसिकम् । कथाश्रवणमपि चरित्रश्रुतिरपि, इदं श्रौत्रम् । आलोकनं दर्शनं च, चाक्षुषमेतत् । एवमुक्तानामन्यतमं त्वद्भजनं मादृशामस्मद्विधानां मुक्तिप्रापणे नालं वा न पर्याप्तं वा ? अन्तिमो वा शब्द काक्वर्थः । आदिमा वाशब्दाः विकल्पार्थाः । इदमेव पर्याप्तमिति पर्यवसितोऽर्थः । इतः इममन्यतममुपायं विहाय प्राप्या मुक्तिः का वा कीदृशी ? इति प्रश्नार्थे काकुः, न कापीत्यर्थः । उक्तानां मध्ये कुतोऽप्युपायात् मुक्तिर्भवतीति चेत्, तदा अस्थिरदेवतानुसरणायासेन अस्थिरा या देवताः, उपाध्यभिधानप्रयुक्तमस्थिरत्वम्, तासामनुसरणं भजनं, तस्य य आयासः तदनुकूलप्रयत्नविशेषः, तेन किं लभ्यते ? ततः प्रार्थनीयं किम् ? न किमपीत्यर्थः । उक्तानां भजनानां मध्ये सकृत्कृतमपि एकमेव भजनं मुक्तिप्रापणे पर्याप्तमिति भावः ।। ३३ ।।[1]

परमशिवस्य स्थितिरन्यदुर्लभेत्याह— किं ब्रूम इति । हे पशुपते ! शंभो ! तव साहसं दुर्घटकरणं किं ब्रूमः किमिति वदामः ? ईदृशं वक्ष्यमाणविषयं धैर्यं निश्चयः कस्यास्ति ? न कस्यापीत्यर्थः । इयमात्मनः स्थितिश्च इत्थंभूतमात्मनोऽवस्थानं अन्यैः त्वदितरैः कथं केन प्रकारेण लभ्यते । त्वदितरे तत्प्रकारानभिज्ञा इति भावः । आनन्दसान्द्रः निविडानन्दस्वरूपः भवान् त्वं भ्रश्यद्देवगणं भ्रश्यन् स्वस्थानेभ्यः च्यवन् देवगणः सुरसमूहो यस्मिन् । त्रसन्मुनिगणं बिभ्यन् मुनिगण ऋषिगणो यस्मिन् । नश्यत्प्रपञ्चं प्रपञ्चो दृश्यमात्रं नश्यन् अदर्शनं प्राप्नुवन् यस्मिन् । लीयतेऽस्मिन् सर्वमिति लयः प्रलयकालः तं पश्यन् निर्भयः भयरहितः एक एव विहरतीति यत् इयमवस्थितिरिति पूर्वेणान्वयः । यद्यपि महाप्रलये नाशप्रतियोगित्वं परमशिवेतरेषां सर्वेषामविशिष्टं, तथापि देवगणमुनिगणयोः भ्रंशत्रासकथनं नाशपूर्वावस्थाप्रदर्शनमिति ज्ञेयम् । महाप्रलयेऽप्यवस्थानप्रतिपादनात् परमशिवस्य नित्यत्वमवसीयते ।। ३४ ।।[2]

परमशिवस्य गुणान् विदितप्रायान् मत्वा तस्य परमाप्तत्वस्मरणं प्रतिजानीते— योगेति । हे शम्भो योगक्षेमधुरन्धरस्य धरतीति धरः धुरो धरः धुरन्धरः । अलब्धस्य लाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः, तयोर्धुरन्धरः तस्य । सकलश्रेयःप्रदोद्योगिनः सकलानि च तानि श्रेयांसि

---

१. अर्थापत्त्यलङ्कारः ।   २. अर्थापत्त्यलङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च तानि प्रददातीति तत्प्रदः स चासावुद्योगश्च सोऽस्यास्तीति सकलश्रेयःप्रदोद्योगी तस्य। **दृष्टादृष्टमतोपदेशकृतिनः** दृष्टमैहिकम्, अदृष्टमामुष्मिकम् एतदुभयफलकत्वेन अभिमतो य उपायः तस्योपदेशः तत्र कृतिनः सर्थमस्य। **बाह्यान्तरव्यापिनः** बहिर्भवानि बाह्यानि, अन्तर्भवानि आन्तराणि तानि व्याप्नोति व्याप्य तिष्ठतीति तद्व्यापिनः। **सर्वज्ञस्य** सर्वं जानातीति सर्वज्ञः तस्य। **दयाकरस्य** करोतीति करः दयायाः करो दयाकरः तस्य। **भवतः** भवत्संबन्धि। **मया वेदितव्यं** ज्ञातव्यं किम्? किमस्ति? **त्वं मे परमान्तरङ्गः** अत्यन्ताप्तः **इत्यन्वहम्** अनुदिनम् अहं **चित्ते स्मरामि**। सर्वदा त्वयि परमाप्तत्वस्मरणं मम श्रेयस्करमिति भावः॥ ३५॥[1]

पदार्थरूपकेण परमशिवं प्रीणयति—**भक्त** इति। हे साम्ब! **भक्तो निजशरीरागारशुद्धिं वहन्** अहं निजमात्मीयं शरीरं तदेवागारं गृहं तस्य शुद्धिं दोषशून्यतां वहन् संपादयन् **रुचिरं** मनःप्रियं **कल्याणं** मङ्गलं तदेव विवाहं मङ्गलम् **आपादयन्** संपादयन् फले शतृप्रत्ययः, कल्याणफलक इत्यर्थः। तथाभूतः सन् **भक्तिगुणावृते** भक्तिरेव गुणस्तन्तुः तेनावृते वेष्टिते; **मुदमृतापूर्णे** मुत् संतोषः सैवामृतमुदकम् तेनापूर्णे व्याप्ते, **प्रसन्ने** स्वच्छे, **मनःकुम्भे** मनो मानसमेव कुम्भः कलशः तस्मिन् **तवाङ्घ्री एव पल्लवे** किसलये **तयोर्युगं** युग्मं **संवित्फलं** संवित् भवज्ज्ञानमेव फलं नारिकेलफलं तच्च **संस्थाप्य** निक्षिप्य **सत्त्वं** सत्त्वगुणप्रधानं **मन्त्रं** तारकमन्त्र**मुदीरयन्** उच्चरन् **पुण्याहं** पुण्याहाख्यं **कर्म प्रकटीकरोमि** प्रकाशयामि। मनसा त्वदङ्घ्रियुगलं सदा स्मरामीति भावः॥ ३६॥[2]

---

१. प्रतिषेधालङ्कारः।

२. गृहस्य मण्टपादीनां वा शुद्ध्यर्थं शुद्धिपुण्याहवाचनाख्ये कर्मणि कर्त्तव्ये, आदौ मण्टपस्य मार्जनं ततो गोमयेन लेपनं ततो रङ्गवल्ल्यादिभिरलङ्करणं च कृत्वा मण्टपमध्ये विशेषेणालंकृते प्रदेशे तन्तुभिर्वेष्टितं कुम्भं शुद्धोदकेन संपूर्य तदुपरि आम्रपत्राणि निधाय तन्मध्ये गन्धपुष्पाद्यलंकृतं नारिकेलफलं कूर्चं च निधाय परितः वेदपाठिनः ब्राह्मणा उपविश्य 'हिरण्यवर्णाः शुचयः' 'पवमानः सुवर्जनः' इत्यनुवाकद्वयं पठन्ति ; वेदपाठसमाप्तौ तेनोदकेन तेन कूर्चेन गृहं गृहस्थं च प्रोक्षन्तीति सम्प्रदायः। स एवात्र रूपकेणोपनिबद्ध इति रूपकालङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विपश्चित्समूहाः आम्नायसमुद्रं मथित्वा तज्जन्यफलभूतं त्वां लभन्त इत्याह—आम्नायाम्बुधिमिति । सुमनस्सङ्घाः सुमनसां विदुषां सुष्ठु शास्त्राभ्याससंस्कृतं मनो येषां तेषां, विदुषां 'सुपर्वाणः सुमनस' इति कोशमहिम्ना देवानामपि सङ्घाः समूहाः समुद्यत् गुणसमुदायं प्राप्नुवत् मनो मानसं दृढभक्तिरज्जुसहितं दृढा भक्तिरचञ्चला भक्तिः, सैव रज्जुः तया सहितं युक्तं मन्थानं कृत्वा मथनदण्डं कृत्वा तेन आम्नायाम्बुधिम् आम्नायो वेद एव अम्बुधिः जलधिः तम् आदरेण आसक्त्या मथित्वा ततस्तस्मात् सोमं, कल्पतरुं, सुपर्वसुरभिं, चिन्तामणिं, धीमतां नित्यानन्दसुधां निरन्तररमासौभाग्यम् आतन्वते विस्तारेण लभन्ते । धीमतां बुद्धिशालिनाम्, अर्थान्तरे नित्यानन्दसुधामित्यस्य विशेषणम्, धियः मतेः इष्टां संमताम् । कल्पद्रुमं देवतरुसदृशं सुपर्वसुरभिं कामधेनुसमानं चिन्तामणिसदृशं नित्यानन्दसुधाम् अमृततुल्यनित्यानन्दस्वरूपं निरन्तररमासौभाग्यं शाश्वातमुक्तिलक्ष्मीसमृद्धिरूपं सोममुमासहितं परमेश्वरम् आतन्वते। विस्तेरण लभन्ते । देवसमूहाः समुद्रं मथित्वा चन्द्रादिपदार्थान् यथा अलभन्त तथा वेदान् संशोध्य मथनजन्यसकलपदार्थसमष्टिरूपं परमशिवं लभन्त इति भावः ।। ३७ ।।[१]

परमशिवचन्द्रदर्शनेन आनन्दसमुद्रो वर्धते । तत्र सुमनसां प्रवृत्तिर्जायते इत्याह—प्रागिति । सोम एव सोमश्चन्द्रः स कथभूतः ? प्राक्पुण्याचलमार्गदर्शितसुधामूर्तिः अचलसदृशं पर्वतसदृशः पुण्यं पुण्याचलः स एव प्राग्दिग्वृत्तिः पुण्यपर्वतः तस्य मार्गः पन्थाः तेन दर्शिता प्रदर्शिता सुधा अमृतमयी मूर्तिः शरीरं यस्य स तथोक्तः । अन्यत्र—प्राक्तनपुण्यातिशयेन संसूचितामृतशरीर इत्यर्थः । प्रसन्नः स्वच्छः उभयत्र स्वच्छत्वं तुल्यम् । शिवः आनन्दकरः, अन्यत्र सुखस्वरूपः । सद्गणसेवितः[२] नक्षत्रसमूहपरिवृतः, अन्यत्र साधुसंदोहपूजितः । मृगधरः धरतीति धरः मृगस्य धरो मृगधरः, इदं चोभयत्र समानम् । पूर्णः षोडशभिः कलाभिः पूर्णः पूर्ति गतः, अन्यत्र सर्वव्यापकः । तमोमोचकः तमोऽन्धकारस्तस्य मोचको निवर्तकः, अन्यत्र अज्ञानमोचकः । एतादृशः सोमः प्रागल्भ्येन बोधनशक्त्या चेतःपुष्करलक्षितः हृदयाकाशे लक्षितः दृष्टः भवति चेत् आनन्द-

---

१. रूपकालङ्कारः ।

२. सद्गणः नक्षत्रगण इत्यर्थः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाथोनिधिः आनन्द एव पाथोनिधिः समुद्रः स विजृम्भते वर्धते। तदा सुमनसां संस्कृतचित्तानां वृत्तिः प्रवृत्तिर्जायते तस्मिन् निमज्जनबुद्धिः जायत इति भावः ॥ ३८ ॥[1]

कस्मिंश्चित् नगरे सुराजस्थित्या देशस्य सर्वसमृद्धिवत् हृत्पुण्डरीके परमेश्वरस्थित्या मम सर्वसमृद्धिः सञ्जातेत्याह—धर्म इति। राजावतंसे राजा चन्द्रः अवतंसः शिरोभूषणं यस्य तस्मिन्। अन्यत्र अवतंसशब्दस्य श्रेष्ठवाचित्वात् राजश्रेष्ठ इत्यर्थः। मान्ये सर्वपूज्ये। अन्यत्र सर्वसंमते। शिवे राजनि च मे मम मानसपुण्डरीकनगरे मानसं पुण्डरीकमिव मानसपुण्डरीकं तदेव नगरं पुरं तस्मिन्। कैवल्यनाथे केवलत्वविशिष्टनाथे, एकनाथ इत्यर्थः। अन्यत्र लोकप्रसिद्धपुर्यामिव स्थिते सति कैवल्यनाथ इत्येतत् विधेयविशेषणम्। चतुरङ्घ्रिकः[2] चत्वारोऽङ्घ्रयो यस्य स धर्मः सुचरितः सुखेनाचरितः अनुष्ठित इत्यर्थः। तापं दुरितं विनाशं गतमदर्शनं प्राप्तम्। कामक्रोधमदादयः षडन्तःशत्रवः विगलिताः वहिर्निर्गताः। कालाः मासपक्षसंवत्सरात्मकाः सुखाविष्कृतः सुखमेव आविष्कुर्वन्तीति प्रकाशयन्तीति तथोक्ताः। क्विबन्तोऽयं शब्दः। ज्ञानानन्त्यमहौषधिः[3] ज्ञानानां ज्ञानसाधनग्रन्थानाम् आनन्त्यं बाहुल्यं तदेव महौषधिः सिद्धिसाधनौषधिः सदा सर्वस्मिन् काले सुफलिता सुतरां सञ्जातफला भवतीत्यध्याहारः। धार्मिके राजनि एकनाथे शासति सति देशे सर्वदोषनिवृत्तिः सर्वगुणसमृद्धिश्च यथा भवति जनानां तथा मम हृदयपुण्डरीके परमशिवे वसति सति सर्वगुणसमृद्धिः सर्वदोषनिवृत्तिश्च सञ्जातेति भावः ॥ ३९ ॥[4]

वक्ष्यमाणलक्षणस्य फलभाजो मम न दुर्भिक्षाद् भीतिरित्याह—घोयन्त्रेणेति। हे भगवन् समग्रैश्वर्यादिसम्पन्न! 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।' 'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च भगवान् स इति स्मृतेः ॥' इति च प्रमाणात्। हे विश्वेश सकल-

१. रूपकम्।

२. अध्ययनमर्थज्ञानं कर्मानुष्ठानं प्रचारणमिति चतुरङ्घ्रिको धर्मः। उक्तमभियुक्तैः—'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः।' सत्ययज्ञतपोदानरूपा वा धर्मपादाः।

३. ज्ञानानन्दमहौषधिरित्यपरेऽपीपठन्।

४. भाविकालङ्कारः। 'भाविकं भूतभव्यार्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भुवनाधिपते ! त्वत्सेवकस्य मम धीयन्त्रेण धीरेव बुद्धिरेव यन्त्रं घटीयन्त्रं तेन, वचोघटेन वाक्कलशेन, कविताकुल्योपकुल्याक्रमैः कवेर्भावः कविता साहित्यं सैव कुल्या उपकुल्या च तस्याः क्रमैरानुपूर्वीभिः हृत्केदारं प्रापितैः हृदयक्षेत्रं प्रापितैः सदाशिवस्य परमशिवस्य तव चरिताम्भोराशिदिव्यामृतैः चरितं चरित्रमेव अम्भोराशिः समुद्रः तस्य दिव्यामृतैः शुद्धोदकैः, हृत्केदारयुताश्च हृत् हृदयमेव केदारः क्षेत्रम् तद्युक्ताश्च, भक्तिकलमाः भक्तय एव कलमाः शालीसस्यानि ते, साफल्यं सफलत्वम् आतन्वते विस्तारयन्ति। आतन्वत इत्यत्र विकरणभेदाद् बहुवचनमिति ग्राह्यम् । एवं सेवकस्य मम दुर्भिक्षात् क्षामकालात् भीतिः भयं कुतः ? का भीतिरित्यर्थः। सार्वविभक्तिकः तसिः। मम हृदये सर्वदा त्वां भजामीत्यभिप्रायः ॥ ४० ॥[1]

वक्ष्यमाणार्थजाते मूकत्वादिदोषपरिहारार्थं प्रार्थयते-पापोत्पातेति। हे मृत्युञ्जय ! मृत्युर्यमः तं जयतीति मृत्युञ्जयः तस्य संबुद्धिः। पापोत्पातविमोचनाय पापमेव उत्पातः विपत्सूचककादाचित्कनिमित्तं तस्य विमोचनाय परित्यागाय रुचिरैश्वर्याय सर्वस्वातन्त्र्याय स्तोत्रध्याननतिप्रदक्षिणसपर्यालोकनाकर्णने स्तोत्रं च ध्यानं च नतिश्च प्रदक्षिणं च सपर्या च आलोकनं च आकर्णनं च एतेषां समाहारे विषये जिह्वाचित्तशिरोऽङ्घ्रिहस्तनयनश्रोत्रैः समाहारघटकस्वस्वविषये यथासंख्यं प्रार्थितोऽहमस्मि, त्वदाज्ञापनं विना तत्प्रार्थितम् अर्थं निर्वोढुं न शक्नोमि। तस्मात् माम् आज्ञापय एवं प्रार्थितमर्थं कुर्विति विधेहि। तत्समाहारपदार्थं मां निरूपय मुहुः प्रतिक्षणम् अनुसंधापय। मे मम अवचः अवचसो भावः मूकत्वमिति यावत्। एतच्च अध्यातृत्वादीनां दोषाणामुपलक्षणम्। मूकत्वादयो दोषाः मैव भूवन्। मामेव मा मेऽवच इत्यत्र माम् एव मा मे अवचः इति छेदः। प्रतिबन्धकेन विना प्रार्थितार्थनिर्वाहः मम भूयदिति प्रार्थयितुरभिप्रायः ॥ ४१ ॥[2]

दुर्गातिप्रियत्वेन हेतुना स्वमनोदुर्गे शिवस्य वासं प्रार्थयते—गाम्भीर्यमिति। हे दुर्गातिप्रिय ! दुर्गः दुःखेन गन्तुमर्हः अचलः अत्यन्तं प्रीतिविषयो यस्य स तथोक्तः तस्य संबुद्धिः। हे देव ! परमशिव ! परिखापदं परितः खायते अवदार्यत इति परिखा जलदुर्गः तस्याः

१. अत्युक्तिः हेत्वलङ्कारश्च । 'अत्युक्तिरद्भुताऽतथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनमि' त्यत्युक्तेः लक्षणम्। हेत्वलङ्कारस्य लक्षणन्तु पूर्वं दत्तमेव।

२. यथासङ्ख्यालङ्कारः। 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदं लक्षणं गाम्भीर्यं गम्भीरभावः अगाधतेति यावत्। घनधृतिः सान्द्रधैर्यं तदेव प्राकारः सालः। 'प्राकारो वरणः साल' इत्यमरः। उद्यद्‌गुणस्तोमः उद्यन्त उत्पद्यमानाः गुणाः साधुगुणाः तेषां स्तोमः समूहः स एवाप्तबलम् आप्तं विश्वसनीयं बलम् आपन्निवृत्तिसाधकं, देहस्थितः देहे विद्यमानः घनेन्द्रियचयः घनेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तेषां चयः सन्दोहः स एव द्वाराणि गमागमस्थानानि, विद्या शिवविषयकज्ञानं सैव वस्तुसमृद्धिः गोप्यपदार्थसंपद्—इत्येवं भूतानां दुर्गापेक्षिताखिलपदार्थानां सामग्री समग्रभावः पौष्कल्यं तया समेते मामकमनोदुर्गे ममेदं मामकं यन्मनः तदेव दुर्गं दुष्प्रवेशस्थानं तस्मिन्। त्वमित्यध्याहारः। सदा सर्वदा निवासं वसतिं कुरु विधेहीति प्रार्थनायां लोट्॥ ४२॥[1]

परमशिवस्य आदिकिरातभावं संभाव्य किरातलभ्यं फलं मयि सुलभमिति हेतोर्मत्तोऽन्यत्र गमनं मा भूदिति प्रार्थयते—मा गच्छेति। भो आदिकिरात आदिव्याध! अत एव गिरिश गिरौ शयान! स्वामिन् सर्वाध्यक्ष! त्वमितस्ततः मा गच्छ मैव व्रज। मयि वासं कुरु। मल्लभ्यं फलमिह नास्तीति चेदस्तीत्याह—मामकमनः कान्तारसीमान्तरे मदीयमन एव कान्तारम् इतरदुर्गमो वनप्रदेशः तस्य सीमान्तरे मर्यादामध्ये मदजुषः अस्मान् जेतुं कोऽपि न समर्थ इति गर्वभाजः मात्सर्यमोहादयः मात्सर्यं मत्सरभावः अन्यस्मिन् अकारणतः प्रद्वेषः। मोहः अनात्मनि अहंबुद्धिः अहङ्कार इति यावत्। तदादयो दोषाः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याख्याः एव मृगाः वनजन्तवः बहुशो बाहुल्येन प्रवर्तन्ते। तान् हत्वा हिंसित्वा मृगयाविनोदरुचितालाभं मृगार्थमटनं मृगया तया विनोदः कालयापनं तस्मिन् रुचिरिच्छा यस्य सः तस्य भावः तत्ता तस्या लाभः फलं मृगहननं तं च संप्राप्स्यसि यथेच्छं लप्स्यसे। भवत इष्टलाभात् हेतोः मय्येव वासं कुर्विति प्रार्थयितुस्तात्पर्यम्। विनोदमचिरादागत्य संप्राप्स्यसीति पाठे अचिरात् क्षिप्रमेव आगत्य एत्य मृगयाविनोदं संप्राप्स्यसीत्यर्थः॥ ४३॥[2]

महादेवं सिंहत्वनिरूपणेन स्तौति—करलग्नेति। पञ्चमुख एव पञ्चमुख। पञ्च मुखानि यस्येति व्युत्पत्त्या परमेश्वरः, अन्यत्र पञ्चमुखः

---

१. रूपकालङ्कारः हेत्वलङ्कारश्च।

२. रूपकं प्रतिषेधश्च।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्तमुखः सिंहः पचि व्यक्तीकरणे इति धातोः कर्तरि अच्प्रत्यये पञ्चेति रूपसिद्धिः। मे मम चेतःकुहरे चेत एव चित्तमेव कुहरः गिरिगुहा तत्रास्ति। एवं सति भीतिः (भीः) भयं कुतः कस्माद् भयं भविष्यति ? न कुतोऽपीत्यर्थः। स कथंभूत इत्याकाङ्क्षायामाह— करलग्नमृगः करे हस्ते लग्नः सम्बद्धः मृगो यस्य स तथोक्तः। करीन्द्रभङ्गः करीन्द्रस्य करिश्रेष्ठस्य, अन्यत्र गजासुरस्य, भङ्गो येन स तथोक्तः। व्यधिकरणबहुव्रीहिः। घनशार्दूलविखण्डनः घनो बलवान् यः शार्दूलो व्याघ्रः, अन्यत्र व्याघ्रासुरः, तं विविधं खण्डयतीति छिनत्तीति तथोक्तः। अस्तजन्तुः अस्ताः निरस्ताः जन्तवो येन. अन्यत्र अस्ताः स्वरूपे लीनाः जन्तवो यस्य स तथोक्तः। गिरिशः गिरौ शयानः, गिरिशत्वमुभयत्र तुल्यमेव। विशदाकृतिः विशदा धवला आकृतिः यस्य, इदमप्युभयत्र तुल्यमेव। स्पष्टार्थोऽयम् ॥ ४४ ॥[1]

परमशिवपादयुगलीनीडे चेतःपक्षिसंचारं प्रार्थयते—छन्द इति। हे चेतःपक्षिशिखामणे ! चेतः चित्तमेव पक्षिशिखामणिः पक्षिश्रेष्ठः तस्य संबुद्धिः। त्वं छन्दश्शाखिशिखान्वितैः शाखा एषां सन्तीति शाखिनः, छन्दांस्येव शाखिनो वृक्षाः तेषां शिखा इव शिखाः उपनिषदः ताभिरन्वितैः सम्बद्धैः तद्विद्भिरित्यर्थः। द्विजवरैः ब्राह्मणोत्तमैः तैरेव पक्षिश्रेष्ठैः संसेविते सम्यगाश्रिते शाश्वते नित्ये नाशरहित इत्यर्थः। सौख्यापादिनि सुखसंपादिनि सुधासारैः सुधाया इव सारो रसो येषां तैः फलैः ज्ञानवैराग्यादिभिः तैरेव फलैः वृक्षे खेदभेदिनि खेदं संसारदुःखं भिनत्ति छिनत्तीति तद्भेदिनि, अन्यत्र क्षुधाजन्यशोकभेदिनि, दीपिते संजातप्रकाशे शङ्करपादपद्मयुगलीनीडे पादौ पद्माविव पादपद्मौ शङ्करस्य शिवस्य पादपद्मौ शङ्करपादपद्मौ तयोर्युगली द्वन्द्वं सैव नीडः कुलायः तस्मिन् विहारं कुरु संचारं विधेहि। अन्यैः इतरदेवसम्बन्धिपादयुगलीनीडैः अलम्। ते उपेक्षणीया इति भावः। तत्र वृथा विफलं संचारं त्यज परिहर। परमशिवपादारविन्दविषयमेव मन्मनोऽस्त्विति तात्पर्यम् ॥ ४५ ॥[2]

---

१. कार्यात्कारणजन्मोक्तेः विभावनालङ्कारः। 'विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्'। मालभारिणीयं छन्दः।

२. कार्यात्कारणजन्मोक्तेः विभावनालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः। इत आरभ्य सप्तषष्टितमश्लोकपर्यन्तमिदमेव वृत्तं विद्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानसराजहंसस्य गौरीरमणाङ्घ्रिसौधान्तरे वासं विधत्ते—आकीर्ण इति। हे **मानसराजहंस!** हंसानां राजा राजहंसः 'राजदन्तादिषु परमि'ति उपसर्जनस्योत्तरनिपातः, हंसश्रेष्ठ इत्यर्थः। मानसमेव राजहंसः तस्य संबुद्धिः। **नखराजिकान्तिविभवैः** नखानां राजिः पङ्क्तिः तस्याः कान्तिः द्युतिः तस्या वैभवैः (विभवैः) विभूतिभिः समृद्धिभिरित्यर्थः। **आकीर्णे** व्याप्ते। **उद्यत्सुधावैभवैः** उद्यतः नित्याभ्युदयं प्राप्नुवतः मूर्ध्नि स्थितस्य चन्द्रस्य सुधाः अमृतमयकिरणाः तासां वैभवैः व्याप्तिभिः। अन्यत्र सुधा एव सुधा दग्धशर्कराचूर्णानि तासां विभवैर्व्याप्तिभिः। **आधौते** धवलिते। **अपि च** किं च **पद्मरागललिते** पद्मस्य राग इव रागः कान्तिविशेषः स एव पद्मरागाख्यरत्नविशेषः तेन ललिते खचिते। **हंसव्रजैराश्रिते** हंसा हंसमन्त्रार्थध्यानपराः त एव हंसाः हंसपक्षिणः तेषां व्रजैः समूहैः आश्रिते उपासिते, अन्यत्र आश्रिते आक्रान्ते। **गिरिजानाथाङ्घ्रिसौधान्तरे** गिरिजानाथस्य पार्वतीनाथस्य अङ्घ्रिरेव सौधः प्रासादः तस्यान्तरे अन्तर्विद्यमाने गृहे 'तत्र भव' इत्यण्, आदिवृद्धिश्च। **रहसि** आवृतस्थाने **भक्तिवधूगणैः** सह, भक्तय एव वध्वः भार्याः तासां गणाः सङ्घाः तैः सह, **नित्यं** सदा **स्वेच्छाविहारं** स्वच्छन्दक्रीडां **कुरु** विधेहि। महादेवस्य पादारविन्दसेवाजन्यसुखं प्रियतमासङ्गजन्यसुखसदृशमिति भावः॥ ४६॥[1]

हृदयारामे आरामलक्षणानि सन्तीत्याह—शम्भुध्यानेति। **शम्भुध्यानवसन्तसङ्गिनि** शम्भुध्यानमेव वसन्तः वसन्तसमयः तेन सङ्गः सम्बन्धोऽस्यास्तीति तथोक्ते। **हृदारामे** हृदयोद्याने। **त्रस्ताः** च्युताः **अघजीर्णच्छदाः** अघानि पापान्येव जीर्णपत्राणि ते। **विलसिताः** शोभमानाः **पुण्यप्रवालश्रिताः** पुण्यान्येवप्रवालानि किसलयानि श्रिताः प्राप्ताः 'द्वितीया श्रिते' त्यादिना द्वितीयातत्पुरुषः। **गुणकोरकाः** सद्गुणा एव कोरकाः कुड्मलाः यासां ताः। जपवचांसि (अ-)व्यक्तवर्णोच्चारणानि तान्येव पुष्पाणि यासां ताः। **सद्वासनाः** सतां साधुकर्मणां वासना संस्कारः सैव वासना गन्धः यासां ताः। **भक्तिलताच्छटाः** भक्तय एव लता व्रततयः तासां छटाः संङ्घाः ताश्च **ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी** ज्ञानं च आनन्दश्च ज्ञानानन्दौ सुधा अमृतं मरन्दः मधु सा च स च तौ ज्ञानानन्दावेव सुधामरन्दौ तयोर्लहरी प्रवाहः सा च **संवित्फलाभ्युन्नतिः** संवित्

---

1. विभावनालङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मज्ञानं तदेवं फलं तस्याभ्युन्नतिः वृद्धिः सा; एते सर्वे दीप्यन्ते प्रकाशन्ते। मम हृदयमुद्यानसर्वगुणसपन्नमिति भावः॥ ४७॥[1]

मनसः शिवध्यानाश्रयणमेव सर्वोत्तमफलदायकमिति निर्णीय अन्यदेवताश्रयणव्यावृत्तिं कुर्वन्नाह—नित्यानन्देति। हे मनोहंसावतंस! हंसानाम् अवतंसः श्रेष्ठः राजहंसः मन एव हंसावतंसः तस्य संबुद्धिः। नित्यानन्दरसालयं नित्यानन्दः शाश्वतानन्दः स एव रस उदकं तस्यालयं स्थानं सुरमुनिस्वान्ताम्बुजाताश्रयं सुराश्च देवाश्च मुनयश्च परमहंसाश्च तेषां स्वान्तानि हृदयानि तान्येव अम्बुजातानि जलजानि तेषामाश्रयम् आलयं, स्वच्छं मलरहितम्, अन्यत्र विजातीयप्रत्ययानन्तरितम्, सद्द्विजसेवितं सन्तश्च ते द्विजाः ब्राह्मणादयश्च त्रयो वर्णाः तैः सेवितम्, अन्यत्र सद्द्विजाः राजहंसाः तैः सेवितम् कलुषहृत् कलुषाणि पापानि हरतीति कलुषहृत्, अन्यत्रापि समानमेव। सद्वासनाविष्कृतं सतां साधुकर्मणां वासनया संस्कारेण आविष्कृतम् प्रकटितम्, अन्यत्र सद्वासना सुगन्धः तेनाविष्कृतं प्रकटितम्। शम्भुध्यानसरोवरं शम्भोर्ध्यानं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहः तदेव सरोवरं वरं सरः श्रेष्ठं सर इत्यर्थः। तत् त्वं व्रज गच्छ। स्थिरं ध्यानसरोवरं स्थिरं, प्रसिद्धं सरः अस्थिरमिति भावः। क्षुद्राश्रयपल्वलभ्रमणसंजातश्रमं क्षुद्राः उभयतारतम्यानभिज्ञाः तेषामाश्रयः पापेभ्यः तारणसमर्थं न मुक्तिदमित्यर्थः। तादृशं यत् पल्वलं शम्भुध्यानसरोवरादल्पं तदुद्दिश्य यत् भ्रमणं संचारस्तेन जातः यः श्रमः तं किं किमर्थं प्राप्स्यसि गमिष्यसि? बहिरङ्गसाधनं परित्यज्य अन्तरङ्गसाधनमनुतिष्ठेति भावः॥ ४८॥[2]

शिवभक्तिसाध्यं फलं प्रार्थयते—आनन्दामृतेति। आनन्दामृतपूरिता आनन्दः शिवभक्तौ प्रीतिः स एवामृतमम्भः तेन पूरिता सन्तर्पिता। हरपदाम्भोजालवालोद्यता शिवपदाम्भोजमेव आलवालः आश्रयभूमिः तस्मादुद्यता ऊर्ध्वं प्रसृता वृद्धिं गतेत्यर्थः। स्थैर्योपघ्नं स्थैर्यं स्थिरभावः एव उपघ्नः आश्रयः उपष्टम्भदारुविशेषः तमुपेत्य अवष्टभ्य शाखोपशाखान्विता शाखाः महाशाखा उपशाखा अल्पशाखाः अवयवविशेषा इत्यर्थः, ताभिरन्विता संयुता। उच्चैर्मानसकायमानपटलीम् उत्कृष्टानि च तानि मानसानि च तान्येव कायमानानि लतारोहणार्थं कल्पितच्छदींषि तेषां पटली समूहः तामाक्रम्य आरुह्य निष्कल्मषा शैथिल्या-

१. विभावनालङ्कारः। २. हेत्वलङ्कारः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिदोषरहिता सत्कर्मसंवर्धिता सत्कर्मभिः पुराकृतपुण्यविशेषैः संवर्धिता वृद्धिं प्रापिता, अन्यत्र दोहदादिभिर्वर्धिता ओषधिवर्धकसंस्कारैरित्यर्थः । भक्तिलतिका भक्तिः सेवा सैव लतिका लता, स्वार्थे कः । मे मम नित्याभीष्टफलप्रदा अभीष्टफलम् ऐच्छिकफलम् नित्यं शाश्वतं च तदभीष्टफलं च तत् प्रकर्षेण ददातीति सा भवतु अस्तु ॥ ४९ ॥[1]

अधुना श्रीशैलवासिनं शिवं भजते—सन्ध्येति । श्रीगिरिमल्लिकार्जुनमहालिङ्गं श्रीगिरौ श्रीशैले विद्यमानं मल्लिकार्जुनमहालिङ्गं मल्लिकावल्लचा संश्लिष्टार्जुनवृक्षसदृशं महालिङ्गं लीनं सूक्ष्मं परमात्मानं गमयतीति लिङ्गम्, अत एव महत्, तल्लिङ्गम् अहं सेवे भजे इति क्रियान्वयः । तत् कीदृशम् ? शिवालिङ्गितं शिवया पार्वत्या आलिङ्गितं पीठिकारूपया शक्त्या आविष्टमिति भावः । उभयोरुपमानोपमेयभूतयोः अर्जुनमहालिङ्गयोः तुल्यधर्मान् प्रतिपादयितुं श्लिष्टविशेषणैः अर्जुनमहालिङ्गं विशिनष्टि—सन्ध्यारम्भविजृम्भितं सन्ध्यायाः सायंसन्ध्याकालस्य आरम्भे प्रादुर्भावे शोभितं । श्रुतिशिरस्स्थानान्तराधिष्ठितं श्रुतीनां वेदानां शिरस्स्थानानि उपनिषदः शैलादन्यानि स्थानानि स्थानान्तराणि अस्वपदविग्रहः, तान्यधिष्ठायाभिधेयतासंबन्धेन स्थितम् कर्तरि क्तः, अन्यत्र श्रुतिश्च शिरश्च श्रुतिशिरसी कर्णमूर्धानौ तयोः स्थानान्तरं स्थानभेदः तदधिष्ठाय स्थितं स्वावयवैः पुष्पैरित्यर्थः । सप्रेमभ्रमराभिरामं प्रेमयुक्तया भ्रमरया भ्रमराम्बिकयाऽभिन्नशक्त्या अभिरामं मनोजम्, अन्यत्र प्रेमसहितचञ्चरीकैः अभिरामम् । असकृत् सर्वदा । सद्वासनाशोभितम् सतां साधूनां वासनया भावनया शोभितं व्याप्तम्, अन्यत्र सद्वासनया साधुगन्धेन शोभितं प्रकाशितं । भोगीन्द्राभरणं सर्पभूषणम्, अन्यत्र भोग एषामस्तीति भोगिनः तेषामिन्द्राः श्रेष्ठाः विषयानुभवितारः तेषामाभरणं भूषणं । समस्तसुमनःपूज्यं समस्तैः सुमनोभिः देवैर्विद्वद्भिश्च पूज्यम्, अन्यत्र सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यः पूज्यं पूज्यकुसुमविशिष्टम् गुणाविष्कृतं गुणेन सत्त्वगुणसंबन्धेन आविष्कृतं प्रकाशितम्, अन्यत्र गन्धादिगुणैराविष्कृतं प्रकाशितम् । एतादृशलिङ्गं सेवे इति क्रियायामन्वयः । मल्लिकार्जुनमिति विभक्तिपरिणामेन विशेषणानां तत्राप्यन्वयः । स्पष्टार्थोऽयम् ॥ ५० ॥[2]

---

१. हेत्वलङ्कारः । २. रूपकालङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भ्रमराधिपतित्वनिरूपणेन स्वमनोराजीवे विहरणं प्रार्थयते— भृङ्गीति। विविधं भवतीति विभुः। 'सोऽकामयत, बहु स्यामिति' श्रुतेः। **श्रीशैलवासी** भक्तानुग्रहाय लिङ्गरूपेण श्रीशैलवासी। **भ्रमराधिपः** भ्रमराम्बिकाया अधिपः स एव भ्रमराधिपो भृङ्गराजः। मन्मन एव राजीवं पद्मं तस्मिन् विहरतां सञ्चरतु भृङ्गाणां राजीववासस्वाभाव्यात्। तमेव श्लिष्टविशेषणैः विशिनष्टि—**भृङ्गीच्छानटनोत्कटः** भृङ्गिणः भक्तविशेषस्येच्छया नटने नर्तने उत्कटः उत्कटेच्छः, अन्यत्र भृङ्गजातेः इच्छायाः अपेक्षायाः नटनेऽनुकरणे उत्कटः उत्कटेच्छः। **करिमदग्राही** करिणो गजासुरस्य मदः बलवत्ताभिमानः तं गृह्णाति तत्संहरणेन हरतीति तथोक्तः। अन्यत्र करिणां गजानां मदः मदजलं तद्ग्रहणशीलः, ताच्छील्ये णिनिः। **स्फुरन्माधवाह्लादः** माधवे मोहिनीरूपापन्ने आह्लादः प्रवृत्त्यौत्सुक्यं स्फुरन् प्रकाशमानः माधवाह्लादो यस्य, अन्यत्र माधवे वसन्ते आह्लादः आनन्दः स्फुरन् माधवाह्लादो यस्य। **नादयुतः** प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेनप्रणवनादसहितः। अन्यत्र झङ्कारध्वनियुतः। **महासितवपुः** सितं शुभ्रं वपुर्यस्य सः महांश्चासौ सितवपुश्चेति तथोक्तः, अन्यत्र असितं नीलं वपुर्यस्य महांश्चासौ नीलवपुश्चेति तथोक्तः। **पञ्चेषुणा चादृतः** पञ्चेषुणा मन्मथेन आदृतः स्वबाणलक्ष्यत्वेन निश्रितः, अन्यत्र आदृतः स्वसहायत्वेन निश्रितः। **सुमनोवनेषु सत्पक्षः** सुमनसां देवानामवनेषु रक्षणेषु सत्पक्षः सन् पक्षः अभिमानो यस्य तथोक्तः, अन्यत्र सुमनसां पुष्पाणां वनेषु उद्यानादिषु सन् विद्यमानः पक्षोऽभिमानो यस्य स तथोक्तः। **साक्षात्** चक्षुरादीन्द्रियविषयः, उभयत्र तुल्यार्थकमिदम्। एवंभूतः सः **श्रीशैलवासी भ्रमराधिपतिः** विहरतामिति पूर्वेणान्वयः। सर्वदा मनसि आत्यन्तिकसंयोगेन तिष्ठतु इति भावः॥ ५१॥[1]

मेघत्वेन निरूप्यमाणं[2] शंकरं मे मनश्चातको वाञ्छतीत्याह— **कारुण्यामृतेति**। हे **नीलकन्धर**! नीलः कन्धरः ग्रीवा यस्य तस्य संबुद्धिः, अन्यत्र धरतीति धरः कस्य जलस्य धरः कन्धरः मेघः नीलश्चासौ कन्धरश्च नीलकन्धरः तस्य संबुद्धिः। **शम्भो** सुखोत्पत्तिकारणभूत! **त्वां भवन्तं सदा** सर्वदा **मे** मम **मनः** चेत एव **चातकः** पतन्मेघबिन्दुभक्षणः पक्षिविशेषः **वाञ्छति** इच्छति। त्वद्दर्शनेन वाञ्छितमर्थं प्राप्तुमिच्छतीति भावः। कथंभूतं **त्वाम्**? इत्याकाङ्क्षा-

---

१. सर्वावयवरूपकं हेत्वलङ्कारश्च। २. अतोत्रापि रूपकम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यामाह—**कारुण्यामृतवर्षिणं** कारुण्यमेव अमृतं तद्वर्षणशीलम्, अन्यत्र कारुण्यादमृतमुदकं वर्षति तच्छीलमस्येति कारुण्यामृतवर्षिणम् । **घनविपद्ग्रीष्मच्छिदाकर्मठं** घना महती विपत् क्षयदुःखं सैव ग्रीष्मः अतितापः तस्य च्छिदा छेदनं । '(षिद्-)भिदादिभ्योऽङ्'इत्यङ्प्रत्ययः, स्त्रीलिङ्गता च । तस्यां कर्मठं कर्मशूरं तच्छेदनसमर्थमित्यर्थः, अन्यत्र घना महती विपत् सस्यादिशोषणरूपा यस्य सः घनविपत् स चासौ ग्रीष्मः तस्य छिदा छेदनं तस्यां कर्मठं तद्भेदनसमर्थमित्यर्थः । **विद्यासस्यफलोदयाय** विद्यैव सस्यं तस्य फलं ब्रह्मानन्दानुभवः तस्योदयः उत्पत्तिः तस्मै । **सुमनस्संसेव्यं** सुमनोभिः देवैर्विद्वद्भिश्च संसेव्यं सम्यक् सेवितुमर्हम्, अन्यत्र सस्यफलोदयाय सुमनोभिः शोभने सस्यादिफले मनो येषां ते सुमनसः कर्षकाः तैः संसेव्यं सम्यगपेक्षितुमर्हम् । **इच्छाकृतिं** स्वेच्छया प्राप्याकारम्, उभयत्र समानमेवेदम् । **नृत्यद्भक्तमयूरं** भक्ता एव मयूराः केकिनः नृत्यन्तो भक्तमयूरा यस्य दर्शनेन तथोक्तम्, अन्यत्र भक्ताः मेघे प्रीतिमन्तः, 'अर्शआदिभ्योऽजि'ति भक्तशब्दादच्प्रत्ययः । ये मयूराः भक्ताश्च ते मयूराश्च भक्तमयूराः नृत्यन्तो भक्तमयूरा यस्य पुरतः स तथोक्तः । **अद्रिनिलयं** अद्रिः कैलासः स एव निलयो निवासो यस्य तथोक्तम् । अन्यत्र चैष एवार्थः । वर्षाकालेऽत्र मेघानामवस्थानस्य प्रत्यक्षदृष्टत्वाददद्रिनिलयत्वोपपत्तिः । **चञ्चज्जटामण्डलं** जटानां केशपाशानां मण्डलः चञ्चज्जटामण्डलो यस्य तथोक्तम्, अन्यत्र जटानां विद्युतां मण्डलः चञ्चज्जटामण्डलो यस्य तथोक्तम् एतादृशं त्वामिति क्रियायामन्वयः ॥ ५२ ॥

महादेवं मयूरत्वनिरूपणेन स्तौति—**आकाशेनेति** । **नीलकण्ठं** नीलः कण्ठो यस्येति उभयत्रापि तुल्या व्युत्पत्तिः । नीलकण्ठमेव नीलकण्ठं मयूरं भजे । कथंभूतं नीलकण्ठमित्याकाङ्क्षायामाह यः मयूरत्वेन निरूपितः **आकाशेन शिखी** शिखास्यास्तीति शिखी आकाशेन शिखी व्योमकेशत्वात् । **समस्तफणिनां नेत्रा** समस्तसर्पाणामधिपतिना आदिशेषेण **कलापी** कलापोऽस्यास्तीति कलापी 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । **नतानुग्राहिप्रणवोपदेशनिनदैः** नतान् अन्तःप्रवणमनस्कान् अनुगृह्णाति तच्छीलमस्येति व्युत्पत्त्या नतानुग्राही नतानुग्रहणशील इत्यर्थः । स चासौ प्रणवश्च तस्योपदेशो विज्ञापनं तज्जन्यनिनदैः ध्वनिभिः **केकीति च गीयते** । त्रिभिर्विशेषणैः शिखित्वकलापित्व-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केकित्वरूपधर्माः परमशिव उपपाद्यन्त इति भावः। श्यामां श्यामलवर्णां, घनरुचिं घनस्य मेघस्येव रुचिः कान्तिः यस्याः ताम्। शैलसमुद्भवां शैलः समुद्भव उत्पत्तिहेतुः यस्यास्तां दृष्ट्वा मुदा सन्तोषेण नटन्तं नृत्यन्तं, घनरुचिं मेघशोभां दृष्ट्वा नटन्तमिति मयूरपक्षे। वेदान्तोपवने वेदान्तः उपनिषत् स एवोपवनं क्रीडावनं तस्मिन्। विहाररसिकं सरसं, तं नीलकण्ठम् अहं भजे इति क्रियायामन्वयः। स्पष्टार्थोऽयम् ॥ ५३ ॥[1]

पार्वतीपरमेश्वरौ मयूरीमयूरत्वनिरूपणेन स्तौति—सन्ध्येति। सन्ध्या सायंकालसमय एव घर्मदिनात्ययः घर्मदिनानि ग्रीष्मर्तुदिवसाः तान्यतियन्ति यस्मिन्निति स घर्मदिनात्ययः मेघप्रादुर्भावकाल इत्यर्थः। हरिकराघातप्रभूतानकध्वानः हरेः विष्णोः कराभ्यां य आघातः ताडनं तेन प्रभूतः प्रकर्षेणोत्पन्नः आनकस्य वाद्यविशेषस्य ध्वानः ध्वनिः स एव वारिदगर्जितं मेघस्तनितं दिविषदां देवानां दृष्टिच्छटा दृष्टीनां वीक्षणानां छटा समूहः सैव चञ्चला विद्युत्। भक्तानां सेवमानानां परितोषबाष्पाः आनन्दाश्रूणि तेषां विततिः धारा सैव वृष्टिः जलोत्सर्गः। शिवा पार्वती सा मयूरी, पुंयोगे ङीष्। नीलकण्ठ एव नीलकण्ठः पुमान् मयूरः तं भजे। यस्मिन् नीलकण्ठे उज्ज्वलताण्डवम् उज्ज्वलं प्रकाशमानं ताण्डवं नटनं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते। स्वलिङ्गसहितो वर्षर्तुः यथा मयूराणामानन्दताण्डवहेतुः एवं सन्ध्यासमयः पार्वतीपतेरानन्दताण्डवहेतुरिति भावः। तत्समये तस्य सायंनटत्वप्रसिद्धेः। नीलकण्ठे मयूरत्वारोपणमात्रेण प्रकृतालंकारपूर्तौ सत्यां शिवायां मयूरीत्वारोपणं तस्या अपि स्तुतिकोटिप्रवेशं द्योतयति। शिवायाः यद्यपि भजनक्रियायां नान्वयः तथापि तस्याः पृथङ् मयूरीत्वारोपणे स्तुतिविषयतां विना अन्यत् फलं न पश्यामः ॥ ५४ ॥[2]

शुद्धरूपं शम्भुं नमस्करोति—आद्यायेति। शंभवे शं सुखम् अस्माद् भवतीति शम्भुः तस्मै। सा या नतिः सर्वोद्देश्यका भाति लोके सेयं शम्भवे नतिः शम्भूद्देश्यका भवत्विति प्रार्थना। सर्वोद्देश्यकाया नतेः शम्भुमात्रोद्देश्यकत्वप्रार्थना कथं घटत इति चेत्? तस्यैव कृत्स्नजगत्कारणत्वेन सर्वात्मकत्वाद् घटत इत्याह—आद्याय कृत्स्नजगदुत्पत्तेः पूर्वं विद्यमानाय नित्यायेत्यर्थः। तत् कुत इति चेदाह—अमिततेजसे अमितम् अपरिच्छिन्नं तेजो ज्योतिः तत्स्वरूपाय। तत् केन

१. सर्वावयवरूपकम्। २. रूपकं हेत्वलङ्कारश्च।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद्यत इति चेदाह—**श्रुतिपदैः** वेदवाक्यैः **वेद्याय** बोध्याय । अर्चादिरूपेण कथं दृश्यत इति चेदाह—**साध्याय** भक्तानुग्रहार्थं प्रतिष्ठाप्याय । तत्स्वरूपं किमिति चेदाह—**विद्यानन्दमयात्मने** विद्या चिद् आनन्दः सुखं तन्मयः तदभिन्न आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै स्वार्थे मयट् । तस्य लीलामयं व्यापारमाह—**त्रिजगतः संरक्षणोद्योगिने** त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तस्य संरक्षणे उद्योगिने प्रवृत्तिमते । स योगैकगम्य इत्याह—**अखिलयोगिभिः** अखिलैः योगिभिः समाधिमद्भिः **ध्येयाय** ध्यातुमर्हाय । एवं भूतः कैर्गीयत इति चेदाह—**सुरगणैः** देवसङ्घैः **गेयाय** गातुं योग्याय । तस्य नित्यशक्तियोगमाह—**मायाविने** माया चिच्छक्तिः सास्यास्तीति मायावी 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिः । **सम्यक्ताण्डवसंभ्रमाय** सम्यक्ताण्डवं समीचीननर्तनं तस्मिन् संभ्रमस्त्वरा यस्य तस्मै । **जटिने** जटा अस्य सन्तीति जटी तस्मै भक्तानुग्रहार्थं मुनिरूपमाश्रयमाणायेत्यर्थः । तस्मै नतिरिति क्रियान्वयः । स्पष्टोऽर्थः ।। ५५ ।।[1]

सकलप्रपञ्चस्वरूपिणं परमशिवं स्तौति—**नित्यायेति** । **नित्याय** ध्रुवाय चलनरहितायेत्यर्थः । **त्रिगुणात्मने** त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि आत्मानः शरीराणि यस्य तस्मै ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मन इत्यर्थः । **पुरजिते** पुराणि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि तानि जयति अभिभवतीति पुरजित् तस्मै । अथवा प्रसिद्धानि त्रीणि पुराणि "तेषामसुराणामि"त्यर्थवादसिद्धानि तानि जयति अभिभवतीति पुरजित् तस्मै । **कात्यायनीश्रेयसे** कात्यायन्याः पार्वत्याः श्रेयसे तपःफलरूपाय । **सत्याय** कालत्रयाबाध्याय । **आदिकुटुम्बिने** प्राथमिकसंसारिणे भक्तानुग्रहाय कुटुम्बिवेषधारिण इत्यर्थः । **मुनिमनःप्रत्यक्षचिन्मूर्तये** मुनीनां मनांसि तेषां प्रत्यक्षो गोचरः चित् मूर्तिः चित् शरीरं यस्य तस्मै । **मायासृष्टजगत्त्रयाय** जगतां त्रयं जगत्त्रयम् मायया सृष्टं मायासृष्टं, मायासृष्टं जगत्त्रयं येन तस्मै **सकलाम्नायान्तसंचारिणे** सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यायेति भावः । **सायं ताण्डवसंभ्रमाय** तुरीयपादस्य पूर्ववदेवार्थः ।। ५६ ।।[2]

सेवापरिज्ञानशून्योऽप्यहम् अवश्यं संरक्षणीय इत्यत्र हेतुमाह—**नित्यमिति** । **नित्यम्** अनवरतं **स्वोदरपोषणाय**[3] स्वोदरं स्वकुक्षिः तस्य पोषणाय तदादिसर्वाङ्गानां पुष्टिकारणाय **वित्ताशया** धनवाञ्छया

---

१. परिकरालङ्कारः । 'अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे ।'

२. हेत्वलङ्कारः । ३. स्वोदरपूरणायेत्यन्यत्र पाठः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकलानुद्दिश्य सर्वान् वित्तवतः निमित्तीकृत्य व्यर्थं निष्प्रयोजनं पर्यटनं परितः संचरणं करोमि रचयामि । मत्सेवाकरणेन सप्रयोजनं क्रियतामिति चेत् ? तत्राह—हे विभो सर्वव्यापक ! ईदृशस्य भवतः सेवा भजनं न जाने । तर्हि किं कर्तव्यमिति प्रार्थयसे इति चेत् ? तत्राह—हे पशुपते पशूनां ब्रह्मादिनामान्तानां सर्वेषां पते पालक ! हि यस्मात् । मज्जन्मान्तरपुण्यपाकबलतः मम जन्मान्तरेषु अन्येषु जन्मसु कृतानि यानि पुण्यानि तेषां पाकबलतः पाकः फलप्रदानोन्मुखत्वं तद्वशात् । हे शर्व भक्तपापहिंसक ! त्वं सर्वान्तरः अन्नमयादिभ्यः कोशेभ्य आन्तरः सूक्ष्मत्वेन अन्तर्यामितया तिष्ठस्येव स्थितिं करोष्येव । तेन वा हेतुना ते त्वया, कर्तरि षष्ठी, अहं रक्षणीयोऽस्मि रक्षितुं योग्यो भवामि । स्पष्टार्थोऽयम् ।। ५७ ।।[1]

अज्ञानरूपप्रतिबन्धभेदनपूर्वकं पशुपतिसाक्षात्कारं प्रार्थयते—एक इति । हे पशुपते अज्ञानवारक ! वारिजबान्धवः पद्मबन्धुः एकोऽद्वितीयः सन् क्षितिनभोव्याप्तं क्षितिर्भूमिः नभ आकाशं च क्षितिनभसी ते व्याप्तं व्याप्य स्थितं तमोमण्डलम् अन्धकारसमूहं भित्त्वा छित्त्वा लोचनगोचरोऽपि चक्षुर्विषयोऽपि भवति । त्वं तु कोटिसूर्यप्रभः अपरिमितसूर्याणां प्रभेव प्रभा यस्य तथोक्तः । त्वं वेद्यः ज्ञानविषयः किं न भवसि किमिति न भवसि ? घनतरमतिशयेन सान्द्रमपि मत्तमः मम अज्ञानरूपं तमः कीदृक् त्वं वा कियतीत्यर्थः ।[2] तत् तस्मात् सर्वं कृत्स्नं पूर्वोक्तं तमः व्यपनीय अपनोद्य साक्षात् प्रत्यक्षः प्रसन्नः अनुग्राहकश्च भव एधि । एकस्मिन्नेव सूर्ये सकलजनप्रत्यक्षे समस्ततमोभेदिनि च सति तत्कोटिसदृशस्त्वम् अप्रत्यक्षः अतमोभेदी च भवसीति यत् तत् चित्रम् । तस्मात् प्रत्यक्षः तमोनिवर्तकश्च भवेति भावः ।। ५८ ।।[3]

सोपमानं त्वत्पादारविन्दभजनं मन्मनो वाञ्छतीति प्रार्थयते—हंस इति । हे पशुपते ! हे विभो ! हे गौरीनाथ ! हंसः पद्मवनं कमलषण्डं यथा समिच्छति वाञ्छति, चातकः जलदोत्सृज्यमानोदकबिन्दूनपेक्षमाणः पक्षिविशेषः नीलाम्बुदं वर्षुकं मेघं यथा वाञ्छति समिच्छति, कोकः

---

१. हेत्वलङ्कारः ।

२. त्वं वा कीदृक् कीदृश इत्यभिप्रायो भाति ।

३. विषमालङ्कारः, विभावनालङ्कारश्च । 'विषमा वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः' इति विषमालङ्कारलक्षणम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चक्रवाकः कोकनदप्रियं पद्मबन्धुं सूर्यमित्यर्थः, यथा समिच्छति, चकोरः चन्द्रकिरणभुक् पक्षिविशेषः चन्द्रं यथा समिच्छति, तथा मामकं मदीयं चेतः चित्तं चिन्मार्गमृग्यं चिन्मार्गेषु उपनिषत्सु मृग्यमन्वेषणीयं कैवल्यसौख्यप्रदं कैवल्यम् केवलं निर्गुणं ब्रह्म तस्य भावः तत्त्वं तदेव सौख्यं सुखं तत् प्रददातीति तत्प्रदं भवत्पादाब्जयुगलं भवतः पदे अब्जे इव भवत्पादाब्जे तयोर्युगलं वाञ्छति अभिलषति । स्पष्टार्थोऽयम्।५९।[1]

.ासः सोपमानं शम्भोः पादाम्बुजभजनं विधत्ते– रोध इति । .वतः मानस ! तोयहृतः तोयेन वेगवता जलेन हृतः आकृष्टः पुरुषः रोधः .था व्रजति । पथिकः मार्गगामी श्रमेण ग्लान्या तरोः वृक्षस्य छायाम् अनातपं यथा, वृष्टितः वर्षात् भीतः भयं प्राप्तः पुरुषः स्वस्थगृहं स्वरित्यव्ययम्. सुखेन तिष्ठत्यस्मिन्निति स्वस्थं सुखावस्थानाधिकरणं गृहं यथा, अतिथिः वैश्वदेवान्ते अन्नापेक्षया ग्रामान्तरादागच्छन् पुरुषः गृहस्थं गार्हस्थ्यधर्मयुक्तं संसारिणं यथा, दीनः दारिद्रयतप्तः पुरुषः धार्मिकं धर्मानुसारिणं प्रभुं दानसमर्थं पुरुषं यथा, सन्तमसाकुलः सन्तमसेन गाढान्धकारेण पीड्यमानः दीपं यथा, शीतावृतः शीतेन हिमेन आवृतः व्याप्तः पुरुषः शिखिनम् अग्निं यथा, तथा त्वं सर्वभयापहं सकलभयघ्नं सुखं सुखकरं शम्भोः शिवस्य पदाम्भोरुहं व्रज प्राप्नुहि । दृष्टान्तभूतार्थजातं तत्तत्सङ्कटमात्रनिवर्तकं, दार्ष्टान्तिकं पदाम्भोरुहं तु सङ्कटसुखयोः निवर्तनप्रवर्तनहेतुत्वात् अवश्यगम्यमिति भावः ।।६०।।

भक्तिस्वरूपं निश्चिनोति–अङ्कोलमिति । निजबीजसन्ततिः निजानि च तानि बीजानि च तेषां सन्ततिः समूहः अङ्कोलम् अङ्कोलो वृक्षविशेषः तं यथा स्वयमेव प्राप्नोति । अस्य वृक्षविशेषस्य बीजानि परिपाककाले भूमौ पतित्वा पुरुषप्रयत्नं विनैव पुनः स्वस्थानं प्रविशन्ति इति प्रसिद्धिः । सूचिका अयोमयी सूक्ष्मशलाकिका अयस्कान्तोपलम् अयस्कान्तः स्वयं लोहकर्षणशक्तोपलविशेषः तं यथा, साध्वी पतिव्रता नैजम् आत्मीयं विभुं भर्तारं यथा, स्वयं लता व्रततिः क्षितिरुहं वृक्षं यथा, स्वयं सिन्धुः सरित् सरिद्वल्लभं नदीपतिमिह अत्र यथा प्राप्नोति, चेतोवृत्तिः चित्तस्य व्यावृत्तिः (प्रवृत्तिः ?) पशुपतेः महादेवस्य पादारविन्दद्वयं चरणपद्मयुगलं स्वयमुपेत्य सदा सर्वदा तथा तिष्ठतीति यत् सा

---

१. हेत्वलङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिः परमशिवे प्रीतिः तत्सायुज्यं मे भूयादिति प्रीतिरित्युच्यते अभिधीयते। भक्तिरेतादृशीति निश्चिनोमीति भावः ॥ ६१ ॥[1]

जननीवत् भक्तिः भक्तार्भकं रक्षतीत्याह—**आनन्दाश्रुभिरिति**। हे **देव** स्वप्रकाश स्वरूप! **भक्तिजननी** तव भक्तिरेव माता सा **भक्तार्भकं** भक्त एव अर्भकः शिशुः तं **भवद्भावनापर्यङ्के** भवतो भावना मनसि धारणं सैव पर्यङ्को मञ्चः तस्मिन् **विनिवेश्य** शाययित्वा **रक्षति** अवति। रक्षणप्रकारमाह—**आनन्दाश्रुभिः** सन्तोषबाष्पजलैः **पुलकं** रोमाञ्चं शिशुशरीरे **आतनोति** विस्तारयति। यथा माता शिशुप्रेम-जन्यनेत्रसलिलैः शिशुशरीरपतितैः शिशुशरीरे पुलकमुत्पादयति तथा स्वाश्रयनिष्ठचक्षुर्गलितैः तच्छरीरपतितैः पुलकं जनयतीति भावः। स्वाश्रयभक्त्योरभेदो विवक्षितः। **नैर्मल्यतः** भक्तशिशुनिष्ठनिर्मलभावेन **छादनं** शीतमशकादिपीडानिवर्तकं वस्त्ररूपं **कवचमातनोति**। नैर्मल्यत इत्यत्र सार्वविभक्तिकः तसिः। **वाचाशङ्खमुखस्थितैः** वाचा वेदादि-वाक् हलन्तानां भागुरेर्मुनेः आबन्तत्वस्येष्टत्वात् वाचाशब्दो न

१. अङ्कोलाख्यो वृक्षविशेषः क्वचिद्दक्षिणे प्रसिद्धः। तस्य बीजानि यदा पतन्ति तदा वृक्षमूल एव पतन्ति। तद् दृष्टान्तेन प्राक्कृतसुकृतवशात् कश्चिद् भगवदुपासने प्रवर्तते। स्वयमेव भगवन्तं सर्वमूलकारणमाश्रयते। द्वितीयो दृष्टान्तः अयस्कान्तोपलं सूचिकेति। यथा अयस्कान्तः सूचिकां स्वयमाकर्षति तथा भगवानेव कानिचित् शुभनिमित्तानि प्रदर्श्य भक्तं स्वयमाकर्षति। अत्र पूर्वापेक्षया भक्तेरुत्कर्षः। तृतीयः साध्वी नैज-विभुमिति। यथा साध्वी प्रोषितभर्तारं सदा चिन्तयन्ती तद्विघ्नं न सहते तथा भक्तः भगवतः भक्तिविघ्नं न सहते। चतुर्थः लता क्षितिरुहमिति। यथा लतां कश्चिदादातुमिच्छति चेत् तदा लता त्रुटचति, तथा भक्तस्य भगवच्चिन्तनस्य विघ्ने सति शरीरापायोऽपि संभाव्यते। पञ्चमः सिन्धुः सरिद्वल्लभमिति। यथा नदी प्रवहन्ती समुद्रं प्राप्य तेन सहाभेदं प्राप्नोति एकी भवति एवं दृढभक्तिबलाद् भक्तः अत्रैव शिवाभेदं प्राप्नोति इति भावः। अत्र दृष्टान्तः—यथा भागवते गोप्यः श्रीकृष्णान्तर्धानेन तद्विरहतप्ताः आत्मानं कृष्णं मन्यन्ते स्म। तदुक्तं—'कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्' इति। (भा० १०–३०–१४) अत्रोत्तरोत्तरभक्ति भूमिकासु उत्कर्षवर्णनात् सारालङ्कारः। भ्रमरकीटन्यायः पञ्चमभूमिकायां साधकः आचार्यैः अन्यत्र निबद्धः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शङ्कास्पदः। 'वष्टि भागुरिरल्लोप'मिति कारिकाऽत्र प्रमाणम्। सैव शङ्खः तन्मुखस्थितैः तन्निष्ठैः चरित्रामृतैः भवच्चरित्राण्येव अमृतानि क्षीराणि तैः जठरापूर्ति जठरस्योदरस्य आपूर्ति समन्तात् पूरणमातनोति। यथा शङ्खस्थितेन पयसा शिशूदरं पूरयति तथा भक्तिजननी पूर्वोक्तलक्षणैः त्वच्चरितामृतैः शिशोः क्षुधानिवृत्तिं संपादयतीति भावः। रुद्राक्षैः भसितेन भस्मना च वपुषः शरीरस्य रक्षाम् आतनोतीति सर्वत्रानुषज्यते। भक्तरक्षणविषये भक्तितुल्या रक्षिका नास्तीति भावः ॥ ६२ ॥[1]

शिवभक्तेः वैचित्र्यं वर्णयति-- मार्गेति। पशुपतेः शिवसंबन्धिनः अङ्गस्य अवयवस्य मार्गावर्तितपादुका मार्गेषु अध्वसु आवर्तिता असकृदनुभूता पादुका पादरक्षा कूर्चायते भ्रूमध्यस्थानायते भ्रूमध्यस्थानमिवाचरति। पुरिरिपोः त्रिपुरान्तकस्य अङ्गस्य गण्डूषाम्बुनिषेचनं मुखप्रवेशितजलनिषेचनं दिव्याभिषेकायते दिव्याम्बुनः गङ्गाजलस्य अभिषेक इवाचरति। किंचिद्भक्षितमांसशेषकवलं किंचिदीषत् भक्षितं खादितं मांसं पललं तस्य शेषः अवशिष्टांशः स एव कवलं ग्रासः तत् नव्योपहारायते नव्यो नूतनः उपहारः निवेद्यद्रव्यं स इवाचरति। वनचरो व्याधः भक्तावतंसायते भक्तश्रेष्ठ इवाचरति। सर्वत्राचारार्थे क्यङ्। भक्तिः किं किं न करोति सर्वं करोत्येवेति भावः। स्पष्टोऽर्थः। पादुका कूर्चायिते इत्यस्य कश्चन भक्तः आरब्धकालहस्तीश्वरपूजनः भक्त्यतिशयेन महादेवस्य प्रसादसिद्धये भक्तदृढतरभक्तिपरीक्षणाय स्वमुखस्थयोः नेत्रयोः साश्रुणोः प्रकटितयोः सतोः तत्स्थाने प्रशस्ते स्वीये नेत्रे उत्पाटय दित्सुः तन्नेत्रस्थानप्रत्यभिज्ञानाय स्वपादुकां भ्रुवोर्मध्यस्थाने निचिक्षेपेति पुराणप्रसिद्धिबलादुपपत्तिः ॥ ६३ ॥[2]

---

१. रूपकालङ्कारः

२. इत्थं हि शिवभक्तविजये कथा श्रूयते—कालहस्तीनामकक्षेत्रे अरण्यमध्ये शिवलिङ्गं प्रत्यहं भक्त्या अभिषेकपूर्वकं निवेदनादिना पूजयन् भगवति भक्तः कण्णप्पनामा आसीत्। कस्मिंश्चिद् दिवसे यदा स पूजां कर्तुं शिवलिङ्गसमीपं जगाम तदा लिङ्गे चक्षुःप्रदेशाद् रुधिरस्रावं दृष्ट्वा भगवतः चक्षुर्नष्टं तत्स्थानादेव च रुधिरं स्रवति इति निश्चित्य मदीयं चक्षुर्द्वयं भगवतेऽर्पयिष्यामि इति बुद्ध्या प्रथममेकं चक्षुरुद्धृत्य शिवलिङ्गे स्थापयामास। ततो द्वितीय-चक्षुःस्थापनाय स्वदेहात् तस्याप्युद्धरणे अन्ध-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वचेतःपादुकाविहरणं प्रार्थयते— वक्षस्ताडनमिति । अन्तकस्य यमस्य वक्षस्ताडनं वक्षसि उरसि ताडनं पादेन प्रहरणं, कठिनापस्मार-संमर्दनं कठिनः दुर्भेदः योऽपस्मारः स्वरूपाप्रत्ययः तस्य संमर्दनं निग्रहणं, भूभृत्पर्यटनं भूभृति रजताद्रौ पर्यटनं परिभ्रमणं नमत्सुरशिरः-कोटीरसंघर्षणं नमतां सुराणां शिरांसि तदलङ्कारभूतेषु कोटीरेषु संघर्षणं संस्पर्शनं हे गौरीपते पार्वतीपते हे शम्भो सुखदायक इदम् एतत् कर्म मृदुलस्य मार्दवयुक्तस्य तावकपदद्वन्द्वस्य तवेदं तावकं पदयोः द्वन्द्वं तच्च तथोक्तम् तस्य कर्म व्यापारः तं मच्चेतोमणिपादुकाविहरणं मणेः पादुका मणिपादुका मणिमयी पादुकेत्यर्थः । मच्चेतः मच्चितमेव मणिपादुका तया विहरणं मच्चेतोमणिपादुकाविहरणं सदा अनवरतम् अङ्गीकुरु स्वीकुरु पूर्वोक्तकठिनवक्षआद्यकसंघर्षणजन्यपीडानिवृत्तये अतिमृदुलमामकचित्तमणिपादुकाविहरणमङ्गीकृत्य मां त्रायस्वेति प्रार्थयितुरभिप्रायः ॥ ६४ ॥

परमंशिवपादपद्मं भजमानस्य दुर्लभराहित्यं प्रतिजानीते-वक्ष इति । हे भवानीपते पार्वतीरमण ! यच्चेतः यस्य पुरुषस्य चेतः चित्तं तव पादपद्मभजनं भवति तव ते पादपद्मभजनं पादपद्मसेवकं भवति जायते तं दृष्ट्वा वैवस्वतो यमः वक्षस्ताडनशङ्कया शिवभक्तद्रोहेण पूर्ववत् मम वक्षः परमशिवस्ताडयिष्यतीति शङ्कया विचलितः दूरं पलायितो भवति । निर्जराः वार्धक्यशून्याः देवाः कोटीरोज्ज्वलरत्नदीपकलिकानीराजनं कोटीरेषु उज्ज्वलाः प्रकाशमानाः रत्नानि दीपा इव रत्नदीपाः कोटी-रोज्ज्वलाश्च ते रत्नदीपाश्च तेषां कलिकाभिः अङ्कुरैः नीराजनं कोटीरोज्ज्वलरत्नदीपकलिकानीराजनं तत् तस्य कुर्वते विरचयन्ति । मुक्तिवधूः मुक्तिरेव वधूः अङ्गना तस्य निभृताश्लेषं दृढालिङ्गनं तनोति

त्वापत्त्या कुत्र चक्षुःस्थापनीयमिति ज्ञानाय स्वीयपादुकाद्वयं शिवलिङ्गोपरि स्थापितवान् । तदनन्तरं स्वखादितमांसशेषं निवेद्य गतः । सा कथाऽत्र निवध्यते ।

शिवाभिषेकात् पूर्वं जलपूर्णकलशे शिवमावाह्य तत्र कूर्चं दर्भैर्निर्मितं निधाय रुद्राध्यायः पठ्यते । समाप्तौ कूर्चस्य लिङ्गे स्थापनपूर्वकं मन्त्र-पूतजलेनाभिषेकः क्रियते । एतन्मनसि निधाय आचार्येण 'पादुका कूर्चायते' इत्याद्युक्तम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विस्तरेण करोति। ततः तस्य भक्तस्य इह अस्मिन् लोके किं किं फलं दुर्लभं लब्धुमशक्यं, सर्वं सुलभमेवेति भावः। शिवपादारविन्दार्पितचित्तस्य सर्वं सुलभमेवेति भावः ॥ ६५ ॥

आत्मरक्षणं कर्तव्यमिति प्रार्थयते—क्रीडार्थमिति। हे शम्भो इदं परिदृश्यमानम् अखिलं प्रपञ्चं क्रीडार्थं क्रीडा लीला अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा भवति तथा सृजसि निर्मासि। आप्तकामस्य तव विना क्रीडया नान्यत् प्रयोजनं पश्यामः।[1] ते तव इमे जनाः क्रीडामृगाः क्रीडायै लीलायै निर्मिता मृगा भवन्ति। मया यत् कर्माचरितं यद्यत् कर्माचरितं कृतं, चकारः असाधु कर्म समुच्चिनोति। तत्सर्वं भवतः तव प्रीत्यै प्रेम्णे भवत्येव। एवकारोऽप्रीतिं व्यवच्छिनत्ति। मच्चेष्टितं मद्व्यापारः स्वस्य भवत्संबन्धिनः कुतूहलस्य कुतूहलविषयस्य करणम् अनुष्ठानरूपं भवति इदं निश्चितं निश्चय इत्यर्थः। तस्मात् हे पशुपते! मामकरक्षणं मदीयरक्षणं त्वया भवता कर्तव्यमेव। एवकारेणाकर्तव्यताया व्युदासः। लोके क्रीडामृगकृतं सर्वं क्रीडयितुरिष्टाय यथा भवति तथा अस्मत्कृतं सर्वं भवदिष्टाय भवत्विति प्रार्थयितुर्भावः ॥ ६६ ॥

शिवभावनां प्रपद्य इति निवेदयति—बह्विति। बहुविधपरितोषबाष्पपूरस्फुटपुलकाङ्कितचारुभोगभूमिम् परितोषबाष्पाणि आन्दाश्रूणि बहुविधानि बहुप्रकाराणि च तानि आनन्दाश्रूणि च तेषां पूरः प्रवाहः तस्य च स्फुटं स्पष्टं पुलकाङ्कितं पुलकरूपं भक्तिचिह्नं तस्य च चारुभोगभूमिं रमणीयभोगस्थानं चिरपदफलकाङ्क्षिसेव्यमानां चिरपदं शाश्वतस्थानं कैलास इत्यर्थः तदेव फलं प्रयोजनं तत् काङ्क्षन्ति अपेक्षन्ते इति तत्काङ्क्षिणः तैः सेव्यमानाम् आश्रीयमाणां परमसदाशिवभावनां सदाशिवः नित्यानन्दस्वरूपः परमश्च सर्वेभ्य उत्कृष्टः तथाभूतस्य भावनां ध्यानं प्रपद्ये शरणीकुर्वे। सर्वदा शिवध्यानपरो भवामीत्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥[2]

भक्तिपरिपालनं प्रार्थयते—अमितेति। हे सदय दयासहित! पशुपते पशुपालक! अमितमुदमृतम् अमितमुद् अपरिच्छिन्नानन्दः सैव अमृतं

---

१. 'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।' (मा० कारिका १.९)

२. पुष्पिताग्रा छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षीरं तत् दुहन्तीं[1] प्रपूरयन्तीं विमलभवत्पदगोष्ठं भवतः पदमेव गोष्ठं गोस्थानं विमलं तत् च भवत्पदगोष्ठं च तत् आवसन्तीं तत्र वासं कुर्वंतीमित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति आधारस्य कर्मसंज्ञया द्वितीया । सुपुण्यपाकां[2] विमलपुण्यफलभूताम् एवंभूतां मम मे भक्तिधेनुं भक्तिरेव धेनुस्ताम् एकां परिपालय पुष्य । यथा वा लोके कश्चन धेनुजन्यफलं भोक्तुकामः तद्रक्षणासमर्थः सन् तद्रक्षणसमर्थं कंचन गोमन्तं दयालुं धेनुरक्षणाय प्रार्थयते तद्वत् त्वद्विषयकमद्भक्तिपरिपालनासमर्थः तत्फलभोगकामः अहं भक्तिपोषणसमर्थं त्वां तत्पुष्टि संपादयेति प्रार्थयामीति प्रार्थयितुर्भावः ॥ ६८ ॥[3]

दोषाश्रयमपि मां चन्द्रमिव भूषणाय स्वीकुरु इति प्रार्थयते—जडतेति । जडता मौढ्यं जडात्मता च, प्रकाशानाश्रयत्वमेव मौढ्यं सूर्यतेजसाऽभिभवात् चन्द्रस्य प्रकाशानाश्रयत्वं तदा अमायां संभवति । पशुता पशुवत् विवेकाभावः पशुता, सा च गुरुपत्नीग्रहणेन प्रसिद्धा । कलङ्किता कलङ्कलिङ्गत्वम् । कुटिलचरत्वं बिम्बकौटिल्येन संचरिष्णुत्वम् । एतेषां दोषाणां समुदायः चन्द्रेऽस्ति न मयि हे देव ! हे राजमौले चन्द्रशेखर ! भवदाभरणस्य भवतः भूषणत्वेन ग्रहणस्य किमिति पात्रं नास्ति ? यद्यपि दोषवद्ग्रहणं बुद्धिशालिनो न संमन्यन्ते, त्वं तु दयावशात् तदपि संमन्यसे । दोषयुक्तचन्द्रपरिग्रहादेवं प्रत्येमि । तस्माद् मद्ग्रहणमपि युक्तमेवेति प्रार्थयितुरभिप्रायः ॥ ६९ ॥[4]

सर्वदा मम हृदयवर्तित्वात् पूजयितुं सुलभ इत्याह – अरहसीति । प्रसन्नमूर्तिः प्रसादोन्मुखी मूर्तिर्यस्य तथोक्तः अगणितफलदायकः अगणितं संख्यारहितं फलं मनोवाञ्छितं तस्य दायकः प्रदाता । प्रभुः प्रभवति सृष्ट्यादि कर्म कर्तुं शक्नोतीति प्रभुः, अभिलषितकर्मकरणसमर्थ इत्यर्थः । जगदधिकः जगतोऽधिकः चिद्रूपत्वेन जगद्विलक्षण इति यावत् । जगदधिप इति पाठे सर्वेषां जगतां सर्वेषु कर्मसु प्रेरकः 'यः सर्वेषु भूतेषु' इत्यन्तर्यामिब्राह्मणमत्र प्रमाणम् । एवंभूतो राजशेखरः

१. मुहुर्दुहन्तीमिति साधारणापेक्षया विशेषः । व्यतिरेकालङ्कारः ।

२. पाकाम्—'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । अत्र श्लिष्टरूपकम् ।

३. छन्दः पुष्पिताग्रा ।

४. अत्र व्यतिरेकालङ्कारः, उपमेये विशेषवचनात् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चन्द्रमौलिः सार्वभौम इति च ध्वन्यते। मम हृदि मनसि अस्ति स्थिरी भवति। अतः कारणात् सः अरहसि बहिः प्रदेशे अन्तःकरणाद् भिन्नदेश इत्यर्थः। रहसि अन्तःकरणप्रदेशे च मनसीत्यर्थः। स्वतन्त्रबुद्धया स्वायत्त इति बुद्धया वरिवसितुं परिचरितुं सुलभः अनायासलभ्यः भवतीत्यध्याहारः। यथा लोके स्वायत्तः प्रसादादिपूर्वोक्तगुणोपेतः सार्वभौमः स्वायत्तं प्रदेशं प्रापय्य स्वेष्टं साधयितुं सुलभः तथा अयमपि सुलभो भवतीति भावः ॥ ७० ॥[1]

शिवस्मरणैः पापानि निर्मूलीकृत्य विद्वद्वरिष्ठः शिवसारूप्यलक्ष्मीं प्राप्नोतीत्याह—आरूढेति। सुधीन्द्रः बुद्धिमद्वरिष्ठः आरूढभक्तिगुणकुञ्चितभावचापयुक्तैः आरूढा अभिव्याप्योत्पन्ना भक्तिः सैव गुणः ज्या धनुर्गुण इत्यर्थः। तेन कुञ्चितः नम्रीकृतः भावः अन्तःकरणवृत्तिरूपा बुद्धिः स एव चापः कोदण्डः कुञ्चितश्चासौ भावचापश्च तत्र युक्तैः योजितैः योजनमन्तर्भावितणिजर्थः। अमोघैः अविफलैः शिवस्मरणबाणगणैः शिवस्मरणान्येव बाणाः तेषां गणैः पुञ्जैः किल्विषरिपून् किल्बिषाण्येव रिपवः शत्रवः तान् निर्जित्य निःशेषं जित्वा विजयी सन् विजयवान् सन् सानन्दम् आनन्दसहितं यथा भवति तथा सुस्थिरराजलक्ष्मीं राज्ञो लक्ष्मीः राजलक्ष्मीः दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनरूपा लक्ष्मीः सर्वशासनमिति यावद् इति। अर्थान्तरम्—सुतरां स्थिराः ब्रह्मादयः तेषां राजा सुस्थिरराजः परमशिवः तस्य लक्ष्मीः सारूप्यलक्ष्मीः ताम् आवहति प्राप्नोति। यथा लोके कश्चन भूपतिः बाणैः सर्वान् रिपून् जित्वा रिपुराजलक्ष्मीं प्राप्नोति एवं भक्तः भक्तिपूर्वकशिवस्मरणैः किल्विषजयपूर्वकं शिवसायुज्यं प्राप्नोतीति भावः ॥७१॥[2]

१. केचन राजदयः सभास्वेव द्रष्टुं शक्या नैकान्ते। केचन मन्त्रिप्रभृतयः एकान्त एव द्रष्टुं शक्यन्ते न सदसि, तदपि तत्परिचितज्ञानद्वारा न स्वातन्त्र्येण। एवं विशेषप्रयत्नेन दृष्टश्चेत्तदापि तस्य प्रसन्नतायां सन्देह एव, कार्यभारेण क्लान्तत्वात्। भगवांस्तु सर्वदा प्रसन्नः, अखण्डानन्दरूपत्वात्। प्रसन्नोऽपि मानवः नापेक्षितं पूर्णं ददाति, अपि त्वल्पमेव। भगवांस्तु समाजे वा उपह्वरे वा स्वयमेव दृष्टश्चेदपि प्रसन्न अपेक्षितादधिकं ददातीति विशेषः। अत्र भगवति लौकिकराजाद्यपेक्षया विशेषोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः। पुष्पिताग्रा च छन्दः।

२. रूपकालङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिवपादभक्तसेवकानां कार्तार्थ्यमाह–ध्यानेति । हे शिव ! ध्यानाञ्जनेन ध्यानमेव अञ्जनमन्तःस्थापितं परोक्षवस्तुप्रकाशनसमर्थमौषधं तेन समवेक्ष्य सम्यक् अन्तः स्थितं शिवपादपद्मरूपं वस्तु ज्ञात्वा ईश्वरनाममन्त्रैरेव महाबलिभिः निधिपरिपालकदेवताप्रसादजननसमर्थैः पूजोपकरणैः तमःप्रदेशं तमः पदपद्माज्ञानमेव प्रदेशः वस्त्वावारक-स्थलविशेषः तं भित्त्वा खात्वा ये भक्ताः दिव्याश्रितं दिवि भवा दिव्याः सुराः तैराश्रितं प्राप्तं भुजगभूषणं भुजगः सर्पो भूषणं यस्य तथोक्तं ते पादपद्मम् इह अस्मिन् जन्मनि उद्वहन्ति उद्धृत्यानुभवन्ति ते कृतार्थाः प्राप्तजन्मफला भवन्ति । लोके यथा कश्चित् अञ्जनविशेषाक्ते नेत्रे कृत्वा निक्षेपप्रदेशं ज्ञात्वा निक्षेपरक्षकदेवतां बल्यादिभिः स्वायत्तीकृत्य आवारकप्रदेशभेदनेन तत्रत्यं निधिं लब्ध्वा मुदमनुभवति तथा भक्ता अपि ध्यानादिपूर्वोक्तोपायैः तत्पादारविन्दं साक्षात्कृत्य अनन्यसुलभं तज्जनितमानन्दमनुभवन्तीति भावः ॥ ७२ ॥[1]

पादारविन्दभजनस्य आवश्यकतामाह—भूदारतामिति । हे सुमते शोभना च सा मतिश्च तस्याः संबुद्धिः ! यदपेक्षया यत्पादारविन्द-दर्शनापेक्षया श्रीभूदारः श्रीश्च भूश्च श्रीभुवौ ते दारा यस्य सः विष्णुरेव भूदारतां वराहभावम् उदवहत् प्राप्नोत् किं किमिति प्रसिद्धौ । अतः कारणात् आकलितमुक्तिमहौषधीनाम् आकलिताः आशंसिताः मुक्तयः सालोक्याद्याः चतुर्विधाः ता एव ओषधयः तासां केदारम् उत्पादकं परमेश्वरस्य महेश्वरस्य पादारविन्दभजनं पादारविन्दयोः भजनं सेवां लभस्व प्राप्नुहि । यतः कारणात् लोकवन्द्यो महाविष्णुरेव स्वाभिलषितपूर्तये वराहीभूय शिवपादारविन्ददर्शनमैच्छत् तादृशं भजनं त्वमपि कुरुष्वेति प्रार्थयितुर्भावः । हरिब्रह्माणौ परस्पर-श्रैष्ठ्यनिर्धारणपरौ शिवपादमूर्धदिदृक्षया वराहहंसरूपं प्राप्तौ इति पुराणप्रसिद्धिः ॥ ७३ ॥[2]

स्वचेतः पेटीसौगन्ध्यं प्रार्थयते—आशापाशेति । आशाशाटीकस्य आशा दिक् शाटी अम्बरं यस्य बहुव्रीहौ कप्रत्ययः । आशाशाटीकस्य

---

१. उपमालङ्कारः । 'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः । हंसीव कृष्ण ! ते कीर्तिः सर्वाङ्गामवगाहते ॥' वसन्ततिलका छन्दः ।

२. शब्दालङ्कारः प्रासः—भूदारः केदार इति । वसन्ततिलका छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिगम्बरस्येत्यर्थः तस्य पादारविन्दं पाद एव अरविन्दं पद्मं तत् मे मम चेतःपेटीं चेतः चित्तमेव पेटी मञ्जूषा ताम् आशापाशक्लेशदुर्वासनादिभेदोद्युक्तैः आशा विषयतृष्णा अलंबुद्धिविरहरूपा सा पाश इव रज्जुरिव पाशसादृश्यं च आशाया बन्धकत्वेन । आशापाश इति उपमानोत्तरपदकर्मधारयः। क्लेशाः पञ्च अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । अविद्या स्वरूपाज्ञानम् । अस्मिता अस्मीत्यस्य भावः अस्मिता देहे अहमित्यभिमानः । रागः इष्टविषयेऽनुरक्तिः । द्वेषः अनिष्टविषयेऽप्रीतिः । अभिनिवेशः व्यर्थेषु कर्मसु कर्तव्यत्वाग्रहः । क्लिश्यन्ते जना एभिरिति क्लेशा अविद्यादयः आशापाशश्च क्लेशाश्च आशापाशक्लेशाः त एव दुर्वासनाः दुस्संस्काराः दुर्गन्धाश्च तासां भेदने उद्युक्तैः प्रवृत्तैः आमन्दैः अनल्पैः दिव्यगन्धैः देवयोग्यपरिमलैः वासितां संजातवासनां वासशब्दादितच्प्रत्ययः तनोतु करोतु । मम चेतसि दिगम्बरस्य पादारविन्दं सदा तिष्ठत्विति भावः ॥ ७४ ॥[1]

तमेव भङ्ग्यन्तरेण स्तौति—कल्याणिनमिति । हे वृषभाधिरूढ ! हे समस्तजगतां नेतः समस्तजगत्प्रभो ! स्मरारे कामरिपो ! मच्चेतस्तुरङ्गं चेत एव अश्वः अश्वसादृश्यादश्वः तम् अधिरुह्य आरुह्य चर भ्रम । चेतस्तुरङ्गं कल्याणिनमित्यादि विशेषणैः विशिनष्टि—कल्याणिनं कल्याणाख्यलक्षणयुक्तं यजमानस्य अश्वपतेः शुभसूचकमित्यपि द्योत्यते । सरसचित्रगति सरसा सानुरागा चित्रा बहुप्रकारा च गतिर्यस्य तं तथोक्तम् । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्' इत्येवंरूपा । सवेगं वेगसहितम् । सर्वेङ्गितज्ञं सर्वेषामिङ्गितम् अन्तर्गतं भावं जानातीति तज्ज्ञम् । अनघं निर्दोषम् । ध्रुवलक्षणाढ्यं रेखारूपावर्तनादिस्थिरलक्षणसहितं, चेतःपक्षे विषयपरित्यागेन ईश्वरे स्थिरवृत्तित्वं लक्षणं, निर्मलमनसः लक्षणमेतत् । चेतसि तुरङ्गत्वारोपणस्य चेतस्तुरङ्गयोः सादृश्यं विना अनौचित्यादिमानि विशेषणानि चेतस्यपि योजनीयानि । तुरङ्गस्य वृषाधिकगुणत्वात् जगन्नेतृत्वात् तव तुरङ्गाधिरोहणेन संचरणं युक्तमिति भावः ॥ ७५ ॥[2]

जन्मसाफल्यं भङ्ग्यन्तरेणाह—भक्तिरिति । भक्तिः सेवा महेशपदपुष्करम् महेशस्य पदपुष्करं चरणाकाशं, 'व्योम पुष्करमम्बर'-

१. सर्वत्र रूपकम् । छन्दः शालिनी ।

२. प्रतिषेधालङ्कारः । वसन्ततिलका छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मित्यमरः, आवसन्ती सती तत्र स्थिरा भवन्ती सतीत्यर्थः। कादम्बनीव मेघमालेव परितोषवर्षम् आनन्दवृष्टिम् कुरुते जनयति। यस्य पुरुषस्य मनस्तटाकः तेन संपूरितो भवति संवर्धितो भवति तज्जन्मसस्यं तस्य पुरुषस्य जन्म उत्पत्तिः तदेव सस्यम् ओषधिः अखिलं निःशेषं यथा भवति तथा सफलं फलवद् भवति। अन्यच्च तदितरत् जन्मसस्यं चोत्पत्तिसस्यं न सफलम्, च शब्दोऽयं तुस्थाननिवेशी पूर्वपक्षव्यावृत्ति-प्रयोजनः। ईश्वरचरणारविन्दभक्ति विना आनन्दो दुर्लभ इति भावः ॥ ७६ ॥[1]

अनेकधा विचारयन्तीं बुद्धि विचारात् समुद्धरेति द्वाभ्यां प्रार्थयते—बुद्धिरिति। हे ईश्वर ! कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुं च समर्थ ! विरहिणी वधूरिव विरहिणी भर्तृवियोगं प्राप्नुवती वधूरिव भार्येव पादपद्मसक्ता तव पादपद्मे सक्ता आसक्तिमती अत एव सदा सर्वदा स्मरन्ती ध्यायन्ती बुद्धिः अन्तःकरणवृतिः शिवमन्त्रजपेन शिव इति मन्त्रः तस्य जपेन आवृत्त्या संमोहितेव इदं कर्तव्यम् इदं नेति विचारं प्रापितैव सती स्थिरा स्वयमेकत्र स्थैर्यशालिनी भवितुं सद्भावना-स्मरणदर्शनकीर्तनादि प्रति सतः सत्यस्य पादपद्मस्य भावना ध्यानं च स्मरणम् अनुभूतानुसन्धानं च दर्शनं तद्विषयकचाक्षुषज्ञानं च कीर्तनं तदभिलापकशब्दोच्चारश्च तान्येव आदयो यस्य समुदायस्य तत् प्रति विन्ते विचारयति। विचारणार्थोऽयं श्नम्विकरणः विदधातुः। "सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्वयं क्रमात्" ॥ ७७ ॥[2]

भावनादिषु व्यापारेषु किं कुर्यामिति सन्दिहानाम् इमां पूर्वोक्तां बुद्धि श्रेष्ठगुणोपदेशेन विचारात् समुद्धरेति प्रार्थयते—सदुपचारेति। हे प्रभो सर्वार्थघटनसमर्थ ! सदुपचारविधिषु सतः त्वत्पादपद्मस्य उपचार-विधिषु पूजाविधानेषु अनुबोधिताम् अनुक्रमेण बोधिताम् शिक्षितां सविनयां सन्मनोऽनुसरणयुक्तां सुहृदं शुद्धमनस्कं सन्तम् उपश्रिताम् आश्रयमाणां, कर्तरिक्तः। मम मे इमां बुद्धि वरगुणेन श्रेष्ठगुणोपदेशेन

१. रूपकालङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः।

२. उत्प्रेक्षालङ्कारः। 'सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मने'ति तल्लक्षणम्। वसन्ततिलका छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवोढवधूमिव नवं यथा तथा ऊढा पत्नीत्वेन स्वीकृता सा च सा वधूश्च तामिव समुद्धार उद्गमय प्रकृतसन्देहं परिहरेति भावः। यथा कश्चिद् वरः सद्योविवाहसंस्कृतां भार्यां श्रेष्ठगुणोपदेशेन संशयादुद्धरति तथेमां बुद्धिं संशयात् समुद्धरेति भावः ॥ ७८ ॥[1]

शिवपादापरोक्ष्यं प्रार्थयते—नित्यमिति। हे शम्भो त्वत्क्रमः त्वत्पदविन्यासः नित्यं सदा योगिमनस्सरोजदलसंचारक्षमः योगिमन एव सरोजं पद्मं तस्य दलैः छदैः सह संचारो घटनं तत्र क्षमः समर्थः तेन मृदुलेन पदेन कठोरयमराड्वक्षःकवाटक्षतिः यमराड् धर्मराजः तस्य वक्षः उरः कठोरम् अतिकठिनम् तच्च तत् कवाट इव कवाटसदृशं तस्य क्षतिः भेदनं कथमासीत् इति चित्रम्। अत्यन्तं मृदुलं त्वदङ्घ्रियुगलं मे मनः चिन्तयति हा कष्टम्! हे विभो! एतत् पदयुगलं मे लोचनगोचरं नेत्रविषयं कुरु तत् हस्तेन करेण संवाहयामि पीडयामि। स्पष्टो भावः ॥ ७९ ॥[2]

प्रकारान्तरेण स्तौति—एष्यतीति। हे शम्भो एष जनः जनिमुत्पत्तिम् एष्यति लप्स्यते। अस्य मनः कठिनं कठोरं तस्मिन् अटानि संचराणि इति हेतुना मद्रक्षायै मम त्राणाय कोमलपदन्यासः मृदुलपदयोर्विन्यासः गिरिसीम्नि पर्वतमध्यप्रदेशे पुरा मज्जननात् पूर्वम् अभ्यासितः आवर्तितः। नो चेत् नैवं यदि दिव्यगृहान्तरेषु रमणीयगृहमध्येषु सुमनस्तल्पेषु पुष्पसमानशयनेषु वेद्यादिषु वेदिकाप्रभृतिषु च स्थानेषु प्रायशः सत्सु शिलातलेषु पाषाणप्रदेशेषु तव नटनं नाट्यं किमर्थं किंफलकम्? स्पष्टोऽर्थः ॥ ८० ॥[3]

एवंभूतो जीवन्मुक्तो भवतीत्याह—कंचिदिति। उमामहेश! महांश्चासौ ईशश्च महेशः उमया पार्वत्या सहितो महेशः इति मध्यमपदलोपी समासः, तस्य संबुद्धिः। कंचित्कालं कंचित्समयं भवतः तव पादारविन्दार्चनैः अरविन्दसदृशपादपूजाभिः, कंचित् कालं ध्यानसमाधिभिः ध्यानं निरन्तरं भवच्चिन्तनं तस्य समाधिभिः नियमैः,

---

१. उपमा श्लेषश्च। 'नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः।' इति श्लेषलक्षणम्।

२. प्रतिषेधालङ्कारः। छन्दः शार्दूलविक्रीडितम्।

३. हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कंचित्कालं नतिभिः नमस्कारैः कंचित्कालं कथाकर्णनैः कथाश्रवणैः, कंचित् कालमवेक्षणैः दर्शनैः, कंचित्कालं नुतिभिः स्तोत्रैश्च सहितः मुदा सन्तोषेण त्वदर्पितमनाः त्वयि निपातितचित्तः य ईदृशीं दशां पूर्वोक्तार्चनादियुक्तत्वेन अवस्थितिं प्राप्नोति लभते सः जीवन् सन्नेव मुक्तः खलु मोक्षप्राप्त एव भवतीत्यध्याहार्यम्। पूर्वोक्तैः तृतीयान्त-विशेषणैः भवत इत्यस्यान्वयः। कालमित्यस्य अध्याहार्यसहितपदार्थेन अन्वयः ॥ ८१ ॥[1]

शिवप्रसादादेव विष्णोः पूज्यतरत्वं सिद्धमित्याह—बाणत्वमिति। हे आर्यापते पार्वतीपते ! इदं च सम्बोधनम् आर्यायाः विष्णवभेदं सूचयति। तत्सूचितमर्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण विवृणोति—हरिः विष्णुः हि यस्मात् कारणात् तव बाणत्वं शरभावः वृषभत्वं वृषभवाहनभावः अर्धवपुषा शरीरार्धेन भार्यात्वं कलत्रभावः घोणित्वं वराहता महादेवस्य पाददर्शनाय वराहरूपस्वीकारादिति भावः। सखिता सखित्वं मोहिनीरूपापन्नविष्णोः शिववाल्लभ्यप्रसिद्धेरिति भावः। मृदङ्गवहता मृदङ्गवाद्यवादित्रत्वम्, आनन्दताण्डवकाले तत्प्रसिद्धेरिति भावः। एवमादिरूपं च दधौ दधार। त्वत्पादे नयनार्पणं च नेत्रार्पणं च कृतवान् आचरितवान्। सहस्रकमलार्चनवेलायां सहस्रतमसंख्या-पूरकता तन्नेत्रकमलस्येति भावः। किं च त्वद्देहभागः तव देहे भागो यस्य स तथोक्तः। तस्मात् स एव पूज्यात् ब्रह्मादिसमूहात् पूज्यतरः अतिशयेन पूजयितुमर्हः अभवत्। न चेत् एवं नो यदि तदन्यः विष्णोरन्यः अधिकः को वा न कोऽपीत्यर्थः। एतेन ब्रह्मादयः पूज्याः, हरिः पूज्यतरः, त्वं पूज्यतमः इत्यर्थो लभ्यते ॥ ८२ ॥[2]

शिवेतरदेवतानां सेवया सुखालाभः शिवसेवया सौख्यं च भवती-त्याह—जननेति। जननमरणयुतानाम् उत्पत्तिमरणभाजां देवतानां सेवया भजनेन सुखलेशः सुखस्य लेशोऽपीति लेशपदमहिम्ना विषय-सुखमपीति गम्यते। न भवति न जायते। स्वयं दुःखवतीनां तासां सेवया सेवकस्य सुखं भवतीति न वक्तव्यमिति भावः। तत्र संशयो

---

१. भगवच्चिन्तने प्रकारभेदः जामितापरिहाराय, एकप्रकारत्वे मनसः आलस्येन कार्यान्तरपरतादि वासनावशाद्भवेत्। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

२. अतिशयोक्तिः। छन्दः शार्दूलविक्रीडितम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नास्ति। ये तु अर्जानि जननशून्यम् अमृतरूपं मरणरहितं रूपं यस्य तं तथोक्तं साम्बम् अम्बया सहितम् अत एव ईशं निरतिशयसुखदान-समर्थं शिवम् इह देहे सत्येव भजन्ते सेवन्ते ते धन्याः कृतार्थाः सन्तः परमसौख्यं मोक्षं लभन्ते। सर्वोत्तमत्वात् शिवसकाशात् मोक्षप्राप्तौ न संशयलेशोऽपीति भावः ॥ ८३ ॥[1]

हृदये बुद्धया सहाविनाभावं प्रार्थयते—शिवेति। हे शिव भव! सकलभुवनबन्धो! सच्चिदानन्दसिन्धो! सदय! शिवेत्यनेन कन्याया-मिच्छाजनकपुंस्त्वाख्यो गुणः सूच्यते। भवेत्यनेन भवत्यस्मात् सर्वमिति व्युत्पत्त्या सन्तानोत्पादकत्वाख्यो गुणः। सकलभुवनबन्धो इत्यनेन बन्धु-मत्त्वाख्यो गुणः। सच्चिदानन्दसिन्धो इत्यनेन सदित्यस्य सत्त्वमर्थः भाव-प्रधानो निर्देशः, अनेन साधुकारित्वं सूच्यते। चिदित्यनेन श्रुतसत्त्वाख्यो गुणः। आनन्देत्यनेन अरोगत्वगुणः। सदयेत्यनेन दयालुत्वम्। एभिर्वर-गुणाः निर्णीयन्ते। गुणधुर्यमित्यनेन शास्त्रबोध्याः सर्वे गुणा उच्यन्ते। इत्थं वधूवरगुणान् मनसि दृढीकृत्य कन्यां दास्यामीत्याह—सच्चिदा-नन्दसिन्धो सत्यं च चिच्च आनन्दश्च तेषां सिन्धो नदीनां सिन्धुवदा-स्पदीभूत पूर्वोक्तयावद्गुणविशिष्ट ! गौर्या सह पार्वत्या सह तव परिचर्यासन्निधानाय परिचर्यार्थं समीपस्थितये पूर्वोक्तगुणविशिष्टां मम मे बुद्धिकन्यां बुद्धिरेव कन्या तां प्रदास्ये। दाङ् दाने इत्यस्मिन् धातौ प्रत्युपसर्गसाहित्येन ब्राह्मो विवाह इति गम्यते। उभयोः पत्न्योः समरसतासंपादनचतुरत्वात् शिवस्य गौर्या सहेत्युक्तम्। इमां विवाह्य त्वं हृदयगेहे हृदयमेव गेहमन्तर्गृहम् तस्मिन् सर्वदा अवैरस्येन संवस सुखेन वसेत्यर्थः। बुद्धेः शिवाविनाभूतत्वं भवत्विति भावः। शिवश्व-शुरतां प्राप्य मोदिष्य इति भावः ॥ ८४ ॥[2]

तव इष्यमाणां सपर्यां कर्तुं नाहं समर्थ इति भङ्ग्यन्तरेणाह—जलधीति। हे इन्दुमौले चन्द्रशेखर! ते तव अशनकुसुमभूषावस्त्रमुख्याम् अशनं च कुसुमं च तयोः समाहारः अशनकुसुमं तच्च भूषा भूषणं च वस्त्रं च एतानि मुख्यानि यस्यां तां सपर्याम्। कथं केन प्रकारेण कल्पयानि करवाणि, कथय वद कल्पयितुमसमर्थ इति भावः। कुत इति चेदनेवं भूतत्वादित्याह—अहं जलधिमथनदक्षः समुद्रमथनसमर्थो

१. प्रतिषेधालङ्कारः। मालिनी छन्दः।
२. परिकरालङ्कारः। मालिनी छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैव भवामि । तथात्वे त्वदभिमतविषरूपाशने चन्द्ररूपकुसुमप्रदाने समर्थः स्याम् । न च पातालभेदी पातालं भिनत्ति तच्छीलमस्येति पातालभेदी । तथात्वे त्वदभिमतभुजङ्गभूषणं कल्पयितुं समर्थः स्याम् । वनमृगयायां प्रवीणः समर्थः लुब्धो मृगहिंसको न भवामि । तथात्वे त्वदभिमतगजचर्माख्यवस्त्रं कल्पयितुं समर्थः स्याम् । अनेवंभूतत्वात् त्वदभिमतमुपचारं कल्पयितुमसमर्थोऽहमिति भावः ॥ ८५ ॥[1]

पूजासामग्र्यां सत्यामपि पूजास्थानापरिज्ञानात् पूजां कर्तुमसमर्थ इत्याह— पूजेति । हे उमाजाने उमा पार्वती जाया यस्य सः तस्य संबुद्धिः उमाजाने ! यद्यपि पूजासमृद्धयः पूजायाः द्रव्याणि पूजासाधनवस्तूनि तेषां समृद्धयः अतिशयाः विरचिताः संपादिताः तथापि पूजां पूजनं कथं कुर्महे न कथमपीत्यर्थः । दुर्लभं दुष्प्रापं पक्षित्वं पक्षिभावः किं च ना वा नो वा किटित्वमपि वराहभावोऽपि मया न प्राप्तं नालम्बितम् । अतः ते तव मस्तकमङ्घ्रिपल्लवं च, अङ्घ्रिः पल्लवमिवेत्युपमितसमासः । हे विभो व्यापक ! न जाने । हि यस्मात् तत्त्वेन याथार्थ्येन तद्रूपिणा पक्षिरूपिणा किटिरूपिणा च पितामहेन ब्रह्मणा, हरिणा विष्णुना च न ज्ञातं न विदितं तस्मादहं न जाने इति किमुत । पूजाद्रव्यसंपत्तिषु सतीष्वपि तद्रूपापन्नेन ब्रह्मणा विष्णुना च अनवगतं पूजास्थानं मस्तकम् अङ्घ्रिपल्लवश्च । अज्ञात्वा कथमहं पूजां कर्तुं शक्नुयामिति भावः ॥ ८६ ॥[2]

शिवपादाम्बुजभक्तिमेव याचते— अशनमिति । हे शम्भो सुखनिधे ! भक्तापेक्ष्यमाणं देयं त्वयि नास्तीत्याह— तव अशनं भक्षणं गरलं हलाहलं, कलापो भूषणं फणी भुजगः, वसनं वस्त्रं चर्म कृत्तिविशेषः, वाहनं च महोक्षः वृद्धवृषभः । चस्त्वर्थः । अतो हेतोः भक्ताभीष्टं किं दास्यसि । मम प्रार्थनीयं तव किमस्ति ? किमपि नास्तीत्यर्थः । तथापि देयं किंचिदस्तीति मत्वाह— तत् किमिति चेत्तत्राह— तव पादाम्बुजभक्तिमेव देहि नान्यदस्ति अपेक्षितमिति भावः । ईश्वरे भासमाना निन्दा स्तुतिपर्यवसायिणी । ईश्वरस्तु— 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिश्रुत्या सर्वदोषशून्यः प्रतीयते । अशने गरलत्वप्रतिज्ञानं भक्तरक्षणाभिप्रायेण । फणिनि भूषणत्वप्रतिज्ञानम् अभयत्वाभिप्रायेण । वसने चर्मत्वकल्पनं निस्पृहत्वाभिप्रायेण । दुष्टनिग्राहकत्वसूचनाभिप्रायेण-

१. प्रतिषेधालङ्कारः । मालिनी छन्दः ।

२. प्रतिषेधालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाहने महोक्षत्वाभिधानम् । मम प्रर्थनीयं किमस्तीत्यनेन स्वस्य नैस्पृह्यं द्योत्यते इति वक्तृतात्पर्यम् ।। ८७ ।।[1]

एवंभूतश्चेत् तव अर्चास्तोत्रभावनक्षमः स्यामित्याह–यदा कृतेति । हे शिव ! यदा यस्मिन् काले कृताम्भोनिधिसेतुबन्धनः अम्भसां निधिः स्थानं समुद्रः तस्मिन् सेतुबन्धनं सेतुः वारिवारकमृत्कूटविशेषः । तस्य बन्धनं निर्माणं कृतं येन स तथोक्तः करस्थलाधःकृतपर्वताधिपः करस्थलेन हस्तप्रदेशेन अधःकृतः भूमौ निमज्जितः पर्वताधिपः विन्ध्यादि येन तथोक्तः लङ्घितपद्मसंभवः लङ्घितः अतिशयितः पद्मसंभवः ब्रह्मा येन तथोक्तः एवं भूतो भविष्यामि तदा ते तव अर्चास्तवभावनक्षमः अर्चा अर्चनं स्तवः स्तुतिः भावनं ध्यानं तेषु क्षमः समर्थः भवानि असानि । श्रीरामः अगस्त्यः ब्रह्मा च यदि भविष्यामि उक्तेषु त्रिषु अर्थेषु तदा समर्थो भवानीति भावः ।। ८८ ।।[2]

शिवस्य पूजनताडनयोः उभयोरपि प्रीतिकरत्वं बुद्ध्वा स्वानुष्ठानाय तत्रातिशयेन प्रीतिकरं पृच्छति—नतिभिरिति । हे ईश ! त्वं नतिभिः नमस्कारैः नुतिभिः स्तोत्रैः पूजाविधिभिः सपर्याविधानैः ध्यानसमाधिभिः समाधिः विषयिणि सर्वकारणे कृत्स्नविषयविलापनं, ध्यानं मनसः ध्येयैकरूपता तस्मै समाधयः तैः तथा न तुष्टः । धनुषा[3] कार्मुकताडनेन मुसलेन[4] मुसलप्रहारेण अश्मभिः[5] पाषाणप्रक्षेपैर्वा यथा तुष्टः । इत्थं पुराणकथाश्रवणेन जानामि । उभयोर्मध्ये यदतिप्रीतिकरं तव तद् वद तत् करोमि विदधे । केचन भक्ताः भक्तिपरीक्षणे धृतिं विन्दन्तः धनुस्ताडनादिभिः शिवं सन्तोष्य स्वेष्टं प्रापुरिति पुराणप्रसिद्धिः ।। ८९ ।।[6]

---

१. प्रतिषेधालङ्कारः । मालभारणीयं छन्दः ।

२. हेत्वपह्नुतिः । 'शब्दापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थोधर्मनिह्नवः ।' वंशस्थं छन्दः ।

३. धनुषा—किरातार्जुनीयेऽर्जुनः यदा बाणा निरवशेषा जातास्तदा धनुषा शिवं ताडितवान् ।

४. कश्चिद्भक्तः मुसलेनाज्ञानाद् ताडितवान् ।

५. अश्मभिः—बौद्धमतप्रविष्टोऽपि शिवभक्तः शाक्यनाथः पर्वते वसन् पुष्पालाभात् तत्र समन्त्रकं शिवलिङ्गं स्थापयित्वा क्षुद्रपाषाणैः पूजितवानिति शिवभक्तविजयनामके ग्रन्थे प्रसिद्धिः ।

६. अत्रापह्नुत्यलङ्कारः । लक्षणं पूर्वश्लोक उक्तम् । मालभारिणीयं छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिभिः करणैः यथोचितं त्वां सेवे इत्याह—वचसेति। अहं ते तव उद्योगविधासु उच्चैर्योग उद्योगः स्थिरतया चित्तसमर्पणं तस्य विधासु प्रकारेषु अप्रसक्तः प्रसक्तिः परिचितिः तद्रहितः। अर्शआदित्वादच्-प्रत्ययः। अतः कारणात् वचसा वाचा शम्भोः सुखस्वरूपस्य ते तव चरितं वदामि वच्मि। मनसा ईश्वरस्य तव आकृतिमाकारं सेवे ध्यायामि। शिरसा मूर्ध्ना सदाशिवं सदासुखस्वरूपं त्वामेव नमामि च नमस्करोमि। स्पष्टोऽर्थः।। ९०।।[१]

त्वत्पादाब्जं सेव इत्याह–आद्येति। हे राजमौले चन्द्रशेखर! त्वत्प्रसादात् तवानुग्रहात् हृद्गता मानसं प्राप्ता आद्या आदौ भवा अनादिभूतेत्यर्थः, अविद्या अज्ञानं निर्गता मनसो निवृत्ता आसीत् अभूत्। हृद्या हृद् येति च्छेदः। या हरति हृदयग्रन्थिं नाशयतीति हृत् सा विद्या ज्ञानं विद्यते अस्ति। तस्मात् श्रीकरं संपत्करं मुक्तेर्भाजनं मोक्षस्य कारणं ते[२] तव पादाब्जं भावे मनसि नित्यं सेवे सदा-ध्यायामि।। ९१।।[३]

संसारादात्मनः समुद्धरणं प्रार्थयते–दूरीकृतानीति। हे गौरीश उमारमण! दुरक्षराणि ब्रह्मकृतदुर्लिपिसूचकानि सूच्यसूचकयोरभेद-विवक्षया तद्विशेषणत्वेन निर्देशः दुरितानि दोषेण प्राप्तानि दौर्भाग्य-दुःखदुरहङ्कृतिदुर्वचांसि दुःखदः भगः अधर्मो यस्य स दुर्भगः। तस्य भावः दौर्भाग्यं दुरदृष्टमिति यावत्। दुःखं सर्वप्रतिकूलतया वेद्यः अन्तःकरणवृत्तिविशेषः। दुरहङ्कृतिः दुष्टे देहादौ अहमित्यभिमान-करणं, दुर्वचः परुषोक्तिः एतानि त्वत्कटाक्षैः त्वदपाङ्गपातैः दूरीकृतानि दूरस्थानि कृतानि व्युदस्तानीति यावत् त्वदीयचरितं तव संबन्धि चरित्रमेव सारम् इतरचरित्रेभ्यो बलवत् तत् पिबन्तं शृण्वन्तं मामिह अस्मिन्नेव जन्मनि समुद्धर पुनरावृत्तिरहितं यथा तथा संसारसागरा-दुत्तारयेति भावः।। ९२।।[४]

---

१. स्वभावोक्तिः। 'स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।' छन्दः मालभारिणीयम्।
२. त्वत्पदाब्जमिति पाठान्तरं प्रसिद्धम्।
३. स्वभावोक्तिः शालिनी छन्दः।
४. हेत्वलङ्कारः। वसन्ततिलका छन्दः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनोरमणं प्रार्थयते—सोमकलाधरेति । मामकहृदयं मत्सम्बन्धि चेतः सोमकलाधरमौलौ धरतीति धरः सोमकलाया धरः सोमकलाधरः स मौलौ यस्य स तथोक्तः तस्मिन् कोमलघनकन्धरे कोमलः मृदुलः घनः नीरदः स इव कन्धरः ग्रीवा यस्य तथोक्ते । ग्रीवायाः कन्धरत्वेन घनसादृश्यम्, नैल्येन वा । स्वामिनि सर्वनियन्तरि गिरिजानाथे पार्वतीनाथे महामहसि महति महसि ज्योतिषां ज्योतिषि ब्रह्मणि निरन्तरं रमतां रतिं प्राप्नोतु ।। ९३ ।।[1]

रसनादीनां तदवयवविषयत्वेन साफल्यमाह—सेति । या रसना भर्गं परमशिववाचकं भर्गनाम वदति, ये नयने भर्गं शिवमीक्षेते पश्यतः, यौ करौ भर्गमर्चतः पूजयतः, यः भक्तः भर्गं स्मरति चिन्तयति, सदेति सर्वत्रान्वेति; सा रसना नान्येत्यर्थः, ते नयने नेत्रे नान्ये इत्यर्थः, तावेव करौ नान्यावित्यर्थः, स एव कृतकृत्यः प्राप्तकर्तव्यः नान्य इत्यर्थः । स्पष्टोऽर्थः ।। ९४ ।।[2]

अतिकठिनप्रदेशे संचारविचिकित्सां संत्यजेति प्रार्थयते—अतीति । हे शिव ! मङ्गलस्वरूप हे भवानीश भवान्याः पार्वत्याः ईश रमण भवानीपते ! मम चरणौ अतिमृदुलौ अतिमार्दवौ सन्तौ । ते तव भक्तस्य मनः अतिकठिनम् अतिकर्कशम् इति एवं प्रकारेण विचिकित्सां संशयं संत्यज निःशेषं परिहर । दोषः कथं सुपरिहर इति चेद् ? अभ्यस्त-कठिनप्रदेशसंचरणत्वात् तव न दोष इत्याह—तथाभूते कठिने गिरौ प्रवेशः संचरणं कथमासीत् अभूत् । भवान्या सह कठिनगिरौ संचरणाद्धेतोः कठिने मम मनसि संचरणं युक्तमेवेति भावः ।। ९५ ।।[3]

ईश्वर-चरणे स्वमनोबन्धं प्रार्थयते—धैर्याङ्कुशेनेति । हे पुरहर त्रिपुर-जयिन् ! त्वं हृदमदेभं मम हृदयमेव मदेभः मत्तगजः मदोऽस्यास्तीति मदः । अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । मदवत्त्वसामान्यात् हृदये मदेभत्वारोपः । तथा धैर्याङ्कुशेन धीरस्य भावो धैर्यं त्वयि स्थिरता-निश्चयरूपं तदेवाङ्कुशः तेन रभसात् वेगादाकृष्य स्वायत्तीकृत्य भक्ति-

१. रूपकसहितप्रार्थना । आर्या ।

२. अत्र यथासङ्ख्यालङ्कारः । आर्या ।

३. हेत्वलङ्कारः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शृङ्खलया भक्त्याख्यया शृङ्खलया अर्गलेन चरणालाने चरणमेवालानं गजबन्धनस्तम्भः तस्मिन् चिद्यन्त्रैः चितः ईश्वरमहिमविषयकज्ञानानि ता एव यन्त्राणि गजनियमनोपायाः तैः निभृतं निश्चलं यथा तथा बधान बन्धनं कुरु । रिपुपुरहृतो राज्ञः मत्तेभवशीकरणवत् तवेदं युक्तमेवेतिभावः ॥ ९६ ॥[1]

मनसः शाश्वतपदप्राप्तिं प्रार्थयते—प्रचरतीति । हे परम अपरिच्छिन्नस्वरूप ! मदवान् मदोऽस्यास्तीति मदवान् गरीयान् एषोऽयं मनःकरी चित्तगजः प्रगल्भवृत्त्या दुर्निवारव्यापारेण अभितः सर्वतः प्रचरति संचरति । तथा सञ्चरन्तममुं मनः करिणं भक्तिरज्ज्वा भक्तिरेव रज्जुः पाशः तया नयेन अनुनयेन अनुशासनेनेत्यर्थः । परिगृह्य स्वीयत्वेन गृहीत्वा स्थाणु स्थावरं पदं स्थानं ब्रह्मपदं दृढम् अपुनरावृत्तिर्यथा तथा नय प्रापय । सगुणोपासनस्यात्मनः निर्गुणभावपर्यवसायित्वाद् इह मनसः ब्रह्माकारताप्रार्थनं निर्विशेषफलकं ग्रन्थान्तरे समञ्जसमिति भावः ॥ ९७ ॥[1]

कन्यात्वेन भावितं कविताप्रबन्धं गौरीप्रियाय प्रयच्छति—सर्वेति । हे देव क्रीडासमर्थ ! गौरीप्रिय गौरी पार्वती प्रिया इष्टभार्या यस्य तथोक्त ! सर्वालङ्कारयुक्तां सर्वे उपमादयः अलङ्काराः तैर्युक्ताम् । अन्यत्र सर्वभूषणभूषिताम् । सरलपदयुतां सरलानि मृदूनि सुबोधार्थानि वा पदानि तैर्युताम् । अन्यत्र सरलं मन्दं पदं पदविन्यासः तेन युतां हंसगामिनीमिति यावत् । साधुवृत्तां साधु सलक्षणं वृत्तम् आर्यादिकं यस्याम् । अन्यत्र साधुषु कर्मसु वृत्तां प्रवर्तमानां, कर्तरि क्तः । सुवर्णां शोभनानि अपरुषाणि वर्णानि अकारादीनि यस्यां ताम् । अन्यत्र सुरूपाम् । सद्भिः काव्यलक्षणविद्भिः, अन्यत्र शरीरलक्षणविद्भिः संस्तूयमानां सम्यक् श्लाघ्यमानाम् । सरसगुणयुतां शृङ्गारादिरसमाधुर्यादिगुणयुताम् । अन्यत्र भर्तुः इष्यमाणगुणयुताम् । लक्षितां संजातलक्ष्यां प्रतिपाद्यवस्तुसहितामिति यावत् । अन्यत्र कन्यार्थिभिः लक्षितां वरणीयत्वेन निश्चितामित्यर्थः । लक्षणाढ्यां सर्वलक्षणसंपन्नाम् ।

---

१. रूपकानुप्राणितः हेत्वलङ्कारः ।
२. हेत्वलङ्कारः । मालभारिणीयं छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्यद्भूषाविशेषाम् उद्यन् प्रकाशमानः भूषाविशेषः अलंकारविशेषो यस्यां ताम्, अन्यत्र सुशीलतासंपन्नाम् । उपगतविनयाम् उपगतः ज्ञातः कविविनयः यस्यां ताम् । अन्यत्र परिप्राप्तविनयां, विनयः प्रह्वत्वं । द्योतमानार्थरेखाम् अर्थानां रेखा परम्परा द्योतमाना झटिति स्फुरन्ती अर्थरेखा यस्यां ताम् । अन्यत्र द्योतमाना अर्थरेखा भाग्यसूचकरेखा यस्यां तथोक्ताम् । कल्याणीं कल्यम् अर्थपुष्टिसहितं यथा तथा अणते भाषते बोधयतीति कल्याणी ताम् मम कविताकन्यकां साहित्यकन्यां त्वं गृह्यण प्रतिगृह्णीष्व[1] ॥ ९८ ॥

हरिब्रह्मणोरप्यगोचरस्त्वं मम कथं प्रसन्नो भविष्यसीति प्रार्थयन्नाह—इदमिति । हे परमशिव सकलदेवतासार्वभौम ! हे कारुण्यजलधे करुणासमुद्र तव ते पदशिरोदर्शनधिया पादमस्तकयोः दर्शनम् अवलोकनं तस्मिन् धीर्बुद्धिस्तया तिर्यग्रूपं पशुपक्षिस्वरूपं गतौ प्राप्तवन्तौ तौ प्रसिद्धौ हरिब्रह्माणौ हरिर्विष्णुश्च ब्रह्मा धाता च तौ दिवि आकाशे भुवि भूम्यां च चरन्तौ भ्रमन्तौ सन्तौ श्रमयुतौ श्रमेणाऽऽयासेन युतौ संयुक्तौ स्यातामित्यध्याहार्यम् । हरिब्रह्माणौ महादेवपादशिरोदर्शनासमर्थत्वात् दुःखिताविर्त्यथः । अतः शम्भो सुखप्रदायक ! स्वामिन् सर्वलोकप्रभो ! मम मे पुरतः अग्रे वेत्तुं योग्यो वेद्यः कथं केन प्रकारेण असि कथय वद । इत्ययमेतत् कार्यं ते तव युक्तं योग्यं वा । अनेन शिवस्य भक्तपराधीनत्वात् विष्णुब्रह्मणोरपि अदर्शितं स्वरूपं भक्तानां दर्शयतीति भावः ॥ ९९ ॥[2]

शिवे परब्रह्मणि सकलदेवतास्तोत्राऽर्हता तदधिकमाहात्म्यं च प्रतिपादयन्नाह—स्तोत्रेणेति । शम्भो शंसुखमस्माद् भवतीति शम्भुः तस्य संबुद्धिः । हे शंभो ! भवत्सेवकाः भवतः तव सेवकाः भक्ता विरिञ्चादयः 'विरिञ्चः कमलासनः' इत्यमरकोशाददन्तत्वम् । इदन्तत्वेन पाठस्तु सकलकोशकारसंमत एव, स आदिर्येषां ते देवाः त्रिषु लोकेषु ये प्रसिद्धाः ब्रह्मादित्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा इत्यर्थः; कर्तारः स्तुत्यानां स्तोतुं योग्याः स्तुत्याः तेषां गणनाप्रसङ्गसमये गणना संख्या तस्याः

१. स्रग्धरा छन्दः ।

२. अर्थापत्त्यलङ्कारः । 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तर-कल्पनमर्थापत्तिः' । शिखरिणी छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसङ्गः चर्चा तत्समये स्तोत्रार्हदेवताविचारणसमय इत्यर्थः । त्वामग्रगण्यं गणयितुं संख्यातुं योग्यो गण्यः अग्रे गणनाप्रारम्भे गण्यः त्वं, त्रिषु लोकेषु त्वमेव आदिमस्तोत्रार्हदेवतेति यावत् । तादृशं विदुः जानन्ति । किं च माहात्म्याग्रविचारणप्रकरणे माहात्म्यं महान्नात्मा बुद्धिर्येषां तेषां भावः तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तसामर्थ्यमिति भावः । तस्याग्रविचारणा प्राथमिकचर्चा तस्याः प्रकरणं प्रकर्षेण करणं क्रिया तस्मिन् धानातुषस्तोमवद्धूताः धानाः क्षुद्रव्रीहयः, 'असारवत्सु धान्येषु धानालाजेषु च स्त्रियामि'ति वैजयन्ती, तासां तुषाः त्वचः, 'धान्यत्वचि तुषः पुमानि'त्यमरः, तेषां स्तोमः समूहः तद्वत् धूताः पलायिताः सन्तः त्वामुत्तमोत्तमफलं सर्वोत्तमान्तःसारव्रीहिवद् विदुः जानन्ति । यथा खले धान्यशुभ्रीकरणे वाताहततुषाः दूरीभवन्ति तद्वत्त्वदन्यदेवता माहात्म्यविचारणकाले दूरीकृता इति फलितोऽर्थः । स्तोत्रेणालं स्तोत्रेण साध्यं नास्तीत्यर्थः । मृषा अनृतं न प्रवच्मि न वदामि । यत् मया स्तुतं तत् सत्यमिति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति च अन्यमताकाङ्क्षासाध्यं नास्तीति च वक्तुरभिप्रायस्य गम्यमानत्वात् सकललोकसंमतोऽयमर्थं इति राद्धान्तः[1] ।। १०० ।।

।। इति विद्वद्वरेण श्रीशिवभक्तेन रचिता शिवानन्दलहरीटीका सम्पूर्णा ।।

---

१. शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लोकसूची

	श्लोकसंख्या
अङ्कोलं निजबीज	६१
अतिमृदुलौ मम	९५
अमितमुदमृतं	६८
अरहसि रहसि	७०
अशनं गरलं	८७
असारे संसारे	१३
आकाशेन शिखी	५३
आकीर्णं नखराजि	४६
आद्यायामिततेजसे	५५
आद्याविद्या	९१
आनन्दामृतपूरिता	४९
आनन्दाश्रुभिरातनोति	६२
आम्नायाम्बुधिम्	३७
आरूढभक्तिगुण	७१
आशापाशक्लेश	७४
इदं ते युक्तं वा	९९
उपेक्षा नो चेत्	१५
एको वारिजबांधव:	५८
एष्यत्येष जनिं	८०
कंचित्कालमुमामहेश	८१
कदा वा कैलासे	२४
कदा वा त्वां दृष्ट्वा	२६
करलग्नमृग: करीन्द्र	४४
करस्थे हेमाद्रौ	२७
करोमि त्वत्पूजां	२३
कलाभ्यां चूडालङ्कृत	१
कल्याणिनं सरस	७५

	श्लोकसंख्या
कारुण्यामृतवर्षिणं	५२
किं ब्रूमस्तव साहसं	३४
क्रीडार्थं सृजसि	६६
गभीरे कासारे	९
गलन्ती शम्भो	२
गाम्भीर्यं परिखापदं	४२
गुहायां गेहे वा	१२
घटो वा मृत्पिण्डो	६
छन्द:शखिशिखा	४५
जडता पशुता	६९
जननमृतियुतानां	८३
जलधिमथन दक्ष:	८५
ज्वालोग्र: सकला	३२
त्रयीवेद्यं हृद्य	३
त्वत्पादाम्बुजम्	२९
त्वमेको लोकानां	१८
दुराशाभूयिष्ठे	१९
दूरीकृतानि दुरितानि	९२
धर्मो मे चतुरंघ्रिक:	३९
धीयन्त्रेण वचोघटेन	४०
धृतिस्तम्भाधारां	२१
धैर्याङ्कुशेन निभृतं	९६
ध्यानाञ्जनेन समवेक्ष्य	७२
नतिभिर्नुतिभि:	८९
नरत्वं देवत्वं	१०
नालं वा परमोप	३१
नालं वा सकृदेव	३३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या		श्लोकसंख्या
नित्यं योगिमनः	७९	यदा कृताम्भोनिधि	८८
नित्यं स्वोदरपूरणाय	५७	योगक्षेमधुरन्धरस्य	३५
नित्यानन्दरसालयं	४८	रोधस्तोयहृतः	६०
नित्याय त्रिगुणात्मने	५६	वक्षस्ताडनमन्तकस्य	६४
पापोत्पातविमोचनाय	४१	वक्षस्ताडनशङ्कया	६५
पूजाद्रव्यसमृद्धयः	८६	वचसा चरितं	९०
प्रचरत्यभितः प्रगल्भ	९७	वस्त्रोद्धूतविधौ	३०
प्रभुस्त्वं दीनानां	१४	विरिञ्चिर्दीर्घायुः	१६
प्रलोभाद्यैरर्थां	२२	शम्भुध्यानवसन्त	४७
प्राक्पुण्याचलमार्ग	३८	शिव तव परिचर्या	८४
फलाद्वा पुण्यानां	१७	सदा मोहाटव्यां	२०
बटुर्वा गेही वा	११	सदुपचारविधिषु	७८
बहुविधपरितोष	६७	सन्ध्या घर्मदिना	५४
बाणत्वं वृषभत्वम्	८२	सन्ध्यारम्भविजृ	५०
बुद्धिः स्थिरा भवितुम्	७७	सर्वालङ्कारयुक्तां	९८
भक्तिर्महेशपद	७६	सहस्रं वर्तन्ते	४
भक्तो भक्तिगुणा	३६	सा रसना ते	९४
भूदारतामुदवहद्	७३	सारूप्यं तव पूजने	२८
भृङ्गीच्छानटनोत्कटः	५१	सोमकलाधरमौली	९३
मनस्ते पादाब्जे	७	स्तवैर्ब्रह्मादीनां	२५
मा गच्छ त्वम्	४३	स्तोत्रेणालमहं	१००
मार्गावर्तितपादुका	६३	स्मृतौ शास्त्रे वैद्ये	५
यथा बुद्धिः शुक्तौ	८	हंसः पद्मवनं	५९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi